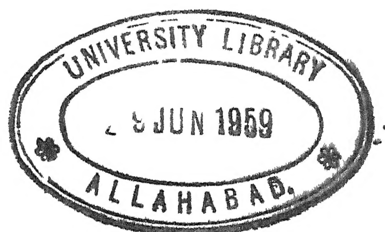
इंग्लैंड का राजदर्शन

(१८४८ से १९१४ तक)

•

सर अर्नेस्ट बार्कर





कि ता ब म ह ल,

इलाहाबाद, बम्बई, दिल्ली

१९५८

अंग्रेजी संस्करण

सन् १९१५ में सर्वप्रथम प्रकाशित तथा सन् १९१८, १९२०, १९२२, १९२४, १९२६, १९२७ में पुनर्मुद्रित। द्वितीय संस्करण १९२८; पुनर्मुद्रित १९३०, १९३२, १९४०, १९४२ तथा १९४५। सन् १९४७ में संशोधन सहित प्रकाशित तथा १९५० में पुनर्मुद्रित।

प्रथम हिन्दी संस्करण, १९५८

ज्योफ्रे म्बरलीज, आक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन द्वारा प्रकाशित सर अर्नेस्ट बार्कर की प्रसिद्ध पुस्तक Political Thought in England, 1848 to 1914, का श्री महेन्द्र प्रकाश अग्रवाल, एम० ए० द्वारा किया गया हिन्दी रूपान्तर।

प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद
मुद्रक—हिन्दी प्रेस, इलाहाबाद

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक सर अर्नेस्ट बार्कर की प्रसिद्ध पुस्तक 'पॉलिटिकल थॉट इन इंग्लैंड, १८४८ टु १६१४' का हिन्दी रूपांतर है। जिन लोगों ने मूल पुस्तक को पढ़ा है वे इस बात से सहमत होंगे कि अनुवादक का कार्य सरल नहीं था। अंग्रेज़ी भाषा के पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी पर्यायवाची शब्दों की कोई सर्वसम्मत सूची नहीं है, इस कारण प्रत्येक लेखक जो शब्द उचित समझता है वही प्रयुक्त कर देता है। कुछ ऐसे शब्द भी प्रचलित हो गये हैं जो भाव अथवा अर्थ की दृष्टि से ठीक नहीं कहे जा सकते। अधिकांशतः इस पुस्तक में ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। परन्तु राजदर्शन-सम्बन्धी हिन्दी पुस्तकों में अधिकाधिक प्रयुक्त किये जानेवाले कुछेक शब्दों को उनके बिल्कुल ठीक न होने पर भी उनके अत्यधिक प्रचलित हो जाने के कारण ही स्वीकार करना पड़ा है। अंग्रेज़ी शब्द 'आइडियलिज़्म' (Idealism) के लिए इस पुस्तक में प्रयुक्त शब्द 'आदर्शवाद' एक ऐसा ही शब्द है। पाठकों, विशेषतः विद्यार्थियों, को कठिनाई से बचाने के लिए ही ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है।

अनुवाद-कार्य में मुझे कुछ लोगों से अत्यन्त महत्वपूर्ण सहायता मिली है। प्रयाग विश्वविद्यालय के राजनीति विभाग के प्राध्यापक श्री अंबा दत्त जी पंत तथा श्री मोहनलाल जी ने समय-समय पर मुझे अपने बहुमूल्य परामर्श से लाभ उठाने का अवसर देकर, उपकृत किया है। उनके प्रति मैं अत्यन्त आभारी हूँ। मेरे मित्र श्री शंकरलाल अग्रवाल ने अनुवाद-कार्य में पग-पग पर मेरी सहायता की है। वस्तुतः उनके सहयोग के बिना यह कार्य कभी पूरा भी हो पाता यह संदिग्ध है। इसके लिए मैं उनका सदैव कृतज्ञ रहूँगा।

—अनुवादक

चतुर्दश संस्करण की प्रस्तावना

अंत के कुछ पृष्ठों में थोड़े से परिवर्तनों के साथ यह पुस्तक का मौलिक रूप, जैसा कि वह १९१४–१८ के युद्ध के प्रारम्भिक काल में प्रकाशित हुआ था, का ही एक पुनर्मुद्रित संस्करण है। पुस्तक को सम-सामयिक बनाने या लेखक के उस काल के, जब राजनीति आंतरिक राजनीति होती थी तथा शान्ति जीवन का स्वाभाविक रूप प्रतीत होती थी और जो आज के युग से नितान्त भिन्न दिखाई देता था, निष्कर्षों में परिवर्तन करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। इस पुस्तक के लिखे जाने के समय से एक तीस वर्षीय युद्ध के कारण, जिसके १० वर्ष खुले युद्ध में बीते और २० वर्ष शीत-युद्ध में, आकाश में काले बादल मँडराने लगे। फिर भी यदि यह पुस्तक और इसका लेखक जीवित रहे तो कभी न कभी संशोधन की आवश्यकता तो पड़ेगी ही। परन्तु संशोधन-कार्य तब तक स्थगित करना पड़ेगा जब तक हम किसी ऐसी स्थिति में न पहुँच जायँ जहाँ से उस अंधकार की पृष्ठभूमि में जिससे हम गुजर चुके हैं, अतीत पर दृष्टिपात किया जा सके और उस तूफान के पूर्व-काल की विचारधारा का यथार्थ महत्व समझा जा सके।

फिर भी तब तक इंग्लैंड के राजदर्शन के उस काल का अभिलेख (इस काल के अंत में संग्रहीत किये गये तथा उसके प्रचलित विचारों तथा शब्दों में व्यक्त) जो सन् १८४८ से १९१४ तक रहा, कुछ महत्व का हो सकता है। जब यह तूफान आया उस समय हम क्या सोचते थे, यह याद रखना एक रोचक बात है; और इस काल का दृष्टिकोण जो इसके ठीक अन्त में लिया गया है, उस दृष्टिकोण से जो *sub specie hodierni diei* लिया जाय भिन्न हो सकता है—संभवतः कुछ ऐतिहासिक महत्व का है। कुछ भी हो पाठक, जिसे लेखक से जब उसने यह पुस्तक लिखी थी पूरी एक पीढ़ी का अधिक अनुभव प्राप्त है, यह निर्णय कर सकेगा कि लेखक ने इस तीस वर्षीय युद्ध के आरम्भ-काल में इंग्लैंड के राज-दर्शन में प्रचलित प्रवृत्तियों तथा उसकी भावी संभावनाओं के विषय में कितनी विवेकपूर्ण बातें कही हैं और कहाँ तक बिना सोचे समझे लिखा है।

१७, क्रैम्बर रोड,
कैम्ब्रिज
अप्रैल, १९०६

अर्नेस्ट बार्कर

विषय-सूची

अध्याय १

परिचय

अठारह सौ अड़तालीस उन्नीसवीं शताब्दी का आश्चर्यजनक घटनाओं से पूर्ण वर्ष था। एक पूरा महाद्वीप नवीन राष्ट्रीयताओं और नव संविधानों के जन्म का कष्ट अनुभव कर रहा था। यद्यपि इंग्लैंड में वह घटनापूर्ण वर्ष तुलनात्मक दृष्टि से अधिक शांतिपूर्ण रहा, तो भी वह उत्तेजनापूर्ण तो था ही। लन्दन में 'राष्ट्रीय कर्मशालाओं' (National Workshops) की स्थापना नहीं हुई और अंग्रेज़ श्रमिकों ने 'काम के अधिकार' का कोई दावा नहीं किया; परंतु इसी वर्ष मिल की पुस्तक 'प्रिंसिपिल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी' प्रकाश में आई और व्यक्तिवाद के पैगम्बर को उत्पादन और वितरण के नियमों में भेद निर्धारित करते हुए पाया गया जिसने समाजवाद के प्रवेश के लिए द्वार खोल दिया। चार्टिस्ट आंदोलन का निष्फल अंत अवश्य हुआ, परंतु क्रिश्चियन समाजवादियों ने एक सहकारी आंदोलन की नींव रखने का प्रयास किया और सन् १८५० में किंग्सले ने अपनी पुस्तक 'एल्टन लॉक' (Alton Locke) प्रकाशित की। अंग्रेजी कला के क्षेत्र में एक नवीन सम्प्रदाय प्रकाश में आया। जहाँ इस समय थैकरे अपनी पुस्तक 'वेनिटी फ़ेयर (Vanity Fair) समाप्त कर रहा था, और मैकॉले अपनी 'हिस्ट्री ऑफ़ इंग्लैंड' के प्रथम दो भाग प्रकाशित कर रहा था, वहाँ हॉल्मन हंट, रोज़ेटी और मिलाइस के द्वारा एक भ्रातृमंडल का निर्माण किया जा रहा था और इसी समय कला के क्षेत्र में रैफ़ेलपूर्व आन्दोलन (pre-Raphelite Movement) का जन्म हो रहा था। दस वर्ष बाद सन् १८५८ में प्राकृतिक चयन के सिद्धांत की घोषणा की गई और जनसाधारण के मस्तिष्क में पहले से ही उठने वाले विचारों के उफान में सशक्त ख़मीर मिला दिया गया।

मनुष्य तथ्यों की अधिक वैज्ञानिक व्याख्या तथा सामाजिक जीवन के दोषों के उपचार के एक अधिक वैज्ञानिक प्रयत्न की आवश्यकता अनुभव करने लगे। पिछले कुछ दशकों में संसार ने दो क्रांतियाँ देखीं थीं—सन् १७८९ में फ्रांस में प्रारंभ होनेवाली राजनीतिक क्रांति तथा सन् १७६० में इंग्लैंड में आरंभ होने वाली औद्योगिक क्रांति। इनमें से एक के परिणामों का संचयन अभी भी शेष था तथा दूसरी के अदृष्ट परिणामों का अभी भी सामना जाना था। एक ओर चार्टिस्टों की राजनीतिक माँगों का कोई उचित उत्तर देना आवश्यक हो गया और राजनीतिज्ञों को यह निश्चय करना पड़ा कि किन उपायो से सामान्य इच्छा (Volunte' generale) की संप्रभुता के फ्रांसीसी सिद्धांत को इंग्लैंड की संसदीय व्यवस्था तथा निर्वाचन-यंत्र में संयोजित किया जाय। दूसरी ओर 'इंग्लैंड की दशा' (Condition of England) की भारी समस्या, जो प्रथम समस्या से भी अधिक कठोर और दुःसाध्य थी, अस्पष्ट रूप में सामने आई। अपनी प्रतिभाशालिनी दृष्टि से डिज़राइली ने इस समस्या को पहले ही अनुभव कर लिया था और अपनी पुस्तक 'सिबिल' में उसका वर्णन भी कर दिया था एवं शैफ्ट्सबरी ने एक मानवप्रेमी जैसी उदारता के साथ उसको हल करने के लिए प्रयत्न करना भी आरंभ कर दिया था। इस समस्या की अंशतः एक उलझन के रूप में और अंशतः व मुख्यतः उसे एक सहायता तथा हल करने के मार्ग के रूप में श्रमिक संघों की एक नवीन शक्ति प्रकाश में आई थी जो कि अब लगभग बीस वर्ष या कुछ अधिक समय से फ्रांसिस प्लेस के प्रयत्नों के द्वारा 'संवास विधियों' (Combination Laws) के बन्धनों से मुक्त हो चुकी थी। इसी काल में अंग्रेजी चर्च में सन् १८३३ से, ऑक्सफ़ोर्ड आन्दोलन के प्रभाव के अधीन, अपने सामूहिक जीवन के प्रति एक नवीन भाव जाग्रत हो गया था; और अपने संगठन के, अपने सदस्यों के प्रति कर्तव्यों के बारे में सचेत अनुरक्त धर्माधिकारी उन सामाजिक कार्यों की ओर ध्यान देने लगे थे जो कि इंग्लैंड में सदैव से ही 'हाई चर्च' दल के कार्य की विशेषता रहे हैं।

वह सर्वसम्मत सामयिक विचारधारा जिसे इन नई समस्याओं और प्रवृत्तियों का सामना करना पड़ा, एडम स्मिथ तथा जेरेमी बेन्थम के द्वारा प्रतिपादित

विचारधारा थी। एक ऐसे समय पर निर्धारित जब 'योरोपीय नीति' (Policy of Europe) व्यापार की धाराओं को बाधित कर रही थी और जब कि सामंतवादी व्यवस्था के अवशेष विधियों पर भार बने थे तथा योरोपीय शासनों को 'कुटिल हितों' से पूर्ण किये हुए थे, यह विचारधारा वैयक्तिक क्रियात्मकता के स्वतंत्र कार्यकरण को रोकने वाली प्रत्येक वस्तु के लिए नाशक द्रव का कार्य करती रही थी। परतु समय बदल गया था और समय के साथ यह विचारधारा भी बदल गई थी। इसने आर्थिक और राजनीतिक स्वतंत्रता के नाम पर शासनिक हस्तक्षेप की निंदा की थी और इसने शासनिक हस्तक्षेप की निंदा उस समय भी जारी रखी थी जब इस निंदा से केवल समाज का उत्पीड़न करने वालों का ही हित हो सकता था। उत्पादक और व्यापारी की स्वतंत्रता तथा श्रमिक की स्वतंत्रता आवश्यक रूप से एक बात नहीं थीं। अधिकांशतः यथार्थ में इसका बिल्कुल उल्टा ही होता था; और सामाजिक प्रगति को एक सामाजिक विचारधारा के द्वारा बाधित होने से रोकने के लिए यदि मानवीय क्रिया के एक पूर्णतः नवीन दर्शन की नहीं तो कम से कम पूर्व दर्शन के संशोधन की अत्यंत आवश्यकता तो थी ही। कुछ संशोधन, जो अंशतः जानबूझकर प्रस्तुत किया गया था और अंशतः अनजाने में, उन्नीसवीं शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ विचारकों तथा सर्वाधिक उदार स्वभाव वाले व्यक्तियों में से एक, जान स्टुअर्ट मिल, की रचनाओं में देखने में आया। अपने निबंध 'ऑन लिबर्टी' में उसने स्वतंत्रता की धारणा की एक अधिक गम्भीर तथा अपेक्षाकृत अधिक आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की। स्वतंत्रता की इस धारणा से ऊपर उठकर कि वह प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा अपने भौतिक हित की खोज और उसकी प्राप्ति के प्रयत्न के लिए आवश्यक क्रिया की वाह्य स्वतंत्रता है, मिल स्वतंत्रता की इस धारणा पर पहुँचता है कि वह समृद्ध, संतुलित और विकसित समाज के लिए अनन्य रूप से आवश्यक आध्यात्मिक मौलिकता का स्वतंत्र कार्यकरण है जिसका परिणाम वैयक्तिक शक्ति और बहुरूपी विभिन्नता होता है। इसी प्रकार उसने अपने निबंध 'ऑन रिप्रेजेंटेटिव गवर्नमेंट' में बेन्थम के द्वारा जनतंत्र के समर्थन में दिये गये तर्कों को एक आध्यात्मिक रूप दिया। लोक-स्वशासन को जनता की उच्च वर्गों के 'कुटिल हितों' की कीमत पर

अपने स्वार्थी हित साधन करने की स्वतंत्रता मानने के बजाय उसने प्रातिनिधिक संस्थाओं को व्यक्ति के मस्तिष्क तथा चरित्र की शक्ति की वह आवश्यक दशा माना जिसका कि सब प्रकार से विकास किया जाना आवश्यक है और जो कि इस प्रकार तभी विकसित हो सकती है जब व्यक्ति के विचारों और इच्छाओं का क्षेत्र इतना बढ़ा दिया जाय कि वह सम्पूर्ण समाज के व्यापारो को घेर ले। उसके दर्शन मे श्रमिक संघों के लिए—जो कि स्वतन्त्रता के लिए अवसर देने वाले इच्छाजात संवासों का एक रूप हैं—स्थान प्राप्त हुआ; यहाँ तक कि उसने वितरण के नियमो पर सामाजिक नियमन की संभावना को भी स्वीकार किया। परंतु इतनी छूट दे देने पर भी यह बात सत्य बनी रहती है कि मिल एक थोथी स्वतंत्रता और एक काल्पनिक व्यक्ति का पैग़म्बर ही था। उसके पास अधिकारो का कोई स्पष्ट दर्शन, जिसके द्वारा ही अनन्य रूप से स्वतंत्रता की धारणा को कोई यथार्थ अर्थ प्राप्त होता है, नहीं था। उसे समाज के उस पूर्ण स्वरूप की कोई स्पष्ट कल्पना नहीं थी जिसका ज्ञान प्राप्त कर नेले से "राज्य" और व्यक्ति" के बीच का मिथ्या विरोधाभास लुप्त हो जाता है।

आवश्यकता एक नवीन दर्शन की थी, न कि बेन्थम के पुराने आधार-तत्त्वो के संशोधन की; और वह दर्शन आदर्शवादी सम्प्रदाय ने प्रस्तुत किया जिसका ग्रीन महानतम् प्रतिनिधि है। इस सम्प्रदाय ने कॉट और हीगल से और अंतिम रूप में यूनानी नगर-राज्यों के दर्शन से प्रेरणा ग्रहण की। व्यक्ति तथा समुदाय के जीवन का महत्त्वपूर्ण सम्बध जिसके द्वारा ही व्यक्ति को, क्योंकि यही उसे पूर्ण नैतिक विकास की शक्ति प्रदान करता है, महत्त्व प्राप्त होता है; व्यक्ति की समुदाय की सदस्यता पर अपने समस्त अधिकारो और अपनी समस्त स्वतंत्रताओ के लिए आश्रयता; तथा समुदाय का व्यक्ति के सम्पूर्ण अधिकारों (दूसरे शब्दों में उसके, और अंततः अपने, पूर्ण नैतिक विकास के लिए आवश्यक दशाओं) की प्रत्याभूति करने का सहसम्बंधित कर्त्तव्य—ये नवीन दर्शन के आधारतत्त्व थे। यह दर्शन सामाजिक प्रगति की नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता था क्योंकि यह एक ऐसी काल्पनिक वैयक्तिक स्वतन्त्रता की, जो कि बहुसंख्यक भाग की वास्तविक स्वतंत्रता की नाशक सिद्ध हो रही थी, साधना करने से इन्कार करत था और सम्पूर्ण समुदाय की नैतिक भलाई

और उन्नति को प्राथमिकता देता था, तथा सदस्यों के द्वारा अपनी भलाई और उन्नति को समुदाय के माध्यम से प्राप्त करने में विश्वास रखता था। यह विचारों की क्रांति थी, अथवा क्रांति प्रतीत होती थी। एक ऐसे केन्द्रस्थ व्यक्ति से जिसके लिए समस्त सामाजिक व्यवस्था समायोजित की जाय, अपना दर्शन आरम्भ करने के बजाय आदर्शवादी एक ऐसी केन्द्रीय सामाजिक व्यवस्था से आरंभ करता है जिसमें व्यक्ति को अपना निश्चित कर्त्तव्यक्षेत्र ढूँढ निकालना आवश्यक है। परन्तु यह क्रांति एक पुनर्प्रतिष्ठा मात्र है और जिस वस्तु की पुर्नप्रतिष्ठा की गई है वह प्लेटो की 'रिपब्लिक' है।

राजदर्शन अपने आप ही अथवा अपनी नवीन राजनीतिक धारणाओं की प्राप्तियों या पुरानी धारणाओं के पुनर्लेखन से ही प्रगति नहीं करता है; यह अन्य विषयों के अध्ययन से उपलब्ध एवं अनुदायों के द्वारा भी प्रगति करता है जो इसकी पद्धति के मार्गदर्शन के लिये दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं अथवा इसके क्षेत्र में वृद्धि करते हैं। राजदर्शन अपने आप में तथा अन्य अध्ययनों से पृथक् रूप में जरूरी तौर पर एक आचारिक (ethical) अध्ययन है, जो राज्य को एक नैतिक समाज मानता है और उन उपायों पर विचार करता है जिनके द्वारा वह अपना चरम नैतिक उद्देश्य प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यह मान कर कि समस्त मानवीय संस्थानों का तथा एतदर्थ राज्य का जो कि इन में से महानतम संस्थानों में है, एक नैतिक आदर्श होता है, राजदर्शन राज्य की आचार-शास्त्र की दृष्टि से व्याख्या करता है तथा उसका मनुष्य के नैतिक गठन और विकास से सम्बन्ध निर्धारित करने का प्रयत्न करता है। परन्तु अन्य अध्ययन इसकी पद्धति को प्रभावित कर सकते हैं अथवा इसके क्षेत्र को विस्तृत कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, गणित 'सामाजिक विज्ञान' के लिये एक ऐसी पद्धति सुझा सकता है जिस प्रकार कि उसने कॉम्टे को सुझाया था, जो कि उसे नियमों के बारे में उतना ही सचेत बना दे तथा भविष्यवाणी करने में उतना ही समर्थ बना दे' जितना कि कोई भौतिक विज्ञान होता है। इतिहास एक ऐतिहासिक पद्धति सुझा सकता है जो कि अन्वेषण को सामाजिक संस्थानों की उत्पत्ति की ओर प्रवृत्त कर देगा और जो कि उनके जीवन और कार्यों के बारे में अभिलिखित तथ्यों से उनके अस्तित्व के कारण की व्याख्या करने का

प्रयत्न करेगा। उन अध्ययनों का और भी अधिक महत्व है जो कि सामाजिक दर्शन की विषय वस्तु को बढ़ाते हैं। ये अध्ययन आवश्यक रूप से मनुष्य के, और विशेष रूप से मनुष्य के किसी सामाजिक पक्ष के जिसमें वह अपने साथियों से सम्बन्धित होता है, अध्ययन हैं। गत साठ वर्षों में ऐसे दो अध्ययनों ने जो कि, कम से कम अपनी उत्पत्ति में, अंग्रेजी विशेषता लिये हुये हैं, इंग्लैंड में राजदर्शन को प्रभावित किया है। ये अध्ययन जीव-विज्ञान और राजनीतिक अर्थशास्त्र (Political Economy) हैं। एक तीसरे अध्ययन ने भी, जिसका कि मुख्य प्रेरणा स्रोत जर्मनी है, परन्तु जिसमें स्वदेशी तत्वों को भी पाया जा सकता है, इंग्लैंड के राजदर्शन को प्रभावित किया है। यह न्याय शास्त्र (Jurisprudence) का अध्ययन है। मनोविज्ञान, विशेष रूप से उसका सामाजिक पक्ष, एक और अध्ययन है जिसे कि प्रथम फ्रांस में, तत्पश्चात् अमेरिका में, और पिछले वर्षों में इग्लैंड में भी, सामाजिक क्रियाओं के स्पष्टीकरण और निर्वचन के लिये अधिकाधिक प्रयुक्त किया गया है। अंततः ऐतिहासिक अध्ययनों ने, चाहे वह, जैसा कि इतिहास लेखकों के द्वारा किया गया है, सभ्यता के विकास की ओर निर्देशित रहे हों और चाहे वह, जैसा कि नृवंश शास्त्री (anthropologists) प्रायः करते हैं, सभ्यता के पूर्व के समयों और स्थानों की ओर मोड़ दिये गये हों, न केवल एक नवीन पद्धति सुझाई है, वरन् सामाजिक दर्शन के अध्ययन के लिए नवीन सामग्री उपलब्ध की है। जीव-विज्ञान, राजनीतिक अर्थशास्त्र, न्यायशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास ये सभी वे अध्ययन हैं जिनकी क्षेत्र यद्यपि मुख्य सामाजिक दर्शन से भिन्न है, परन्तु जिनका विषय-वस्तु सामाजिक दर्शन की विशिष्ट विषय-वस्तु से सम्बन्धित है तथा उसे प्रभावित करती है। मनुष्य का नैतिक स्वभाव किसी वायुशून्य स्थान में बन्द नहीं है; उसका भौतिक ढाँचे और आर्थिक प्रेरणा, वैधानिक व्यवस्था, सामाजिक प्रवृत्ति, ऐतिहासिक या प्रागैतिहासिक संस्थानों से घनिष्ठ और सावयवी सम्बन्ध है। ऐसे सम्बन्धों पर सामाजिक दर्शन के द्वारा विचार किया जाना आवश्यक है। जिस बात को य स्वीकार नहीं कर सकता वह यह है कि ऐसा कोई अध्ययन जो इन दूसरे विषयों पर विचार करता है अनन्य रूप से या प्राथमिक रूप से ही समाज के कारण और उसके महत्व को स्पष्ट कर सकता है। वे चरम

नैतिक तत्व पर विशेष प्रकाश डाल सकते हैं परन्तु अपने आप में वे आवश्यक रूप से एकपक्षीय हैं और इसी कारण गलत दिशा दिखाने वाले मार्गदर्शक हैं। वे हमें राज्य का मनुष्य की नैतिक इच्छा के परिणाम और अंग के रूप में अध्ययन करने के प्राथमिक कर्त्तव्य से मुक्त नहीं कर सकते।

यह स्वाभाविक ही था कि इंग्लैंड का सर्वाधिक विशिष्ट अध्ययन, राजनीतिक अर्थशास्त्र (Political Economy) जो कि राजनीतिक चिन्तन से सर्वाधिक घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है उसे सर्वाधिक गहन रूप से प्रभावित करती। ऐसा प्रभाव दो विरोधी दशाओं में कार्यशील रहा है। एक ओर एडम स्मिथ और रिकार्डो का शास्त्रीय राजनीतिक-अर्थशास्त्र यद्भाव्यं नीति को एक राजनोतिक मताग्रह (dogma) का रूप देने के लिए प्रयत्नशील रहा है। दूसरी ओर राजनीतिक अर्थशास्त्र की नवीनतम व्याख्याओं ने मुख्यत: जिनका स्रोत जर्मनी रहा है—चाहे वह लिस्ट (List) का राष्ट्रीय संरक्षणवाद हो और चाहे मार्क्स का अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद—राज्य के निरन्तर अधिकाधिक हस्तक्षेप का मार्ग प्रशस्त किया है। जीव-विज्ञान के बारे में भी यह बात बहुत सही प्रतीत होगी। यह एक ऐसा अध्ययन है जिसे अंग्रेज विचारकों ने बहुत समृद्ध बनाया है; यह एक ऐसा अध्ययन है जो चाहे तो उन सादृश्यों के द्वारा जो इसने उपलब्ध किये हैं—यथा, भौतिक सावयव का सादृश्य अथवा उन नवीन तथ्यों के द्वारा जो यह प्रस्तुत करता है—यथा जीवन के लिये संघर्ष तथा योग्यतम के ही जीवित रहने का तथ्य, यह राजनीतिक चिन्तन पर पर्याप्त प्रभाव डालता है। राजनीतिक-अर्थशास्त्र के समान ही इसका प्रभाव भी दो विरोधी दशाओं में कार्यशील रहा है। एक ओर हर्बर्ट स्पेन्सर ने एक सामाजिक सावयव की धारणा रखते हुए भी बहुत कुछ असंगत रूप में उस धारणा को 'व्यक्ति बनाम राज्य' के विरोध में विलय कर दिया और व्यक्ति के लिए अधिकतम स्वतंत्रता का दावा किया। दूसरी ओर बाद के जीवशास्त्री गुणों और दोषों के आनुवंशिक संचरण (hereditary transmission) की धारणा से प्रभावित होकर प्राकृतिक चयन में राज्य की सहायता प्राप्त करने, तथा नरोत्पत्ति शास्त्र (Eugenics) को उसी प्रकार राज्य राजनीतिक नियंत्रण के अधीन लाने को तत्पर प्रतीत होते है जिस प्रकार समाजवादी अर्थशास्त्र को।

न्यायशास्त्र और राजदर्शन (Political Theory) का सम्बंध घनिष्ट और स्पष्ट है। यदि एक को विषय-वस्तु न्याय है और दूसरे की नैतिकता—यदि एक उन वाह्य नियमों पर प्रकाश डालता है जो एक व्यवस्थित समुदाय में कायकलापों का निर्देशन करते हैं, तो दूसरा उन विचारों पर जो उन नियमों की पृष्ठभूमि में होते हैं और उस आदर्श पर जो व्यवस्था का आधार होता है—तो दोनों ही समुदायों में रहने वाले मनुष्यों के पारस्परिक सम्बंधों पर विचार करते हैं। सचमुच कई शताब्दियों तक जहाँ सामाजिक अनुबंध का सिद्धान्त विद्यालयों में छाया रहा, राजदर्शन पर न्यायशास्त्र की धारणाएँ तथा पदावली छाई रही। और न सन् १८४८ से इंग्लैंड में यह पुराना नाता पूरी तरह टूट ही गया है। मेन ने सेवाइनी की विधि की एक अनवरत् ऐतिहासिक विकास की धारणा को जनप्रिय बनाया और इस धारणा को प्राचीन प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को नष्ट करने के लिए प्रयुक्त किया; और अंततः उसकी ऐतिहासिक भावना ने उसे उस अनुदार प्रकृति की ओर अग्रसर किया जिसने सेवाइनी से जर्मन विधि के संहिताकरण की योजना का विरोध कराया था और जिसके प्रभाव में स्वयं मेन ने अपनी 'पापुलर गवर्नमेंट' में प्रजातंत्र के प्रति उदासीन तथा आलोचनापूर्ण दृष्टिकोण अपनाया था। सचमुच विधि हममें से बहुतों को हर समय एक अनुदार प्रभाव प्रतीत हो सकती है; फिर भी यह विधि ही थी जिसने सामाजिक अनुबंध के अतिवादी सिद्धांत को जन्म दिया और यह मेटलैण्ड द्वारा निर्वचित विधि ही है जिसने पिछले अनेक वर्षों से राजदर्शन के अन्तर्विषय में नवीन और अतिवादी विचारों को सम्मिलित किया है। गियरके (Gierke) का अनुसरण करते हुए मेटलैण्ड ने राज्य के अन्तर्गत आने वाले संसृष्ट (corporate) निकायों के वास्तविक व्यक्तित्व, स्वाभाविक उद्भव तथा जन्मजात अधिकारों का समर्थन किया है; और इस प्रकार उसने श्रमिक संघों, गिरजों और अन्य ऐसे संगठित निकायों के, जो राज्य की व्यवस्था के अन्दर रहते हैं, दावों के अनुकूल विचार-रेखाओं को सुझाया है। इसी काल में डाइसी (Dicey) ने, जिसने हमारे लिए हमारे संविधान के वैधानिक अर्थ की व्याख्या की है और उन विचारधाराओं की खोज की है जिन्होंने हमारी हाल की विधियों की दिशा

निर्धारित करने में सहायता की है, एक अधिक विशिष्ट अंग्रेजी परम्परा का प्रतिनिधित्व किया है।

यदि विधि प्रातीतिक मस्तिष्क का अध्ययन है—उस मस्तिष्क का जो साकार है और वाह्य नियमों और स्वीकृतियों में मूर्तिमान है—तो मनोविज्ञान मस्तिष्क की उन आन्तरिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करने की चेष्टा करता है जो विधि तथा समस्त सामाजिक व्यवहार की पृष्ठभूमि होती हैं। इन प्रक्रियाओं का 'अनुकरण' और 'सामाजिक तर्कशास्त्र' शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन विशेष रूप से टार्डे जैसे फ्रांसीसी विचारकों ने किया है। और उनकी पद्धति और विचार के कुछ तत्त्व मैकडूगल (Mcdougall) और ग्राहम वालाज़ (Graham Wallas) सरीखे समाजशास्त्रियों ने, जो सामाजिक घटनाओं का मूल मनोविज्ञान में खोज निकालने का प्रयत्न करते हैं, अपनाए हैं। इस पद्धति का दोष उस प्रकृति में निहित है जिसे यह बढ़ावा देती है; जो सामाजिक घटनाओं के गंभीर विश्लेषण को (और यही मनोविज्ञान का पूर्ण विषय है) एक बिल्कुल दूसरे प्रकार की वस्तु के समरूप मान लेती है। यह वस्तु है इन घटनाओं के कारण और हेतु की व्याख्या। सामाजिक प्रवृत्तियों की उन प्रक्रियाओं का विश्लेषण करना जो एक समान नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संगठित समाज की धुँधली पृष्ठभूमि में छिपी रहती है तथा ऐसे किसी समाज की वास्तविक प्रकृति और उसके वास्तविक कारण की व्याख्या करना एक बात नहीं है। यह केवल उत्पत्ति का वर्णन करना है। और बहुत समय पूर्व अरस्तू ने, यह कहते हुए कि राज्य जीवन की आवश्यकताओं के लिए उत्पन्न हुआ परन्तु नैतिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वर्तमान है, भौतिक प्रक्रियाओं (जिनमें मनो-भौतिक प्रक्रियाओं को भी जोड़ा जा सकता है), जो राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या करती हैं, और उन नैतिक कारणों के जो उसके अस्तित्व की व्याख्या करते हैं, अन्तर पर जोर दिया था। ऐहिक प्रधानता को सामयिक संबंध में बदल देने की इस प्रवृत्ति को राजनीति शास्त्र में ऐतिहासिक पद्धति के अनुप्रयोग से भी उतना ही बढ़ावा मिला है। मेन ने प्राचीन विधियों के प्रमाण से प्रारंभिक समाज की उत्पत्ति का प्रदर्शन कर ठोस कार्य किया था; और नृवंशशास्त्रियों (Anthropologists) ने

नवीन पद्धतियों और नवीन सामग्री का प्रयोग कर उसके द्वारा प्रारंभ किये गए कार्य को आगे बढ़ाया है। हमको इस प्रकार उपलब्ध नवीन सामग्री के महत्व स्वीकार कर ही लेना चाहिए। हमको यह स्वीकार कर ही लेना चाहिए कि जब हम इस प्रकार वर्तमान का मूल भूत में ढूँढ़ सकते हैं और आदिवासियों के समाजों में उस नैतिक व्यक्ति के जिसे हम राज्य कहते हैं आरंभिक चिह्न खोज सकते हैं, तो हमें मानवीय जीवन के तारतम्य का बोध कराया गया है। परन्तु हमें इस बात को भी मान लेना चाहिए कि मेन ने यह सिद्ध करके कि इतिहास अनुबंध से प्रारंभ होने वाली घटनाओं का अनुक्रम नहीं वरन् अनुबंध की ओर ले चलने वाली घटनाओं का अनुक्रम है सामाजिक अनुबंध के सिद्धांत का, जो कि एक ऐसा सिद्धान्त है जिसका उद्देश्य ऐहिक पूर्व स्थिति की व्याख्या करना नहीं वरन् राज्य से सम्बंधित तार्किक पूर्वमान्यताओं की व्याख्या करना था, भंडाफोड़ नहीं किया; और हमें हाब्स की भाँति यह ध्यान रखना चाहिए कि दर्शन 'समान रूप से प्राकृतिक और राजनीतिक इतिहास को दूर ही रखता है' यद्यपि वह दर्शन के लिए बहुत उपयोगी (यहाँ तक कि आवश्यक भी) है। इसका कारण यह है कि ऐसा ज्ञान केवल अनुभव मात्र ही होता है न कि विवेक-प्रयोग।

इस प्रकार गत साठ वर्षों के अन्तरस्थ राजदर्शन को खोज निकालने के लिए हमें न केवल दर्शन मात्र के ग्रंथों का अध्ययन करना है, वरन् जीवशास्त्र, राजनीतिक अर्थशास्त्र, विधि, इतिहास, मनोविज्ञान और नृवंशशास्त्र से उपलब्ध पद्धति, सामग्री और दृष्टिकोण के अनुदायों पर भी विचार करना होगा। और यहीं बात समाप्त नहीं होती। हमारे कार्लाइल, रस्किन और मैथ्यू आर्नाल्ड सरीखे लेखकों, डिकेन्स, रीड और किंग्सले सरीखे उपन्यासकारों और शॉ और गाल्सवर्दी सरीखे नाटककारों ने सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर भी विचार किया है और इन विषयों पर कम नहीं लिखा है। यह कहना ठीक ही सा होगा कि हमारे युग की 'सॉफ़िस्टिक' प्रवृत्ति, उसकी परम्परागत नैतिकता की तीव्र आलोचना और संशोधन करने की अंतःप्रेरणा, का नाटक ही सर्वश्रेष्ठ रीति से प्रतिनिधित्व करता है। अंततः, इन सब क्षेत्रों की इस सम्पूर्ण लिखित सामग्री के अतिरिक्त हमें मौखिक वादविवाद के उस

वृहत् क्षेत्र का भी ध्यान रखना होगा जो दल प्रणाली में अंतर्भूत है। वस्तुतः, यहाँ हम अपने सिद्धान्त-निर्माण का कारण तथा उसकी विषय-वस्तु देख सकते हैं। एक ओर दल सिद्धांतों को रंगभूमि में उतारता है, अथवा कम से कम दल सिद्धांतों की अपने संघर्षों के लिए सहायता तो लेता ही है। दूसरी ओर दल का कार्यक्रम स्वयं एक मूर्तिमान सिद्धांत होता है। उसके प्रस्ताव राजनीतिक जीवन पर देखने की एक विशेष पद्धति के पूर्ण व सम्बद्ध विवरण सहित प्रकट रूप होते हैं। एक दृष्टिकोण से हम बर्गसां (Bergson) के दर्शन को 'सिण्डीकलिस्ट' दल के द्वारा अपनाए जाते हुए देख सकते हैं, अथवा हम गियरके (Gierke) के सिद्धांतों को श्रमिक संघवाद के समर्थकों और 'हाई चर्च' दल के लोगों के द्वारा, जो धार्मिक सभाओं की पूर्ण स्वतंत्रता का पक्ष लेते हैं, प्रयुक्त किए जाते देख सकते हैं। दूसरे दृष्टिकोण से हम समाजवादी दल को 'समाजवाद के निश्चित सिद्धांतों' के अनुसार कार्य करते देख सकते हैं; अथवा हम उदार दल को बेन्थमवादियों की तुलना में स्वतंत्रता के एक अधिक सकारात्मक सिद्धान्त को विधान में अन्तर्ग्रहित करने के लिए प्रयत्न करते देख सकते हैं। यह सत्य है कि एक दल के कार्यक्रम में सदैव ऐसे अनिश्चित तत्वों के स्थान बना लेने की एक प्रवृत्ति सी रहती है जिन्हें उसके आधारभूत सिद्धान्त से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता, परंतु जो या तो एक आशाहीन अतीत से प्राप्त होते हैं अथवा जो समय की आवश्यकता और निजी स्वार्थों वाले समर्थकों को दी गई छूटें होते हैं। इतना होते हुए भी हमें यह मान लेना चाहिए कि एक दल के कार्यक्रम की प्रवृत्ति ऐसे प्रस्तावों के समूह को अन्तर्ग्रहित करने की ओर होती है जो कि इस कारण अन्योन्याश्रित होते हैं कि वे धारणाओं के एक समूह को विवरण सहित व्यक्त करते हैं।

अब तक हमने राजदर्शन के अध्ययन की उन विभिन्न रीतियों पर प्राकृतिक विज्ञान, अर्थशास्त्र अथवा विधि में से किसी के माध्यम से विचार किया है जो विचाराधीन काल में प्रयुक्त हुई हैं। हमारी विभाजन-रेखा युक्ति पर, न कि क्रम पर, आधारित रही है। यदि हम राजनीतिक चिन्तन के विकास पर ऐतिहासिक क्रम की दृष्टि से विचार करें तो हम यह देखते हैं कि वह कुछ निश्चित कालों में विभक्त हो जाता है। सन् १८४८ से सन् १८८० तक

सामान्य प्रवृत्ति व्यक्तिवाद की ओर रही है। यद्भाव्यं (Laissez-faire) नीति को सामान्य स्वीकृति प्राप्त हुई। एक ओर, आभ्यंतरिक क्षेत्र में, यद्भाव्यं का अर्थ होता है शासनिक कार्यक्षेत्र का अधिकाधिक संभव प्रतिबंधित किया जाना; दूसरी ओर, वैदेशिक मामलों में, इसका अर्थ होता है मुक्त व्यापार और राष्ट्रों के बीच मित्रता की नीति। स्पेन्सर 'सोशल स्टेटिक्स' (१८५१) से 'दि मैन वर्सस दि स्टेट' (१८८५) तक 'यद्भाव्यं' का ही पैग़म्बर रहा। उसने व्यक्तिवाद को प्राकृतिक विज्ञान का आवरण पहनाया। इस कार्य के लिए उसने सैन्यवाद (militarism) और उद्योगवाद (industrialism) के विरोध का उपयोग किया है और कहा है कि विकास की प्राकृतिक प्रक्रिया ने 'यद्भाव्यं' को आधुनिक उद्योग-प्रधान युग के लिए मार्गदर्शक सिद्धान्त बना दिया है। जॉन स्टुअर्ट मिल उससे कम हठी है। वह एक संक्रमणीय शक्ति है; और उसके हाथों के द्वारा उपयोगितावाद कम व्यक्तिवादी होना आरंभ हुआ और अधिकाधिक समाजवादी गुणों से युक्त होता गया। उसका विचार है कि सामाजिक उपयोगिता लक्ष्य है और वह यह अनुभव करता है कि इसके लिए अपने आप को बलिदान कर देना भी व्यक्ति का सर्वप्रधान कर्तव्य हो सकता है। वह यह स्वीकार करता है कि इसके लिए यह आवश्यक हो सकता है कि राज्य को धन के वितरण पर नियंत्रण करने के पर्याप्त कृत्य सौंपे जायँ। इसी बीच साहित्य का, मुख्यतः रस्किन और कार्लाइल की कृतियों का, प्रभाव यद्भाव्यं तथा उसके समस्त परिणामों के—उन परिणामों के जो नैतिकतावादी की दृष्टि से अन्यायपूर्ण और कलाकार की दृष्टि से कुरूप लगते हैं—प्रबल विरोध के पक्ष में रहा है। 'जो चाहो सो करो' के सिद्धान्त के स्थान पर कार्लाइल और रस्किन मार्गदर्शन और शासन की आवश्यकता पर बल देते हैं: वे बुद्धिमानों के शासन और समुदाय के कार्यों और जीवन के नियमन और अनुशासनीकरण (regimentation), यहाँ तक कि सैनिक पद्धति पर भी, का प्रतिपादन करते हैं।

सन् १८८० तक यद्भाव्यं सिद्धान्त—अर्थात् वाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकार के अहस्तक्षेप का राज्य के प्रधानतम कर्तव्य के रूप में उपदेश—समाप्त हो गया प्रतीत होता है। न केवल साहित्यिक पैग़म्बरों के द्वारा उसे नष्ट

किया गया था; स्वयं तथ्य भी उसके विपरीत थे। सन् १८७० से राज्य शिक्षा में गम्भीर रूप से रुचि ले रहा था और समय की प्रबल और स्पष्ट आवश्यकताओं ने भी उसकी शक्तियों में वृद्धि अवश्यम्भावी कर दी थी। सन् १८८० आते-आते ग्रीन आक्सफोर्ड में 'राजनीतिक कर्तव्य के सिद्धान्त' पर व्याख्यान देता हुआ, और यह तर्क प्रस्तुत करता हुआ कि राज्य को अपने नागरिकों के स्वतन्त्र नैतिक विकास को बाधित करने वाले सभी विघ्नों को हटाने के लिए अवश्य हस्तक्षेप करना चाहिये, दिखाई देता है। १८८० के कुछ ही समय के पश्चात् समाजवाद ने अपने दोनों रूपों में इंग्लैंड में जड़ें जमा लीं। हाइण्डमैन (Hyndman) जैसे विचारों की कोटि वाला क्रांतिकारी समाजवाद एक साथ समाजवादी शासन की स्थापना करने का प्रचार कर रहा था और उसके लिए वर्ग-युद्ध का एक आवश्यक प्रस्तावना के रूप में उपदेश दे रहा था। फेबियनों (Fabians) का सुधारवादी समाजवाद एक सुधार के बाद दूसरे सुधार की क्रमिक विजय का प्रतिपादन कर रहा था तथा समस्त वर्गों के सम्मिश्रण की शिक्षा दे रहा था। परन्तु दोनों ही समाज से आर्थिक जीवन के नियंत्रण को अपने हाथ में लेने को कह रहे थे। वह मार्गदर्शन और शासन जो कार्लाइल चाहता था अत्यावश्यक प्रतीत हो रहा था, परन्तु वे उस बुद्धिमानों के अभिजात्य वर्ग से प्राप्त न होने थे जिसकी कार्लाइल ने आशा की थी। पुरानी विचारधारा के लोग भयभीत हो उठे, विशेष रूप से उस समय जब सन् १८८४ में मताधिकार अधिक लोगों को प्रदान कर दिया गया। और स्पेन्सर ने पुनः राज्य के अतिक्रमणों के विरुद्ध व्यक्ति की रक्षा करने की ओर ध्यान दिया, जब कि मेन ने अपनी पुस्तक 'पापुलर गवर्नमेन्ट' में प्रजातंत्र की बढ़ती हुई बाढ़ के प्रति निराशाजनक भाव प्रगट किये।

ठीक उसी समय जब सिद्धान्त और व्यवहार दोनों आन्तरिक मामले में राज्य के हस्तक्षेप में अत्यधिक वृद्धि की ओर संकेत कर रहे थे, यह पूरी प्रक्रिया 'साम्राज्यवादी प्रतिक्रिया' के द्वारा बाधित होती हुई प्रतीत हुई। परन्तु संभवतः 'प्रतिक्रिया' की बात करना गलत होगा। वस्तुस्थिति में हस्तक्षेप की वृद्धि में कोई बाधा न थी। हस्तक्षेप में वृद्धि हुई परन्तु वाह्य क्षेत्र में, आभ्यन्तरिक में नहीं। कुछ भी क्यों न हो 'यद्भाव्यं' अपनी शांतिपूर्ण विश्व बन्धुत्ववाद पर

आधारित विदेशी नीति के सिद्धान्त के साथ सतत् रूप से लुप्त होने लगा। सन् १८०४ से सन् १९०३ तक मुख्यतः अफ्रीका में परन्तु अंशतः एशिया में भी बृहत क्षेत्र ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित किये; और एक बहुप्रचलित राजनीतिक सिद्धान्त ने 'श्वेतांगों के बोझ' का उपदेश देना आरम्भ किया—यद्यपि इस सिद्धान्त को कोई सशक्त प्रतिनिधि नहीं मिला। इस आंदोलन का श्रेय इंग्लैंड के किसी विशिष्ट कारण को देना निरर्थक होगा। जब हम यह बात सोचते हैं कि फ्रांस और कुछ कम मात्रा में जर्मनी भी अपने औपनिवेशिक साम्राज्यों का विस्तार कर रहे थे अथवा उनकी स्थापना कर रहे थे, तब हमको यह मानना ही चाहिये कि इसका कारण सामान्य और योरोपीय है। यदि हम कोई ऐसा कारण खोजें तो हम उसे आर्थिक प्रेरणाओं के अतिरिक्त जो कि सामान्यतः अतिरंजित होती है, राष्ट्रवाद की कल्पना में, उस अनन्य राष्ट्रवाद में जो पिछले बहुत समय तक इंग्लैंड पर छाया रहा और जो अब जर्मनी पर छाया है और जिसका कि सार यह है कि, जैसा कि सुन्दर रीति से कहा गया है, प्रत्येक राष्ट्र के सदस्य यह विश्वास करते हैं कि उनकी राष्ट्रीय सभ्यता ही सभ्यता (Civilisation) है, पा सकते हैं।

समष्टिवाद (Collectivism) ने राज्य के कार्यक्षेत्र को उन्नत करने का प्रयास किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रवाद ने प्रवेश कर उसके प्रयत्नों का लाभ उठाया। परन्तु किसी भी दशा में यद्भाव्यं नीति का एक पक्ष—वाह्य अहस्तक्षेप, शांति और अशस्त्रीकरण की नीति—सन् १८८० के पश्चात् शीघ्र ही लुप्त हो गया। सन् १९०३ से उसकी पूरक आंतरिक नीति ने, जिसने १८७० में ही अपना स्थान बना लिया था, एक महत्वपूर्ण भाग प्राप्त कर लिया है। यह बात अधिक महत्त्व की नहीं है कि एक दल ने संरक्षण के पक्ष का समर्थन किया है और दूसरे ने समाज-सुधार के पक्ष का। दोनों ही दल आन्तरिक मामलों में 'हस्तक्षेपवादी' हैं, उसी प्रकार जैसे विदेश नीति में वे कम या अधिक मात्रा में हस्तक्षेप के समर्थक हैं। सन् १८६४ की सामान्य ध्वनि और स्वभाव तथा सन् १९१४ के स्वभाव का अन्तर—अर्थात् यदि हम एक सामान्य विभाजन रेखा ले लें तो सन् १८८० के पहले और बाद की पीढ़ी का अन्तर गंभीर है। जहाँ सन् १८६४ में रूढ़िवाद का अर्थ राज्य के प्रति

अविश्वास का भाव होता था और पैतृक शासन में विश्वास को कुविचार (heresy) माना जाता था, सन् १६१४ में रूढ़िवाद का अर्थ राज्य में आस्था है और अराजकतावाद के सरल प्रयत्न को कुविचार माना जाता है। नवीनतम दर्शन, चाहे वह मेटर्लैंट के दर्शन की भाँति वैधानिक रूप में प्रतिपादित किये गये हों, चाहे 'सिण्डीकलिस्टों' और 'गिल्ड-सोशलिस्टों' के दर्शनों की भाँति सामाजिक अर्थशास्त्र के रूपों में, समूहों की स्वतन्त्रता का समर्थन करने की ओर निर्देशित हैं। आधुनिक अराजकतावादी शासन की किसी ज्यादती के विरोध में आबरन हर्बर्ट (Auberon Herbert) या वर्ड्स-वर्थ डानिस्थ्रोप (Wordsworth Donisthrope) की भाँति 'होने दो' (Let Be) के सिद्धान्त का प्रतिपादन व्यक्ति के हित के लिए नहीं करता; वह उसका प्रतिपादन संगठित समूह के हित के लिए और विशेषकर संगठित व्यवसाय या गिल्ड के हित के लिए करता है। परन्तु यह अहस्तक्षेप ही है, चाहे इसका रूप नवीन हो जो कि राज्य की आभ्यंतरिक नीति के लिए मान्य नियम के रूप में हृदयंगम कराया जा रहा है। इसी दिशा में बाह्य नीति किस सीमा तक संशोधन होने जा रही है, यह एकमात्र भविष्य ही बताएगा।

अध्याय २

आदर्शवादी विचारक—टी० एच० ग्रीन

(The Idealist School—T. H. Green)

ग्रीन, ब्रैडले और बोसांके की कृतियों में प्रतिपादित राज्य सम्बन्धी आदर्शवादी दर्शन अधिकांशतः आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय की देन है। इस दर्शन के स्रोतों में हमें प्रथम स्थान यूनानी शास्त्रीय ग्रंथों को ही देना चाहिए। प्लेटो और अरस्तू का प्रभाव इंग्लैंड में विशेष रूप से गंभीर रहा है। आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में अध्ययन की सर्वाधिक प्राचीन और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शाखा के पाठ्यक्रम में प्लेटो की 'रिपब्लिक' और अरस्तू की 'एथिक्स' को मुख्य पाठ्य पुस्तकें माना गया है; और यूनानी दर्शन से लिये गये सत्य आक्सफ़ोर्ड में न केवल विचारकों के द्वारा वरन् कार्यशील व्यक्तियों के द्वारा भी, जो इस पाठ्यक्रम के अनुसार शिक्षित किये गये हैं, जाने गये हैं और संसार में प्रवर्तित किये गये हैं। विद्यार्थियों की कई पीढ़ियों ने प्लेटो और अरस्तू से यह पाठ ग्रहण किया है कि 'मनुष्य अपने अस्तित्व के नियम के अनुसार ही एक राजनीतिक समुदाय का सदस्य है; एक सच्चा राज्य 'सद् जीवन (Life of virtue) में साझेदारी है'; विधि विशुद्ध और संवेगरहित विवेक की अभिव्यक्ति है; समुदाय के जीवन और कार्यों में प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा अपने निश्चित कृत्य को पूरा करना ही धर्मपरायणता (righteousness) है। यह पाठ भुला नहीं दिये गये हैं। प्रो० गिल्बर्ट मरे के अनुसार 'यदि पिट और फ़ाक्स के बाद का अंग्रेज़ी राजदर्शन और व्यवहार देखा जाय तो उसमें ऐसे भावना-सूत्र मिलेंगे जो निःसन्देह अन्य कारणों के साथ इस यूनानी प्रभाव की उपज हैं। ये हैं : जीवन और विचार की स्वतंत्रता के प्रति निःसंदिग्ध सम्मान, संवेग के प्रति अविश्वास......इस बात का बोध कि निर्धन और

भनी सहचारी नागरिक हैं, तथा राजनयज्ञ को यथार्थ में सम्पूर्ण समाज के कल्याण का विचार ही करना चाहिए।

इस प्रकार अंतिम रूप से राज्य संबंधी आदर्शवादी दर्शन का आधार प्लेटो और अरस्तू की कृतियों तथा 'रिपब्लिक', एव 'एथिक्स' के अध्ययन और अध्यापन की सतत परम्परा में मिलेगा। एक अन्य तथा अधिक निकट का प्रभाव जर्मन दर्शन का प्रभाव है। ग्रीन ने काण्ट और हीगल तथा प्लेटो और अरस्तू इन दोनों ही स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण की। और यथार्थ में राज्य का दार्शनिक सिद्धान्त, जिसके ग्रीन और बोसांके प्रमुख प्रतिनिधि हैं, अठारहवीं शताब्दी के अंत तथा उन्नीसवीं के आरंभ में जर्मनी में प्रतिपादित राजनीतिक दर्शन की एक टीका तथा व्याख्या, उसका एक विस्तृत और संशोधित रूप, ही है।

अपने सिद्धांतों का विकास करने के लिए काण्ट और हीगल दोनों रूसो की नैतिक स्वतंत्रता संबंधी इस धारणा को कि वह मनुष्य का एक विशिष्ट तथा स्पष्ट गुण है, आरंभ बिंदु मान कर चलते हैं। परंतु काण्ट की स्वतंत्रता की धारणा का आशय नकारात्मक, सीमित और आत्मगत है—कम से कम हीगल ने उसकी आलोचना में यही कहा था—जिसके कारण राज्य के प्रति उसका दृष्टिकोण कुछ-कुछ ईर्ष्यापूर्ण और व्यक्तिवादी हो गया है। काण्ट ने स्वतंत्रता का अर्थ कर्तव्य के एक आत्म-आरोपित आदेश (Self-imposed imperative) की इच्छा करने का अधिकार लगाया था और उसने इस बात पर जोर दिया था कि अपने विवेक के परिणामस्वरूप ऐसी इच्छा का स्वामी प्रत्येक व्यक्ति सदैव अपने में ही एक साध्य होता है और ऐसा ही उसे माना जाना चाहिए; उसे कभी भी साधन मात्र नहीं माना जाना चाहिए। हीगल की दृष्टि में ऐसी स्वतंत्रता नकारात्मक है क्योंकि यह कर्तव्य का परिधान धारण किये हुए है, और साथ ही वह सीमित है क्योंकि वह प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं में ही एक साध्य बना देती है। इसके साथ ही ऐसी स्वतंत्रता आत्मगत (subjective) भी है, क्योंकि वह केवल अभिप्राय और अंतःकरण के जगत में वास करती है और प्रातीतिक जीवन में स्वतंत्रतापूर्वक प्रवेश नहीं कर पाती। तब फिर किस प्रकार काण्ट के राजदर्शन में राज्य की धारणा प्रवेश करती है।

मूलतः, शायद, इस धारणा के द्वारा कि कर्तव्य स्वाभाविक रूप से सार्वभौमिक है वह व्यक्ति जो कर्तव्य के आदेश की इच्छा करता है, एक ऐसी वस्तु की इच्छा करता है जो किसी विशेष अवसर पर भले ही लागू होती हो परंतु साथ ही सार्वभौमिक भी है। जब वह यह नियम बनाता है कि 'तुम चोरी नहीं करोगे', तब वह वस्तुतः एक सामान्य नियम का निर्माण कर रहा है और अंततः, क्योंकि वह ऐसे नियमों की एक पूर्ण व्यवस्था का निर्माण करता है, वह एक ऐसे नियमो के समूह का निर्माण कर रहा है जो कि राज्य के द्वारा आवश्यक रूप से मान्य मान लिये जाने चाहिए और प्रवर्तित किये जाने चाहिए। परंतु काण्ट ने इस प्रश्न का जो अपेक्षाकृत अधिक सरल और स्पष्ट उत्तर दिया है वह अनुबंध की धारणा से लिया गया प्रतीत होता है। अनुबध के द्वारा मनुष्य अपनी वाह्य स्वतंत्रता, तुरंत बाद ही एक जनराज्य (Commonwealth) के सदस्य के रूप में पाने के लिए, समर्पित कर देते हैं। वे 'अपनी विधिहीन अनियंत्रित स्वतंत्रता को पूर्ण स्वतंत्रता में परिवर्तित करने के लिए त्याग देते हैं—एक ऐसी स्वतंत्रता के लिए जो कि उनकी स्वयं की स्वतंत्र विधायक इच्छा की निर्मिति होने के कारण पहले से कम नहीं हुई हैं। परंतु यह एक ऐसी स्वतंत्रता है जो इतने पर भी एक विधिसंगत आश्रयता का रूप ग्रहण करती है क्योंकि यह अधिकार अथवा विधि के क्षेत्र में ही अपना स्थान प्राप्त करती है।' ऐसा प्रतीत होता है कि काण्ट को राष्ट्र-राज्य के संसृष्ट जीवन का ज्ञान नहीं के बराबर ही था। व्यक्ति की स्वतंत्र इच्छा ही उसके दर्शन का हृदयस्थल है। राज्य की प्रकृति सम्बंधी उसकी धारणा एक अनुबंधात्मक निकाय की धारणा थी; और व्यक्ति के ऊपर राज्य का नियंत्रण बढ़ाने के स्थान पर वह योरोप की स्थायी शांति के आदर्श के लिए राज्य की आवश्यक गौणता पर बल देता है, और राष्ट्रों के एक ऐसे सघीय मडल (Federal league) का प्रतिपादन करता है जिसमें प्रत्येक राष्ट्र सामान्य सामूहिक इच्छा के निर्णय के अधीन हो।

काण्ट के विपरीत हीगल ने स्वतन्त्रता की एक अधिक सकारात्मक एवं वस्तुगत तथा राज्य की एक अपेक्षाकृत कम व्यक्तिवादी धारणा की रूपरेखा तैयार की। उसका मत है कि स्वतंत्रता सकारात्मक ही होना चाहिए। यह

विस्तार है; यह वाह्य व्यक्तित्व को अपने विवेकशील व्यक्तित्व की पूर्णता की मात्रा के अनुरूप बनाने में ही निहित है। इस कारण स्वतंत्रता की सकारात्मक अथवा वाह्य रूप से अभिव्यक्ति, होना चाहिए। यह रचनात्मक है; यह अपने आप को अनेक वाह्य रूपों में अभिव्यक्त करती है। इनमें से प्रथम विधि है; दूसरा आंतरिक नैतिकता के नियम हैं; और अन्तिम रूप से वे सब संस्थान और प्रभाव हैं जो एक राष्ट्र राज्य में धर्मपरायणता (Righteousness) लाते हैं। संस्थानों और प्रभावों की व्यवस्था को हीगल ने सामाजिक आचार (Social Ethics) शब्द के अन्तर्गत ले लिया है। और सामाजिक आचार में उसे विधि की मात्र बाह्यता तथा नैतिकता की मात्र आंतरिकता का सामंजस्य लक्षित होता है। इस प्रकार हीगल राज्य सम्बन्धी एक ऐसी धारणा पर पहुँचता है जो उतनी व्यक्तिवादी नहीं है जितनी काण्ट की उसे लगी। राज्य में मनुष्य ने अपने वाह्य व्यक्तित्व को अपने आंतरिक विचारशील व्यक्तित्व के स्तर के समान ऊँचा उठा लिया है। उसकी स्वतंत्र इच्छा ने वह अधिकतम संभव विस्तार प्राप्त कर लिया है जिसकी उसकी सकारात्मकता अपेक्षा करती है और वह उच्चतम अभिव्यक्ति प्राप्त कर ली है जो कि उसके वस्तुगत स्वभाव की माँग है। ऐसे राज्य के सम्बन्ध में अनुबन्ध की कोई धारणा अनुप्रयुक्त नहीं की जा सकती। अनुबन्ध तो मात्र विधि के क्षेत्र तक ही सीमित रहता है और उसका सम्बन्ध केवल सम्पत्ति से रहता है। राज्य की कल्पना न तो विधि की दृष्टि से की जानी चाहिए और न व्यक्ति के अन्तःकरण की नैतिकता की दृष्टि से, वरन् सामाजिक आचार की दृष्टि से। यह उस सामाजिक नैतिकता की अभिव्यक्ति है, और उच्चतम अभिव्यक्ति है, जो सामाजिक मत के द्वारा निर्मित होती और लागू की जाती है तथा जो पारिवारिक जीवन, अन्य समस्त सामाजिक समूहों के जीवन तथा स्वय राजनीतिक समुदाय के जीवन की पृष्टभूमि में रहती है। यह सामाजिक नैतिकता सका-रात्मक तथा वस्तुगत रूप ग्रहण करने के लिए प्रयत्नशील स्वतंत्र इच्छा की उपज है; और इसीलिए राज्य भी, सामाजिक नैतिकता की उच्चतम अभिव्यक्ति तथा उसका उपकरण होने के कारण, उस इच्छा की ही उपज है। उपज एक निश्चित समय पर एक निश्चित सृष्टि के अर्थ में नहीं, वरन् एक ऐसी वस्तु

के अर्थ में जो क्रमशः विकसित हुई है परन्तु अन्तर्निहित सदैव रही है। राज्य स्वतन्त्र इच्छा से उत्पन्न होता है, परन्तु वही उसका पोषण करता है। ऐसा वह एक दोहरे कृत्य से करता है। प्रथम यह व्यक्ति को एक मनुष्य के रूप में जीवित रखता है और न केवल इतना ही करता है वरन् उसका हित संपादन भी करता है तथा परिवार और सामाजिक जीवन के उन छोटे समूहों की रक्षा करता है जिनके द्वारा वह अपने कल्याण का आंशिक रूप में प्रयत्न करता है। दूसरे, 'यह व्यक्ति को, जिसकी अपने आप में ही केन्द्रित रहने की प्रवृति होती है, सार्वलौकिक पदार्थ के जीवन में वापस लाता है।' संक्षेप में यह व्यक्तित्व का पोषण करता है और व्यक्तित्व की भक्ति अपने आप से परे किसी दूसरी वस्तु के प्रति केन्द्रित कर उसे श्रेष्ठ बनना सिखाता है। इस प्रकार हीगल राष्ट्र के दैवी स्वरूप में विश्वास की मंज़िल पर पहुँचता है। यह विश्वास दो प्रभावों के संयोग से उत्पन्न हुआ। एक प्रभाव इस सिद्धान्त से युक्त यूनान के नगर-राज्य का था कि व्यक्ति समुदाय के जीवन में अपना निर्धारित कृत्य पूर्ण करने के लिए ही जीवित रहता है और 'कोई भी व्यक्ति अपने पर पूरा अधिकार नहीं रखता क्योंकि सब पर राज्य का अधिकार है।' १८०२ में लिखी गई राजनीतिक सिद्धान्त सम्बन्धी अपनी प्रथम पुस्तक में ही हीगल प्राचीन यूनानी आदर्शों से अनुप्राणित दीखता है। दूसरा प्रभाव समकालीन राष्ट्रीय भावना का था। सन् १७८९ की फ्रांसीसी क्रांति के वेग और तीव्रता ने प्रत्येक राजनीतिक विचारक को उत्तेजना प्रदान की थी। इससे काण्ट को स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की प्रेरणा में सहायता दी थी और संभवतः उसे स्थायी शान्ति का आदर्श सुझाया था। कुछ समय पश्चात् सन् १८१२ के बाद नैपोलियन के विरुद्ध जागृत होने वाली राष्ट्रीय प्रतिक्रिया ने लोगों को यह अनुभव करा दिया था कि राष्ट्रीय राज्य का मनुष्यों के हृदयों और उनकी भक्ति पर ऐसा दृढ़ अधिकार है जिसकी व्याख्या अनुबन्ध की किसी धारणा से नहीं की जा सकती और जिसका कारण केवल राष्ट्र के वास्तविक और वैयक्तिक अस्तित्व की कल्पना से ही समझा जा सकता है। हीगल का जीवन इन्हीं बाद के दिनों में ही व्यतीत हुआ था और समय के प्रभाव के अधीन उसने राष्ट्र-राज्य को रहस्यमय ऊँचाई तक पहुँचा दिया। परन्तु इस उच्चकोटि के रहस्यवाद के स्वाभाविक रूप से, यद्यपि वे परस्पर-विरोधी अवश्य

हैं ; बहुत कुछ निराशापूर्ण परिणाम सामने आये हैं। एक ओर हीगल यह कहता है कि राज्य की एकता, 'वह स्वतन्त्र शक्ति जो अधीन क्षेत्रों में हस्तक्षेप करती है, एक वास्तविक व्यक्ति में, एक आदेश जारी करने वाले व्यक्ति की इच्छा में, एक एकतन्त्र शासन में, ही संसृष्ट की जानी चाहिए। दूसरी ओर वह राज्य को, सामाजिक नैतिकता की उच्चतम अभिव्यक्ति होने के कारण, सब प्रकार के नैतिक प्रतिबन्धों से मुक्त रहने की स्वतन्त्रता देता है। उसका कथन है कि 'युद्ध को अवस्था राज्य की उसके वैयक्तिक रूप में सर्व शक्तिमत्ता प्रगट करती है'; उस समय देश और पितृभूमि वह शक्ति होती है जो व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को निरर्थक सिद्ध कर देती है।

आगे हम यह देखेंगे कि ग्रीन इन अन्तिम दो पक्षों में हीगल के विचारों से किस प्रकार दूर चला जाता है—वह निरंकुश एकतन्त्र में कितना कम विश्वास रखता है; वह उस अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता में कितना अधिक विश्वास रखता है जिसे हीगल ने अत्यधिक तत्परतापूर्वक अस्वीकृत कर दिया था। परन्तु इंग्लैंड के राजदर्शन पर विचारारंभ करने के पहले हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हीगल और किसी सीमा तक काण्ट भी, इंग्लैंड के संस्थानों को कितना कम प्रेम करते थे। हीगल इंग्लैंड के उन प्रातिनिधिक संस्थानों पर प्रहार करता है जिनके बारे में सामान्यतः यह धारणा थी कि उन्होंने इंग्लैंड के नागरिकों को सर्वाधिक स्वतन्त्र संविधान सुनिश्चित किया है। वह यह तर्क रखता है कि वस्तुतः इंग्लैंड योरोप का सबसे अधिक पिछड़ा हुआ देश है क्योंकि इंग्लैंड में व्यक्तिगत और विशिष्ट हितों के लिए प्रातिनिधिक संस्थानों की व्यवस्था के द्वारा वास्तविक स्वतन्त्रता का, जो कि केवल एकतन्त्र शासन में ही प्राप्त हो सकती है, बलिदान कर दिया गया है। काण्ट भी प्रातिनिधिक संस्थानों के प्रति अविश्वास का भाव रखता है, यद्यपि उसमें अविभक्त संप्रभुता के लिए हीगल सरीखा उत्साह नहीं है। वह इस बात से डरता है कि प्रतिनिधियों में मंत्रियों पर अनुचित रूप से आश्रित रहने की प्रवृत्ति होगी। इस प्रकार स्पष्टतः महाद्वीपीय आदर्शवादी विचारधारा को इंग्लैंड के प्रातिनिधिक संस्थानों के अनुरूप बनाने के लिए और एक ऐसी विचारधारा को जो राज्य की 'महत्ता' पर बल देती हैं एक ऐसी परम्परा के जो 'प्रजा की स्वतन्त्रता' पर बल देती है

साथ समन्वयित करने के लिए काण्ट और हीगल के सिद्धान्तों में संशोधनों की आवश्कता है।

वह इंग्लैंड जिसमें ग्रीन ने अपने राजदर्शन को विकसित किया था सन् १८७० के बाद के वर्षों का इंग्लैंड था। उस समय जनमत में एक परिवर्तन हो रहा था और विधि इस परिवर्तन को प्रतिबिम्बित कर रही थी। प्रोफेसर डाइसी के शब्दों में विधेयन (legislation) व्यक्तिवादी प्रवृत्ति से समष्टिवादी (collectivist) प्रवृत्ति की दिशा में बढ़ रहा था। संभवतः "समष्टिवाद" शब्द सही आशय नहीं व्यक्त करता है; परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि अब राज्य अपने कार्यक्षेत्र को, यदि यथार्थ में कभी उसने ऐसा किया हो, प्रतियोगिता के स्वतन्त्र कार्यकरण एवं अनुबंध की स्वतन्त्रता के परीक्षण तक ही सीमित नहीं रख रहा था, वरन् अपने समस्त सदस्यों के लिए सद्गुणात्मक जीवन की दशाओं को सुनिश्चित करने के अधिक सकारात्मक कृत्य की ओर ध्यान देने लगा था जिसकी पूर्व छाया फैक्टरी विधियों में पहले ही दिखाई देने लगी थी। ग्रीन ने जो कि उतना ही शांत यथार्थवादी था जितना उच्चादर्शवादी, अपने को आंग्ल राज्य के समकालीन जीवन में अन्तर्निहित पूर्वमान्यताओं को प्रकाश में लाने और उनकी व्याख्या करने को कार्य में लगाया। जैसा कि उसके जीवनी लेखक का कथन है, उसने 'इस बात की चेतना जागृत करने का प्रयत्न किया कि मनुष्य यथार्थ में क्या है और अपने दैनंदिन जीवन के निश्चित कृत्यों में क्या करता है, क्योंकि उसका विचार था कि यही इस बात की चेतना जागृत करने का कि उसे क्या होना चाहिए और क्या करना चाहिये, सही मार्ग है।' अपने स्वभाव और जीवन के अनुभव से वह अपने कार्य के लिए बहुत अधिक उपयुक्त था। सन् १८६० से १८८२ तक आक्सफोर्ड में प्राध्यापक रहने पर भी वह एक एकान्तवादी 'शिक्षार्थी' नहीं था। उसके हृदय में मध्यम वर्ग तथा 'नॉनकन्फर्मिटी' के लिए सदैव सजीव सहानुभूति रही। इसके अतिरिक्त उसे शिक्षा और लाइसेंस सम्बन्धी सुधार में विशेष अभिरुचि थी। सन् १८५६ तथा १८६६ में शिक्षा सम्बन्धी शाही आयोग में सहायक आयुक्त के रूप में कार्य करने के समय से उसे शिक्षा में सदैव अभिरुचि रही और उसने आक्सफोर्ड के बालकों के लिए एक हाई स्कूल स्थापित करने में

अपना धन और समय लगाया। मद्यनिषेध सम्बन्धी सुधारों की आवश्यकता के प्रति बहुत पहले ही अपने जीवन के अनुभव से उसका ध्यान आकर्षित हुआ था और सन् १८७२ में वह 'यूनाइटेड किंगडम एलायंस' का सदस्य बन गया था। आक्सफोर्ड को नागरिक राजनीति में उसके द्वारा लिये गये भाग ने उसके नाम को एक परम्परा तथा विश्वविद्यालय में एक उदाहरण बना दिया है। राष्ट्रीय राजनीति में वह जॉन ब्राइट के सम्प्रदाय का उदारपंथी था; और सन् १८६७ के बाद से वह राजनीतिक मंचों पर उपस्थित होता रहा। उसकी अन्तिम कृतिओं में 'लिबरल लेजिस्लेशन एन्ड फ्रीडम ऑव कान्ट्रैक्ट' पर दिया गया एक भाषण है जो सन् १८८१ में लीसेस्टर (Leicester) के लिबरल एसोसिएशन के तत्वावधान में दिया गया था।

'दि प्रिंसिपिल्स ऑव पॉलिटिकल ऑब्लीगेशन' विषय पर भाषण ग्रीन द्वारा सन् १८७९–८० की शरद ऋतु में दिये गये थे, जब वह आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में नैतिक दर्शन का प्राध्यापक था। उन चरम तत्वज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तों का जिन्हें धार्मिक सिद्धान्त कहना भी असंगत न होगा, जो कि इन भाषणों की पृष्ठभूमि में थे यहाँ वर्णन करना हमारे लिये संभव नहीं है; परन्तु यह ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि उसकी राज्य की धारणा की पृष्ठभूमि में एक शाश्वत आत्मचेतना की कल्पना है जो कि मानवीय चेतना की सामाजिक भलाई की कल्पना संचारित करती है, और जिसकी पूर्णता की प्राप्ति के लिए मानवीय चेतना सदैव प्रयत्नशील रहती है, तथा जो कि मानवीय समाज के उच्चतर रूपों में अंशतः प्राप्त भी कर ली गई है। इस प्रकार की कल्पना के प्रकाश में नागरिकता ईसाई धर्मग्रंथों द्वारा प्रतिपादित नागरिकता (Christian citizenship) बन जाती है और राज्य "दैवी राज्य" (Civitas Dei) बन जाता है। परन्तु प्रिंसिपिल्स ऑव पोलिटिकल आब्लीगेशन में मानवीय चेतना और उस स्वतन्त्रता से जो कि उस चेतना की माँग है ही विवेचन आरंभ होता है।

राज्य इस चेतना की ही उपज है। मानवीय चेतना में स्वतंत्रता निहित है; स्वतंत्रता में अधिकार अन्तर्ग्रहित हैं; अधिकारों के लिए राज्य आवश्यक है। परंतु इन सब शब्दों की व्याख्या की जानी आवश्यक है। स्वतंत्रता से

विचारारंभ करते समय हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि ग्रीन कांट के स्वतंत्र नैतिक इच्छा के सिद्धांत से जिसके अनुसार मनुष्य सदैव अपने आप को ही साध्य मानता है—आरंभ करता है और उसे अंत तक कभी नहीं त्यागता। भली इच्छा ही एकमात्र महत्त्वपूर्ण वस्तु है। वह कार्य जिसे राज्य को दमनपूर्ण हस्तक्षेप के द्वारा अथवा पैतृक शासन के द्वारा कभी नहीं करना चाहिए, उसके स्वनिर्णय को प्रतिबंधित करना है। वह कार्य जो राज्य को अवश्य करना चाहिए, उसकी शक्तियों को उनके कार्यकरण के मार्ग की बाधाएँ हटा कर स्वतंत्र करना है। स्वतंत्रता का अर्थ केवल इस भली इच्छा की स्वतंत्रता ही हो सकता है; वह केवल उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने की स्वतंत्रता हो सकती है जो कि ऐसी इच्छा अपने आप अपने सम्मुख प्रस्तुत करती है। इस प्रकार स्वतंत्रता केवल प्रतिबंधों का नकारात्मक अभाव मात्र ही नहीं है—ठीक उसी प्रकार जैसे कुरूपता का अभाव सौन्दर्य नहीं होता। यह "उन कार्यों को करने या आनन्द प्राप्त करने की सकारात्मक शक्ति है जो किए जाने या आनन्द-लाभ करने के योग्य हैं।" पुनः, स्वतंत्रता के भली इच्छा और केवल भली इच्छा में निहित होने के कारण, वह किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने की शक्ति नहीं है, अपितु उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने की शक्ति है जो भली इच्छा अपने आप अपने सम्मुख प्रस्तुत करती है। संक्षेप में, इसके दो गुण हैं। यह सकारात्मक है—कुछ करने की स्वतंत्रता, न कि अपने प्रति कुछ होने देने से स्वतंत्रता। यह निश्चित है—एक निश्चित कार्य करने की स्वतंत्रता, कोई ऐसा कार्य जो किये जाने योग्य है, न कि कोई अथवा प्रत्येक कार्य।

इस प्रकार स्वतंत्रता में आत्म-चेतना निहित है। 'स्व' का न केवल अपने को जानना ही पर्याप्त है वरन् अपने आप की इच्छा करना—उन आदर्श उद्देश्यों की इच्छा करने के अर्थ में जिनसे उसने अपने को एकाकार कर दिया है, अथवा जिनसे वह अपने को एकाकार करने का प्रयत्न कर रहा है—भी आवश्यक है। यह दूसरों के स्व के बारे में भी सचेत होता है। इसके अतिरिक्त यह उनके बारे में भी सचेत है जो उसी की प्रकृति के हैं—उसी भली इच्छा से युक्त हैं और अपने सम्मुख वे ही आदर्श

प्रस्तुत किये हुए हैं। इस कारण 'कोई भी कार्य जो किया जाता है अथवा जो आनन्द उठाया जाता है', 'कोई ऐसा कार्य या आनन्द होना चाहिए जो हम दूसरों के साथ मिल कर करते या उठाते हैं।' और यहीं बात समाप्त नहीं होती। स्व न केवल अपनी भलाई की इच्छा करता है (ऐसी धारणा मात्र भावात्मक है तथा इस कारण अवास्तविक है); यह अपनी भलाई की इच्छा दूसरों से संबद्ध रूप में करता है। यह अपने दूसरों से संबंधों की भलाई की इच्छा करता है; यह समाज की, जिसका निर्माण ऐसे संबंधों से ही होता है, भलाई की इच्छा करता है। उन संबंधों की जो समाज का निर्माण करते हैं भलाई का अर्थ होता है अधिकारों की एक व्यवस्था। ऐसी व्यवस्था के अधीन प्रत्येक व्यक्ति अपने साथी की आदर्श उद्देश्य के लिए प्रयत्न करने की शक्ति स्वीकार करता है तथा अपने साथी से अपनी ऐसी ही शक्ति स्वीकार कराने का दावा करता है; और प्रत्येक व्यक्ति अपना दावा इस निश्चित विश्वास के साथ करता है कि उसे सब स्वीकार कर लेंगे, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने साथी की आदर्श उद्देश्य के लिए प्रयत्न करने की शक्ति स्वीकार करता है तथा अपने साथी से अपनी ऐसी ही शक्ति स्वीकार कराने का दावा करता है; और प्रत्येक व्यक्ति अपना दावा इस निश्चित विश्वास के साथ करता है कि उसे सब स्वीकार कर लेंगे, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव अपने साथियों जैसा ही है और सब के उद्देश्य समान उद्देश्य हैं। इस प्रकार स्वीकृत दावे अधिकारों में बदल जाते है और यहीं स्वीकृति ही उन्हें अधिकारों का रूप देती है। इस प्रकार यदि हम भेद करने का ध्यान रखें, तो हम कह सकते हैं कि अधिकारों के दो पक्ष होते हैं। एक ओर अधिकार आत्म-चेतना की प्रकृति से उदय होने वाला व्यक्ति का ऐसा दावा है जो अपने आदर्श उद्देश्यों की इच्छा करने की अनुमति चाहता है; दूसरी ओर यह समाज के द्वारा उस दावे की स्वीकृति है और उसके द्वारा उसमें इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने की नवीन शक्ति का सम्मिलन है। इस प्रकार के विभेद-करण का उस समय महत्त्व होता है जब हम अपूर्ण अधिकारों (inchoate rights) पर विचार करते हैं—उदाहरणार्थ, सन् १८६६ के पूर्व उत्तरी अमेरिका जैसी दशा में, जब दासता से मुक्ति का दावा किया जाता था परन्तु

उसे समाज द्वारा खुले रूप से स्वीकार नहीं किया गया था। परन्तु यथार्थ में यह भेद भावात्मक ही है। समस्त वास्तविक अधिकारों में दोनों ही पक्ष वर्तमान रहते हैं। अधिकारों का व्यक्तियों में ही स्थित रहना आवश्यक है; परन्तु वे उनमें समाज के ऐसे सदस्यों के रूप में ही स्थित रह सकते हैं जो कि उन्हें अपनी मान्यता देता है और उनका कारण आदर्श उद्देश्यों की वह समानता है जो उस स्वीकृति का कारण होती है।

परन्तु हमको स्वीकृति शब्द का स्पष्ट अर्थ जान लेना चाहिए। ग्रीन वैधानिक स्वीकृति की बात नहीं कर रहा है; न वह बेन्थम की इस उक्ति का समर्थन कर रहा है कि 'सही अर्थ में अधिकार विधि (सही अर्थ में) की निर्मिति होते हैं।' वे अधिकार, जो उसके चिंतन का विषय हैं, वैधानिक अधिकार नहीं, वरन् आदर्श अधिकार हैं। वे ऐसे अधिकार हैं जिन्हें उचित रूप में भली इच्छा के आधार पर संगठित समाज के द्वारा, यदि वह अपने मूल सिद्धान्तों के प्रति सच्चा है, आदर्श रूप से स्वीकृत किया जाना चाहिए। इन अधिकारों को हम उचित रूप से 'प्राकृतिक' अधिकार कह सकते हैं— यदि हमारी प्राकृतिक अधिकारों की धारणा सही हो; यदि हम पुराने और गलत ढंग से उनका अर्थ न लगाएँ जिसके अनुसार वे प्रकृति की समाज-पूर्व दशा में एक दूसरे से पृथक मनुष्यों के अधिकार हैं, और (यद्यपि यह परिणाम स्पष्ट नहीं है) इसके परिणामस्वरूप यह मान लिया जाय कि वे समाज की स्थिति में भी उनके स्वामी हैं; वरन् वे अधिकार जो समाज के किसी रूप में रहनेवाले (जिस रूप में उनका रहना अनिवार्य है) संघबद्ध मनुष्यों की नैतिक प्रकृति में अन्तर्ग्रहित हैं। ये आदर्श अथवा प्राकृतिक अधिकार यथार्थ अथवा वैधानिक अधिकारों से अधिक विस्तृत और गंभीर हैं, क्योंकि वैधानिक अधिकार किसी विशेष समय पर किसी विशेष राज्य में उस राज्य के द्वारा प्राप्त प्राकृतिक अधिकारों की धारणा की आवश्यक रूप से आंशिक तथा अपूर्ण अभिव्यक्ति होते हैं। अब हम देख सकते हैं कि ग्रीन द्वारा उल्लिखित अधिकारों का संबंध विधि की अपेक्षा नैतिकता से ही है; और वह स्वीकृति जिसका वह उल्लेख करता है एक समान नैतिक चेतना के द्वारा प्रदत्त स्वीकृति, न कि एक विधान मंडल के द्वारा दी गई स्वीकृति है।

अधिकार नैतिकता से इस अर्थ में सम्बन्धित है कि वे नैतिक उद्देश्य को प्राप्त करने की दशाएँ हैं; और स्वीकृति नैतिक चेतना के द्वारा इस कारण दी जाती है कि वह यह जानती है कि वे उसकी अपनी संतुष्टि की आवश्यक दशाएँ है। परन्तु यद्यपि हम अधिकारों को नैतिकता से सम्बद्ध कर सकते हैं, फिर भी हमें अधिकारों का सम्मान करने के उत्तरदायित्व तथा विशुद्ध नैतिक कर्तव्यों को पूरा करने के उत्तरदायित्व में भेद करना ही होगा। इनमें से एक उत्तरदायित्व विधि के द्वारा लागू किया जा सकता है और अंततः किया भी जाता है, परन्तु दूसरा नहीं। एक के बारे में नैतिक चेतना की स्वीकृति पर्याप्त रूप से सामान्य और स्पष्ट होने पर अर्थात् मत के परिपक्वता प्राप्त कर लेने पर विधि का रूप ग्रहण कर लेती है और उसके अतिक्रमण के सम्बन्ध में दंड की वाह्य व्यवस्था रहती है। दूसरे के बारे में ऐसा कभी नहीं हो सकता। इस अंतर के आधार पर हम बाद में उस समय दृष्टिपात करेंगे जब हम राज्य के कार्य क्षेत्र पर विचार करेंगे। अब तक के अध्ययन के आधार पर दो बातें ही समझ लेना पर्याप्त है। एक ओर ग्रीन के द्वारा उल्लिखित अधिकार विधि से इस सीमा तक सम्बन्धित है कि उन्हें विधि के रूप में मूर्तिमत्ता प्रदान की जा सकती है, और अंततः की भी जाती है; और वे नैतिकता से इस सीमा तक सम्बन्धित है कि उनका महत्व सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के सहायक के रूप में ही है और उनका स्रोत मनुष्य की नैतिक चेतना में है। दूसरी ओर वे विधि से भिन्न हैं क्योंकि एक समुदाय की यथार्थ विधि में समावेशित यथार्थ अधिकार एक आदर्श व्यवस्था के समतुल्य कभी नहीं होते; और वे नैतिकता से भी भिन्न हैं, क्योंकि उन्हें वाह्य स्वीकृतियों के द्वारा लागू किया जा सकता है (चाहे यथार्थ में उन्हें लागू किया जाता हो या नहीं) और नैतिकता को इस प्रकार लागू नहीं किया जाता है और न ही किया जा सकता है।[१]

१ 'विधि विद्यमान वैधानिक अधिकारों की व्याख्या करती है; आचार-शास्त्र नैतिक अधिकारों की व्याख्या करता है; राजनीति उन नैतिक अधिकारों की व्याख्या करती है जो विधि द्वारा लागू किये जा सकते—यदि विधि आदर्श विधि होती हैं।' Jethro Brown, *Underlying Principles of Modern Legislation*, p. 192.

अधिकारों को लागू किया जा सकता है और वस्तुतः उन्हें लागू करना आवश्यक होता है। यहाँ हम अब तक प्राप्त धारणा—एक दूसरे के बारे में जागरूक तथा एक समान साध्य के बारे में सचेत, एवं इस कारण एक दूसरे को तथा समान साध्य को स्वीकार करने वाले आत्मनों (selves) के समाज की धारणा—से आगे बढ़ते हैं, और संप्रभुता के बारे में अर्थात् समाज की उस सत्ता के बारे में जो अधिकारों को लागू करती है, विचारारंभ करते हैं। समाज में एक ऐसी सत्ता होनी ही चाहिये यह बात स्पष्ट है; क्योंकि भली इच्छा तो आवश्यक रूप से अधिकारों को स्वीकार करती है परन्तु समाज के सदस्यों की यथार्थ इच्छा (actual will) उन्हें स्वीकार नहीं करती। ऐसी अवस्था में जब कि नैतिक उद्देश्य तथा उस उद्देश्य को पूरा करने की स्वतन्त्रता पूर्णतः अनिवार्य है; तथा समस्त अधिकार स्वतंत्रता प्राप्त करने की तथा उस नैतिक उद्देश्य को पूरा करने की आवश्यक दशाएँ हैं, यह निष्कर्ष निकलता है कि नैतिक उद्देश्य की ओर निर्देशित भली इच्छा के स्वतंत्र कार्यकरण के लिए आवश्यक अधिकारों को यथार्थ इच्छा का दमन करके भी सुनिश्चित किया जाना चाहिये। यहाँ हम राज्य के कार्यों सम्बन्धी विचित्र स्थिति—एक अटलनीय विचित्र स्थिति—पर पहुँच जाते हैं। यहाँ स्वतंत्रता के निर्माण के लिए बल प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है। इस विचित्र स्थिति का सामना करने के लिए हमें यह जानना होगा कि वह कौन निकाय है जो बल प्रयोग करता है तथा उसका कार्य समाज के सदस्यों की सजीव और सक्रिय इच्छा के द्वारा किस सीमा तक समर्थित है।

अन्तिम विश्लेषण में हमें स्वतः समाज को ही अथवा समान उद्देश्य की उस समान चेतना को जो समाज का निर्माण करती है, वह संप्रभु प्राधिकारी मानना होगा जो बलप्रयोग करता है। यदि वह चेतना अधिकारों का निर्माण करती है तो वह उस संप्रभुता का भी निर्माण करती है जो उसके निर्वाह के लिए आवश्यक है। इस कारण यदि हम समान उद्देश्य की इस समान चेतना को, जो उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये निर्देशित समान इच्छा में अभिव्यक्त हो, सामान्य इच्छा का नाम दें तो हम कह सकते है कि 'सामान्य इच्छा' संप्रभु है। चरम रूप में यह सत्य है; परन्तु एक अपेक्षाकृत अधिक यथार्थवादी विश्लेषण जो राजनीतिक जीवन के तथ्यों के अधिक निकट हो, संप्रभु शब्द

को अधिक संकुचित कर देगा। तब 'संप्रभु' शब्द का आस्टिन द्वारा उल्लिखित 'स्वभावगत आज्ञाकारिता प्राप्त करने वाले निश्चित जनश्रेष्ठ' के लिए प्रयोग होगा; परन्तु ऐसा इस शर्त पर होगा कि उस जनश्रेष्ठ के पीछे उसकी इच्छा को निर्धारित करती हुई तथा उसके कार्यों को प्रेरणा प्रदान करती हुई उस सामान्य इच्छा को स्वीकार कर लिया जाय जिसका वह प्रतिनिधि है और जो उसके अभिप्रायों को खोज निकालने और पूर्ण करने के ही लिए विद्यमान है। इस बात को इस धारणा के साथ कि वास्तविक या वैधानिक अन्तिम संप्रभु जनता ही है, एकरूप नहीं मान लेना चाहिये। वस्तुतः यह इस बात की घोषणा है कि राजनीतिक क्रियाओं की प्रेरक तथा नियंत्रक एवं गति प्रदान करने वाली चरम शक्ति एक आध्यात्मिक शक्ति है—एक ऐसा समान विश्वास है जो धर्मपरायणता के निर्माण में सहायक होता है, एक समान अंतर्बोध है जो कि समुदायों के अभिकर्ताओं तथा मंत्रियों को सत्तायुक्त करने में अनन्य रूप से समर्थ है। वह विश्वास अथवा वैसा अंतर्बोध अव्यवस्थित रूप में अधिकारों की सृष्टि करता है, विधि और नियमों की उस व्यवस्था का निर्माण करता है जिससे उन अधिकारों का पोषण होता है, तथा उस संप्रभु की सृष्टि करता है जिसका कार्य उस विधि को प्रकाशित तथा प्रभावित करना, तथा उन समस्त सजीव संस्थाओं को जो कि अधिकारों और विधि की मूर्तरूप हों पूर्ण उत्साह के साथ तथा एक दूसरे के साथ पूर्ण अनुरूपता में जीवित रखना है।

इस प्रकार एक समान इच्छा राज्य के सम्पूर्ण जीवन में अभिव्यक्त हो सकती है, परन्तु हम वैयक्तिक इच्छा और समान इच्छा के सम्बन्ध की धारणा किस प्रकार बनाएँगे। अथवा (वैयक्तिक और सामाजिक इच्छा का विरोध कल्पनाजन्य तथा असत्य होने के कारण—क्योंकि सामाजिक इच्छा केवल व्यक्तियों की इच्छा ही हो सकती है), क्या हम राज्य के समस्त अथवा बहुत सारे सदस्यों में ही, समान इच्छा की चेतन उपस्थिति और वास्तविकता को मान कर आगे बढ़ सकते हैं? किसी भी दशा में 'लंदन के किसी अहाते के एक अशिक्षित और अपर्याप्त रूप से क्षुधातृप्त निवासी में जिसके दाहिने और बाएँ हाथ पर शराब की दूकानें हों', उसकी चेतन उपस्थिति की बात करना मूर्खतापूर्ण ही होगा। ग्रीन इस कठिनाई का सामना गंभीरता और सतर्कता

के साथ करता है। वह कहता है कि अंततः उन समस्त नैतिक उत्तरदायित्वों का जिन्हें हम सभी स्वीकार करते हैं स्रोत वही है जो राजनीतिक अधीनता का स्रोत है; और जिस सीमा तक हमें इनमें से एक की सजीव चेतना है उसी सीमा तक हम दूसरे को भी स्वीकार कर लेते हैं। किसी भी दशा में हम सब स्वभाववश और सहज रूप में दूसरों को, अपने साधारण वेतनभोगी और वेतन-दाता तथा विक्रेता और ग्राहक के सामान्य सम्बन्धों में, अधिकारों के स्वामी मानते हैं और अपने लिये वैसी ही मान्यता का दावा करते हैं; और इसमें 'विधि द्वारा पोषित एक समान हित की आवश्यक प्रारंभिक धारणा अन्तर्निहित है—चाहें हम इस बात के प्रति कितने ही अचेत क्यों न हों। यह सत्य है कि इस प्रकार हम 'भक्त प्रजाजन' से अधिक कुछ नहीं रहते; यह भी सत्य है कि 'बुद्धि-आश्रित देशप्रेम' की उच्च स्थिति प्राप्त करने के लिए व्यक्ति का राज्य के कार्यों में भाग लेना तथा उसके सदस्य के रूप में कार्य करना अथवा कम से कम राष्ट्रीय अथवा प्रांतीय विधान सभाओं के सदस्यों के मतदान में भाग लेना आवश्यक है। परन्तु ग्रीन अपने 'लेक्चर्स' में प्रजातन्त्र अथवा राजनीतिक सुधारों की समस्याओं से विलग ही रहता है। जैसा कि हमने देखा है, वह विद्यमान राज्यों के यथार्थ जीवन में अन्तर्निहित पूर्वकल्पनाओं के विश्लेषण और स्पष्टीकरण से ही संतुष्ट रहता है। वह यह दिखाकर ही संतुष्ट हो जाता है कि प्रजातंत्र का मूल तत्व—'लोक-सहमति, न कि शक्ति, ही राज्य का आधार है'—प्रत्येक राज्य मे वर्तमान है और उसे प्रत्येक राज्य में आवश्यक रूप से वर्तमान रहना चाहिये। वह ऐसे किसी सत्य का निर्माण नहीं करना चाहता जो सार्वभौमिक होते हुये भी किसी विशिष्ट व्यवस्था के साथ सम्बद्ध हो; न ही वह किसी विशिष्ट पद्धति पर विशेष बल दे कर ऐसे सत्य को खतरे में डालना चाहता है। हम उसके यथार्थ जीवन से जानते हैं और हम उसके सिद्धांतों की तर्क पद्धति से यह ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, कि वह प्रातिनिधिक शासन और विस्तृत मताधिकार में विश्वास रखता था। परन्तु राज्य क्या कर सकता है और उसे अपनी शक्ति का किस प्रकार प्रयोग करना चाहिए, यही वह विषय है जिसमें उसकी राज्य की व्यवस्था की अपेक्षा अधिक अभिरुचि थी; भूमि और मद्यपान की सामाजिक समस्याएँ ही उसका ध्यान सर्वाधिक व्यस्त रखती हैं।

परन्तु इन समस्याओं की ओर ध्यान देने के पूर्व हमें व्यक्ति और समुदाय के संबंध की एक और समस्या पर ध्यान देना है। हमें न केवल इस बात पर विचार करना है कि व्यक्ति अपनी किसी यथार्थ अथवा चेतन इच्छा से राज्य के कार्य की पुष्टि करता है वरन् इस बात पर भी कि क्या वह किसी भी दशा में राज्य के निर्णय को मानने से इन्कार कर सकता है। विरोध की समस्या है ही ऐसी कि एक जनतांत्रिक समुदाय में—जहाँ जनता द्वारा बनाई हुई विधियों का पालन न करने का उत्साह के साथ दावा कर सकती है—उसका उदय होना अवश्यम्भावी है; विशेषकर दल प्रणाली में, जब एक दल यह बात तीव्रतापूर्वक अनुभव करता है कि कोई विधि या शासनिक कार्य केवल विरोधी दल की विधि या कार्य मात्र है और एक ऐसी अस्थायी बहुसंख्या पर आधारित है जो शायद किसी दूसरे प्रश्न पर प्राप्त की गई है। इस प्रश्न पर ग्रीन का दृष्टिकोण शांत और सतर्क है और कुछ दृष्टियों से इसी प्रश्न पर 'एपोलॉजी' और 'क्राइटो' में प्लेटो के दृष्टिकोण का स्मरण दिलाता है। समस्या प्राकृतिक अधिकारों के प्रति भक्ति और विधि के शासन के प्रति आज्ञाकारिता के बीच संघर्ष की है। प्राकृतिक अधिकारों की धारणा इस तथ्य पर आधारित है कि किसी विशेष समुदाय के द्वारा किसी विशेष समय पर स्वीकृत अधिकारों की यथार्थ और वैधानिक व्यवस्था आवश्यक रूप से पूर्ण नहीं होती। ऐसे अन्य अधिकार—व्यक्तियों अथवा समूहों में वस्तुतः विद्यमान किसी क्षमता के स्वतंत्र विकास के लिए आवश्यक अन्य दशाएँ—भी होती हैं जो यथार्थ विधि में स्वीकृत नहीं होती हैं परन्तु जिनका स्वीकृत किया जाना सामान्य हित में होता है, क्योंकि विचाराधीन क्षमता समान भलाई के लिए कुछ करने में समर्थ क्षमता है। ऐसे अधिकारों को वैधानिक अधिकारों से पृथक करने के लिए, जैसा कि हमने देखा है, हम उन्हें प्राकृतिक अधिकारों की संज्ञा दे सकते हैं परंतु इस प्रतिबंध के साथ कि हम उन्हें ऐसे अधिकार न समझें जो किन्हीं आदिवासी और एकान्तवासी व्यक्तियों के अधिकार थे, अपितु केवल इतना ही कि वे दूसरे मनुष्यों के सम्पर्क में रहनेवाले व्यक्ति के गठन में सहज रूप से विद्यमान हैं और ऐसे समाज में जीवन की 'प्राकृतिक' अथवा उचित दशाएँ हैं। ये प्राकृतिक अधिकार ऐसे समाज के सामान्य

सामाजिक अन्तःकरण के द्वारा स्वीकृत किए जाने पर भी उसकी विधियों द्वारा अमान्य रह सकते हैं। वस्तुतः यह भी संभव है कि वे केवल एक ऐसे तुच्छ अल्पमत के द्वारा ही स्वीकृत हों जो उनके स्वामित्व का दावा करता हो। वे किस सीमा तक समुदाय की यथार्थ विधि का जो कि अपने द्वारा स्वीकृत अधिकारों को मूर्तरूप देती है, विरोध करने का प्राधिकार देते हैं? उदाहरणार्थ एक नीग्रो दास के प्रति सहानुभूति रखनेवाला व्यक्ति दास के स्वतन्त्र मनुष्य होने के प्राकृतिक अधिकार के नाम पर उसके स्वामी के दास के ऊपर स्वामित्व के वैधानिक अधिकार का किस सीमा तक प्रतिरोध कर सकता है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें एक ऐसे प्राकृतिक अधिकार में जो सामाजिक अन्तःकरण के द्वारा निर्हित रूप से स्वीकार किया जा चुका है और एक ऐसे प्राकृतिक अधिकार में जो इस प्रकार स्वीकार नहीं किया गया है, भेद करना चाहिए। हम इनमें से प्रथम को वह छूट दे सकते है जो दूसरे को देना कठिन ही है। इस भेदकरण का कारण सीधा है। प्राकृतिक अधिकार वस्तुतः पूर्ण सामान्य कल्याण की एक आवश्यक दशा है जिसे प्रत्येक संभव सहायक की सामर्थ्य को स्वतंत्रता प्रदान करके ही प्राप्त किया जा सकता है; परंतु वैधानिक रूप से स्वीकृत अधिकारों की सम्पूर्ण व्यवस्था की एक ऐसी ही दशा है, अथवा ऐसी दशाओं का एक पूर्ण समूह है। यहाँ हम विधि के नियम का पालन करने की आवश्यकता देखते हैं। हमें लगभग सम्पूर्ण वस्तु को एक अंश के लिए बलिदान नहीं करना चाहिए। हमें वर्तमान व्यवस्था में एक नवीन तत्त्व जोड़ने के लिए सामाजिक अव्यवस्था तथा अधिकारों की विद्यमान व्यवस्था की शांति-भंग का संकट नहीं उठाना चाहिए। परन्तु जब एक प्राकृतिक अधिकार के दावे की अन्तर्भूत सामाजिक स्वीकृति हो तो हम यह जानते हैं कि ऐसे किसी बलिदान अथवा संकट की कोई संभावना नहीं है। समान सामाजिक चेतना की वही शक्ति जो वैधानिक अधिकारों की चरम पोषक है—यहाँ वैधानिक अधिकारों का उन्हें अधिक पूर्ण बनाने के लिए प्रतिरोध कर रही है। परंतु जब प्राकृतिक अधिकार की कोई अन्तर्भूत स्वीकृति न हो तब ऐसे अधिकार के नाम पर प्रतिरोध अपना नैतिक औचित्य खो देता है और ऐसी स्वीकृति के निर्माण के लिए प्रचार वह पहला पग बन जाता

है जो किसी प्रकार के प्रतिरोध को न्याय्य ठहराए जाने योग्य बनाने के लिए अवश्य उठाया जाना चाहिए। परंतु तब भी जब प्रत्येक शर्त पूरी हो चुकी हो, प्रतिरोध केवल संभाव्य रूप में ही न्याय्य हो सकता है; इसका यह अर्थ नहीं होता कि वह अनिवार्य है।

× × × ×

हमें राज्य के बारे में न केवल उसके व्यक्तियों से संबंध की दृष्टि से सोचना है, वरन् उसके समूहों से संबंध की दृष्टि से भी—चाहे वह परिवार या व्यवसाय के अपेक्षाकृत छोटे समूह हों जो राज्य के अन्दर होते है, अथवा अपेक्षाकृत बड़ा समूह, 'विश्व-भ्रातृत्व', हो जिसके अन्दर हम राज्य को अवस्थित मान सकते हैं। यह बात कि राज्य एक 'समाजों का समाज' है ग्रीन स्पष्टतः स्वीकार कर लेता है। और उसके द्वारा प्रयुक्त वाक्य उसकी उस धारणा की भिन्नता दिखाता है जिस पर गियरके (Gierke) ने अल्थ्यूसियस (Althusius) के 'संघीय' सिद्धान्त के स्पष्टीकरण में, तथा निगमों की विधि पर अपनी पुस्तक में, बल दिया है। न केवल इतना ही वरन् ग्रीन यह भी स्वीकार करता है कि इन आंतरिक समाजों की—उन समाजों की जो राज्य द्वारा पूर्वकल्पित हैं, उसके द्वारा निर्मित नहीं—ऐसे अधिकारों की अपनी आंतरिक व्यवस्था होती है जो उनके समाज होने की प्रकृति के कारण उदित होती है। उदाहरणार्थ, अधिकारों और कर्तव्यों की एक ऐसी व्यवस्था है जो परिवार की सदस्यता में अपनी प्रकृति के कारण उत्पन्न होती है। वह अधिकार जो राज्य के द्वारा परिवार तथा उस जैसे अन्य समाजों के ऊपर प्रयुक्त किया जाता है, समायोजन का अधिकार है। राज्य प्रत्येक समाज के लिए आंतरिक रूप से उसकी अधिकारों की व्यवस्था को समायोजित करता है और वह अधिकारों की प्रत्येक व्यवस्था को वाह्य रूप से अन्य सब के लिए समायोजित करता है। ऐसे समायोजन के दो निहितार्थ हैं। एक ओर, ऐसे समायोजित अधिकार इस समय से व्यक्ति को राज्य द्वारा प्राप्त रहते हैं तथा उसके द्वारा राज्य के नागरिक के रूप में उपभोग किए जाते हैं—इस कारण कि वे राज्य द्वारा समायोजित किए गए हैं और क्योंकि वे उसी रूप में जिसमें वे समायोजित किए गए हैं प्रत्याभूतित किए गए हैं। दूसरी ओर समायोजन करने वाले

राज्य को अपने बल के कारण कुछ अंतिम शक्ति प्राप्त है। इन समायोजनों का स्रोत होने के कारण उसे अंतिम शक्ति होना भी चाहिए। यदि ऐसा न हो और यदि उसी को समायोजित करना संभव हो तो वह ऐसा स्रोत न होगा। परंतु ऐसी अंतिम शक्ति, अथवा, यदि हम यह कहना चाहें, तो ऐसी संप्रभुता का, अर्थ अनुत्तरदायित्व नहीं लगाया जाना चाहिए। राज्य की शून्य में स्थित, अथवा एक एकांतवासी सर्वशक्तिमान 'लेवायथन' के रूप में कल्पना नहीं करना चाहिए। यह दूसरे राज्यों से सम्बंधित होता है और इसे अपने को एक 'विश्व भ्रातृत्व' की धारणा के प्रकाश में उन सम्बंधों से समायोजित करना आवश्यक है। यहाँ हम ग्रीन की एक सर्वाधिक विशिष्ट धारणा का स्पर्श करते हैं—एक ऐसी धारणा जो युद्ध संबधी उसके उस दृष्टिकोण का सैद्धान्तिक औचित्य बनी जो उसके मस्तिष्क में पहले से ही स्वाभाविक रीति से विद्यमान था।

विश्व-भ्रातृत्व की धारणा को संस्थापित करने के लिए ग्रीन जीवन के अधिकार को आरम्भ बिन्दु मान कर चलता है। यह अधिकार मूलतः प्रत्येक विशिष्ट समाज के सदस्यो द्वारा एक दूसरे में—तथा केवल एक दूसरे में ही—अन्तर्निहित माना गया था। अनभिज्ञ व्यक्ति इसकी परिधि के बाहर होता था और उसके जीवन का अन्त बिना इस अधिकार का अतिक्रमण किए किया जा सकता था। शनैः-शनैः रोमन विधि और ईसाइयत के प्रभाव ने इस बात को कि जीवन का अधिकार समस्त मनुष्यों में केवल इस तथ्य के कारण कि वे मनुष्य हैं, अन्तर्निहित है सार्वभौमिक स्वीकृति और मान्यता दिलाई। ऐसे सार्वभौमिक स्वीकृति प्राप्त अधिकार में, अपने सहायक तथा प्रतिभू के रूप में, एक सार्वभौमिक समाज अन्तर्भूत है। इस प्रकार जहाँ हम, कम से कम अन्तर्भूत रूप से ही, समस्त मनुष्यों के जीवन के अधिकार को स्वीकार करते हैं, वहाँ हम यह असन्दिग्ध सत्य मान लेते हैं कि युद्धकाल में राज्य की संकटकालीन आवश्यकताएँ इस अधिकार का निराकरण कर देती हैं। यद्यपि ऐसे किसी अधिकार की स्वीकृति में एक मानव समाज की कल्पना अन्तर्भूत रहती है, पर हम यह धारणा बना सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में इस विचार के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता। ग्रीन संगति को विशेष महत्व देता है। जब

एक आस्ट्रियन सैनिक को स्वतंत्र और अखण्ड इटली के नाम पर लड़नेवाले इटलीवासी ने गोली से मारा तो जीवन के अधिकार का अतिक्रमण किया गया और गलत कार्य किया गया। और न यह बात कि एक स्वतंत्र और अखण्ड इटली के आदर्श उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए इस प्रकार की हत्या ही एक मात्र मार्ग था, उस गलत बात को सही बना देती है। इटली का विभाजन, जिसका अन्त केवल युद्ध द्वारा किया जा सकता था, एक चरम तथ्य नहीं था—ऐसा चरम तथ्य जो कि युद्ध का एकमात्र निरपेक्ष औचित्य प्रस्तुत कर सके। वह विभाजन स्वयं भूतकालीन गलत कार्यों का परिणाम था, और इटली के सैनिक के पक्ष में अधिक से अधिक हम इतना कहने के अधिकारी हैं कि वह गलत कार्य जैसा कि उसने आस्ट्रिया के सैनिक की हत्या करते समय किया था, एक दूसरे गलत कार्य के उपचार के लिए कर रहा था। युद्ध कभी भी निरपेक्ष रूप से उचित नहीं हो सकता; वह केवल सापेक्ष रूप से उचित हो सकता है—इस अर्थ में कि वह एक 'क्रूरतापूर्ण आवश्यकता' है जिसका कि राज्यों के युद्धरत होने की दशा में किसी गलत बात को ठीक करने के लिए सामना करना ही पड़ता है। युद्ध राज्य का उसकी प्राकृतिक उचित अवस्था में एक आवश्यक लक्षण नहीं है, अपितु यह केवल अपूर्ण स्थिति वाले किसी विशिष्ट राज्य का लक्षण है। यह सापेक्ष रूप से एक ऐसे गलत कार्य के अर्थ में जो किसी गलत कार्य को सही करने के लिये करना ही पड़ता है उचित हो सकता है। परन्तु वह गलत कार्य जो ठीक किया जाता है—उदाहरणार्थ, इटली का अनैक्य—इतने पर भी गलत कार्य ही रहता है, और वे व्यक्ति जिन्होंने वह पहला गलत कार्य किया था, अपनी धूलवत् क़ब्रों में पड़े हुये इस नये गलत कार्य के लिए जो कि उसे सही करता है, उत्तरदायी है। कोई न कोई अपराध का दोषी अवश्य है और किसी न किसी को उसका दोषी होना आवश्यक है। और जिस प्रकार वह आदर्श उद्देश्य जिसके लिये युद्ध की आवश्यकता पड़े अपराध को क्षमा करने लिये पर्याप्त नहीं है, ठीक उसी प्रकार से नैतिक सद्गुण जो युद्ध के कारण उत्पन्न होते हैं उसको क्षमा करने के लिये पर्याप्त नहीं हैं। युद्ध देशभक्ति को जन्म दे सकता है; परन्तु जब तक मनुष्य के हित के लिये प्रकृति को विजित करने तथा मनुष्य की

क्षमताओं को स्वतंत्र करने के कार्यों के रूप में शन्तिपूर्ण देशभक्ति के क्षेत्र की पूर्णतः समाप्ति नहीं हो जाती, युद्ध का आश्रय लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। उद्वेग रहित तथा व्यावहारिक स्वभाव वाले ग्रीन ने न केवल आवश्यकता का ही वरन् अन्तः प्रेरणा का भी अन्त करने की कल्पना की। यदि युद्ध अपूर्ण राज्य का लक्षण है तब इससे यह परिणाम निकलता है कि जैसे-जैसे राज्य कम अपूर्ण बनते जाएँगे वैसे-वैसे ही कम युद्धों के होने की संभावना है। जितना अधिक अच्छी रीति से प्रत्येक राज्य संगठित होगा उतना ही उसके सदस्यों का दूसरे राज्य के सदस्यों से अधिक स्वतंत्र संसर्ग होगा; यह संसर्ग जितना अधिक स्वतंत्र होगा उतना ही अधिक समान हितों का भाव होगा; और जितना अधिक यह भाव होगा उतना ही अधिक वास्तविक वह समान समाज होगा जो इनमें अन्तर्भूत है। और इस प्रकार स्वतंत्र राज्यों की सहमति पर आधारित प्राधिकार वाले एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का स्वप्न पूरा हो सकता है। यह समस्त तर्क, जो कि ग्रीन के 'लेक्चर्स' के श्रेष्टतम और सर्वाधिक सशक्त भागों में है, उसके हीगल से (जो यह कह सकता था कि युद्ध की अवस्था राज्य की उसके वैयक्तिक रूप में सर्वशक्तिमत्ता दिखाती है) दूर-गमन को लक्षित करती है और उसकी ब्राइट (Bright) की भावना से एक-रूपता सिद्ध करती है। कम से कम वह राज्य की सर्वशक्तिमत्ता अथवा अनुत्तर-दायित्व की किसी धारणा से बहुत दूर था।

परन्तु राज्य पर सबसे बड़ा बंधन स्वयं उसकी प्रकृति में ही निहित है। ग्रीन की धारणा के अनुसार उसका कृत्य आवश्यक रूप से नकारात्मक है। वह उन बाधाओं को हटाने तक ही सीमित है जो मानवीय क्षमता को वह 'कार्य जो उसे करना चाहिये' करने से रोकती है। राज्य का अपने सदस्यों को श्रेष्ठ-तर बनाने का कोई सकारात्मक नैतिक कृत्य नहीं है। उसका कृत्य उन बाधाओं को दूर करना है जो उन्हें स्वयं श्रेष्ठतर बनने से रोकती है—जो कि एक नका-रात्मक नैतिक कृत्य है। इस दृष्टिकोण का आधार ग्रीन की व्यक्ति की नैतिक अच्छाई की प्रकृति सम्बन्धी तथा उन उपायों और कार्य पद्धतियों की प्रकृति सम्बन्धी जिनका राज्य प्रयोग कर सकता है, धारणा है। दोनों की प्रकृति सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण में ग्रीन काण्ट से बहुत अधिक प्रभावित है। उसकी

व्यक्ति की अच्छाई (Goodness) की प्रकृति सम्बन्धी धारणा काण्ट के अपनी इच्छा करने वाली स्वतंत्र इच्छा के सिद्धान्त तथा उसके सहसम्बन्धी इस सिद्धान्त कि एक अच्छा कार्य तभी अच्छा है जब वह करने वाले के द्वारा 'कर्तव्य की भावना' से किया जाता है, न कि तब जब वह अपनी वाह्य प्रकृति के अनुसार 'कर्तव्यशील' हो, के द्वारा निर्धारित हुई है। स्वतंत्र रीति से स्वनिर्धारित कार्य—इस अर्थ में कि वह अपने प्रति अपने कर्तव्य की भावना के अनुसार कार्य करती हुई स्वतंत्र इच्छा के द्वारा निर्धारित हुआ हो—ही एक मात्र नैतिक कार्य है। ऐसी इच्छा की आंतरिकता की दृष्टि से राज्य के सभी कार्यों की प्रकृति वाह्य ही होगी। राज्य अपने किसी कार्य द्वारा इस बात को सुनिश्चित नहीं कर सकता कि कार्य कर्तव्य की भावना से किये जायँ। वह केवल कर्तव्यशील कार्यों को सुनिश्चित कर सकता है। इसके अतिरिक्त जब यह कर्तव्यशील कार्यों को सुनिश्चित करने का प्रयत्न करता है तो यह कर्तव्य की भावना से किये जाने वाले कार्यों का क्षेत्र सीमित कर देता है। इसलिए, नैतिक कार्य के क्षेत्र को सुरक्षित छोड़ देने के लिए, तथा इतना ही नहीं, उसकी वृद्धि करने के लिए भी, राज्य को स्वतंत्र इच्छा की आंतरिकता में प्रवेश करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये, वरन् उसके कार्य के रूप में प्रगट होने के मार्ग को सरल करना चाहिये। ग्रीन के शब्दों में 'राज्य का प्रभावकारी कार्य...बाधाओं को दूर करने तक ही सीमित प्रतीत होता है'; अथवा 'शासन का कार्य ऐसी दशाएँ बनाये रखना है जिनमें नैतिकता संभव हो सके और नैतिकता का तात्पर्य होता है आत्म-आरोपित कर्तव्यों का उचित रीति से पालन किया जाना।' जैसा कि हमने पहले देखा है, जीवन की ऐसी दशाएँ ही अधिकार है; और इस कारण हम कह सकते हैं कि राज्य का कृत्य अधिकारों को लागू करना है न कि सदस्यों पर धर्मपरायणता लागू करना (इस सीधी सी वजह के कारण कि वह ऐसा कर ही नहीं सकता और क्योंकि ऐसा करने का प्रयत्न कर वह उसे नष्ट कर देता है)।

यह दृष्टिकोण नकारात्मक प्रतीत हो सकता है। वस्तुतः यह पर्याप्त सकारात्मक है। प्रथमतः, दशाएँ बनाये रखने और बाधाएँ दूर करने के लिये राज्य को प्रत्येक ऐसी बात में जो दशाओं का अतिक्रमण करने की अथवा बाधाएँ प्रस्तुत करने की प्रवृति रखती हो, हस्तक्षेप करना आवश्यक होगा। उसे स्वतंत्रता-

विरोधी शक्ति का नाश करने के लिये शक्ति का प्रयोग करना ही चाहिये। दूसरे इसका चरम उद्देश्य सदैव सकारात्मक होता है। स्वनिर्णय की मानवीय क्षमता को समान भलाई के लिये स्वतंत्र करना वह उद्देश्य है, और इससे अधिक सकारात्मक और कुछ नही हो सकता। दंड के बारे में विचार करने से उपर्युक्त दोनों बातो को स्पष्ट करने तथा राज्य के हस्तक्षेप से सम्बन्धित पूर्ण सिद्धान्त की व्याख्या करने में संभवतः सफलता मिल सकती है। दंड अपराधी के किसी भूतकालीन नैतिक अपराध को अथवा उसके भावी नैतिक सुधार को प्रत्यक्ष रूप से ध्यान में रखते हुये नहीं दिया जाता है। यदि वह नैतिक अपराध को ध्यान में रख कर दिया जाय तो उसे नैतिक अपराध की मात्राओ के अनुसार वर्गीकृत करना आवश्यक हो जायगा; और यहाँ हमें तुरन्त इस अलंघ्य कठिनाई का सामना करना पड़ता है कि नैतिक अपराध को मात्राओं में नहीं मापा जा सकता। इसका कारण यह है कि हम इच्छा की गुप्त गुहाओ में उसकी तीव्रता अथवा उसकी कोटि को जानने के लिये प्रवेश नहीं कर सकते। यदि दंड भावी नैतिक सुधार को ध्यान में रखकर दिया जाता है तो वह न केवल अन्य अपराधियों को हतोत्साह करने की अपनी शक्ति खो देगा, वरन् अपराधी से अपनी इच्छा को पुनर्जीवित करने की संभावना—जिसे संभावना की बजाय मौलिक कर्तव्य कहना अधिक उपयुक्त होगा—छीन लेगा। यथार्थ में, दंड को इच्छा के स्वतंत्र कार्यकरण के लिए आवश्यक वाह्य दशाएँ बनाये रखने के लिये समायोजित किया जाता है; उसे स्वयं आंतरिक इच्छा के साथ समायोजित नहीं किया जाता। यह एक ऐसी शक्ति है जिसका प्रयोग स्वतंत्रता विरोधी शक्ति को रोकने के लिये किया जाता है। इस कारण इसकी शक्ति का विरोधी शक्ति के अनुपात में होना आवश्यक होता है। दूसरे शब्दो में दंड का प्रतिमान और मात्रा वह सीमा है जिस तक दंडित कार्य स्वतंत्र नैतिक कार्यकरण के लिए आवश्यक वाह्य दशाओं का अतिक्रमण है और आगे भी अतिक्रमण की संभावना प्रस्तुत करता है। (निस्संदेह, यह सदैव मान लिया जाता है कि ऐसा अतिक्रमण इच्छाजन्य (intentional) है और यह स्वतंत्रता के लिए तभी संकट होता है जब यह इच्छाजन्य होता है। परन्तु कार्य करने में इच्छा की मात्रा कार्य करने के नैतिक अपराध की मात्रा से भिन्न होती है।)

यह सिद्धान्त दंड को अनैतिक अथवा नकारात्मक नहीं बना देता। राज्य के समस्त कार्यों की तरह दंड का भी एक नैतिक प्रयोजन होता है और उसमें भी एक सकारात्मक गुण होता है। यह इस अर्थ में नैतिक है कि इसका चरम उद्देश्य समुदाय के प्रत्येक सदस्य की नैतिक इच्छा के लिए स्वतंत्र कार्यकरण का अवसर सुनिश्चित करना है। यह इस अर्थ में भी नैतिक है कि दंड के धक्के से–उस बाधा से जो सम्भवतः बिना सोचे हुये गलत कार्य की धारा में यह उपस्थित करता है—दंडित अपराधी के मस्तिष्क में अपने कार्य के अर्थ के विषय में कुछ विचार आनुषंगिक रूप से अवश्य उभड़ेगा अथवा उभाड़ की ओर प्रवृत्ति होगी; उसके अन्दर इच्छा को पुनर्जीवित करने का कुछ प्रयत्न अवश्य होगा; और इन दोनों के द्वारा समान भलाई की दिशा में आत्म-निर्णय की क्षमता को कुछ स्वतंत्रता अवश्य मिलेगी। सचमुच, दंड पूर्ण अर्थ में अपने उचित उद्देश्य को तब तक प्राप्त नहीं कर सकता—जो कि अधिकारों की विध्यनुकूलता की पुनर्स्थापना है—जब तक कि वह अपराधी में उस विध्यनुकूलता की कुछ चेतना उत्पन्न नहीं करता; और उस चेतना के प्रभावी होने के लिए यह आवश्यक है कि वह केवल मात्र इस भावना के कारण उत्पन्न नहीं होनी चाहिए कि अधिकारों के पीछे कोई वाह्य शक्ति है, वरन् इस भावना के कारण कि उनके पीछे कोई उच्चतर और अपेक्षाकृत अधिक आन्तरिक स्वीकृति भी है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दंड के अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष दोनों प्रकार के प्रभाव होते हैं। प्रत्यक्ष रूप से, यह अधिकारों का विरोध करने वाली एक शक्ति को रोकनेवाली शक्ति है—एक ऐसी शक्ति जिसकी मात्रा उस अन्य शक्ति की मात्रा (जो कि अधिकारों के उस विध्वंस से नापी जा सकती है जो इसका परिणाम होता है) के साथ समायोजित की जानी चाहिए; और जिसका उद्देश्य उस अन्य शक्ति का निराकरण और उसके निराकरण के द्वारा उस अधिकारों की पूर्ण व्यवस्था का जिसका विरोध किया गया था, पुनर्स्थापन होना चाहिए। अप्रत्यक्ष रूप से, दंड इच्छा का सुधार होता है और उसे प्रभावी निरोधक होने के लिए ऐसा होना भी चाहिए—अथवा (चूँकि इच्छा का सुधार केवल अन्दर से ही हो सकता है) यह कहा जाय कि यह एक आघात होता है जो कि अपराधी के द्वारा अपनी इच्छा के सुधार को

संभव बना देता है। अपने इस दूसरे पक्ष में भी दंड 'बाधाओं का निराकरण' ही रहता है क्योंकि वह बाधा जिसका अपराधी विरोध करता है केवल एक शक्ति ही नहीं है, परंतु एक इच्छा है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ग्रीन को सर्वाधिक अभिरुचि सामाजिक प्रश्नों में थी। इनमें से दो—शिक्षा तथा मद्य-निषेध के प्रश्न—के बारे में उसे अपने जीवन के अनुभव से ही पर्याप्त ज्ञान हो गया था। और इन दो के साथ एक तीसरे प्रश्न को भी सम्मिलित किया जा सकता है जिसमें उसे विशेष रुचि थी—यह थी भू-संपत्ति की समस्या। प्रथम दृष्टि में यह बात उसके नकारात्मक सूत्र की विरोधी प्रतीत हो सकती है कि इन तीनों विषयों पर ग्रीन एक ऐसे दृष्टिकोण का समर्थन करता है जो पर्याप्त मात्रा में राज्यिक-हस्तक्षेप प्रतीत होता है। परन्तु ऐसा कोई विरोध नहीं है, यह बात उसका लीसेस्टर में सन् १८८१ में 'लिबरल लेजिस्लेशन एन्ड फ्रीडम ऑव कान्ट्रेक्ट' पर दिया गया भाषण स्पष्टतः दिखा देता है। अन्य किसी ऊँचे तर्कों के अतिरिक्त इसके उत्तर को एक सीधी सी भित्ति पर आधारित किया जा सकता है। 'हमको मनुष्यों को वैसा ही समझना चाहिए जैसा हम उन्हें पाते हैं', और यदि हम उन्हें अज्ञान, मद्यपान, अथवा भिक्षुक वृत्ति की बाधाओं से लड़खड़ाते पाते हैं तो हमें अज्ञान, मद्यपान और भिक्षुकवृत्ति को दूर करने के लिये हस्तक्षेप करना चाहिए। हमको एक ऐसे प्रबुद्ध व्यापारी को आधार नहीं मानना चाहिए, जैसा कि हर्बर्ट स्पेंसर ने 'दि मैन वर्सस दि स्टेट' में किया है, जो अपने कार्यालय में बैठकर शांतिपूर्वक यह हिसाब जोड़ता हो कि किसी कल्पनाजन्य व्यापार में यदि वह भागीदार बने तो ऐसे कौन से उद्देश्य हैं जिनके लिए राज्य उसके कार्यों को प्रतिबंधित कर सकता है, और इस प्रक्रिया में न केवल यह भूल जाता है कि इस अति प्राचीन राज्य ने असंख्य पिछली पीढ़ियों के लिए क्या किया है वरन् यह भी कि उसके असंख्य कार्य वर्तमान व्यापरिक कार्यवाहियों के लिए कितना कुछ करते हैं। इसके स्थान पर हमको एक भूमिहीन सर्वहारा की कल्पना करना चाहिए जो युगों की दासता से उत्पन्न आदतों से पूर्ण हो: ऐसी स्त्रियों की जिनके अशिक्षित तथा बेघरबारी परिवार हों, जिनके दाहिने और बाएँ ओर मदिरालय हों। यदि हम इस आधार पर चलें—और यही एकमात्र आधार है

जिससे एक सामाजिक अंतःकरण वाला व्यक्ति आरंभ कर सकता है—तो यह स्पष्ट है की 'बाधाओं को हटाने' का बहुत सारा कार्य किया जाता है जिसे प्राकृतिक अधिकारों अथवा निहित अधिकारों या अन्य किन्हीं अधिकारों की दलील से अथवा कितनी ही ईमानदारी के साथ प्रतिपादित ऐसे सिद्धान्त से जो स्वतंत्र इच्छा को अशिक्षा, असंयम, तथा घोर दरिद्रता पर आरूढ़ होने का पूरा अवसर प्रदान करने की आवश्यकता का समर्थन करता हो, रोका नहीं जा सकता। इस दूसरे सिद्धान्त का विशेषतः श्रमपूर्वक खंडन किया जाना आवश्यक है। चरम आदर्शवाद (uncritical idealism) स्वभावतः स्वतंत्र इच्छा के लिए हर तरह का दावा करने की गलती करने लगता है, जैसे कि स्वतंत्र इच्छा वाह्य दशाओं से स्वतंत्र और श्रेष्ठतर कोई वस्तु हो, और जैसे कि उसकी स्वतंत्रता के लिए ऐसी दशाओं के समायोजन की कोई आवश्यकता हो न हो। जीवन की वाह्य दशाएँ इस अर्थ में वाह्य नहीं है कि वे एक ऐसी चेतना के जो उनसे स्वतंत्र है, बाहर हैं। वे चेतना के अन्तर्गत है और मनुष्य के लिए अपनी चेतना में उनके अस्तित्व के अतिरिक्त दूसरे किसी प्रकार का अस्तित्व नहीं है। यदि वे उसकी चेतना में है तो वे 'स्व' (self) का भाग हैं और स्व-निर्णय का अर्थ होता है। ऐसे 'स्व' के द्वारा निर्णय जिसकी वे भाग हैं। आत्मचेतना का अपनी अंतर्वस्तु से पृथक् किसी प्रकार का अस्तित्त्व नहीं हो सकता; और यदि अंतर्वस्तु में ऐसी वाह्य वस्तुएँ भी हैं जो बुरी हैं तो निर्णय करने वाला स्व अपना निर्णय उन्हीं के अनुसार करेगा। किसी भी प्रकार के बिवेचित आदर्शवाद को 'वाह्य वस्तुओं के महान् महत्व को स्वीकार करमा ही चाहिये और उस पर आधारित किसी राजनीतिक विचारधारा को यह बात स्वीकार करना ही चाहिए कि यदि राज्य का कोई कर्तव्य है, तो उसका कर्तव्य वाह्य दशाओं को इस प्रकार समायोजित करना है कि वह 'स्व', जिसके स्वनिर्णय में वे प्रवेश करती हैं आवश्यक रूप से अपने को अधिकाधिक बुरा निर्धारित न करे।

इन जैसे कारणों के आधार पर राज्य को शिक्षा को अनिवार्य करने का अधिकार है। पिता को अपने पुत्र को अज्ञान में रखने का कोई 'निहित अधिकार' नहीं है; दूसरी ओर पुत्र में 'करने योग्य कार्य करने' की—ऐसे कार्य जो उसके अपने लिए करने योग्य है और समुदाय के लिए भी करने योग्य है—

क्षमता है, जिसे समुदाय को, उसके लिए तथा अपने स्वयं के लिए, उसकी क्षमता के कार्यकरण को बाधित करने वाले अज्ञान को हटा कर स्वतंत्र करने का अधिकार है। पुत्र को शिक्षा का अधिकार भी ठीक उसी मात्रा में है जितना जीवन और स्वतन्त्रता के अधिकार उसे प्राप्त हैं—और उसका कारण भी बिल्कुल वही है कि उसमें समुदाय की भलाई के लिए कोई सामाजिक कृत्य स्वतंत्रतापूर्वक पूर्ण करने की क्षमता है। यदि हम एक अधिकार प्रदान करें और दूसरा नहीं तो हम असंगति के दोषी होंगे। राज्य को उन दोनों को प्रदान करने और उनकी प्रत्याभूति करने का 'अधिकार' है, क्योंकि राज्य को सदैव यह 'अधिकार' होता है कि वह प्रत्येक प्रजाजन को, अन्य प्रजाजनों के विरुद्ध, ऐसी कोई भी वस्तु प्रदान करे तथा उसकी प्रत्याभूति करे जो उसकी अधिकार कही जा सकती है। जो बात अज्ञान के बारे में कही गई है वही मद्यपान के बारे मे भी ठीक है। यदि मदिरालय एक ऐसी 'वाह्य' (external) वस्तु है जो अशुभ है और यदि मद्यपान उतनी ही बड़ी 'बाधा' या 'रुकावट' है जितना कि अज्ञान, तो राज्य अपने नागरिकों से मद्य को क्रय या बिक्रय करने की स्वतंत्रता, जो कि बहुत मूल्यवान नहीं कही जा सकती, 'प्रतिबंधित करने अथवा पूर्णतया त्याग करने को कह सकता है ताकि वे वह अपनी ईश्वरदत्त निहित शक्तियो तथा प्रतिभाओं का अधिक स्वतंत्र रूप से प्रयोग कर सकें।' इस बात से कोई अन्तर नहीं आता कि एक मामले में राज्य पुत्र के हित के लिये पिता पर बल प्रयोग करता है और दूसरे मामले में वह प्रत्येक और सब पर प्रत्येक और सब के लिए बल प्रयोग करता है। ग्रीन की उक्ति को एक उचित चुनौती इस तर्क के आधार पर दी जा सकती है कि मद्य को क्रय-विक्रय करने की स्वतन्त्रता आवश्यक रूप से वैसी बाधा नहीं है जैसा कि अज्ञान है। अथवा इस आधार पर कि मद्यनिषेध अनिवार्य शिक्षा का समकक्ष नहीं है, क्योंकि मद्यनिषेध संयम तथा असंयम दोनो में हस्तक्षेप करता है जब कि अनिवार्य शिक्षा केवल मात्र और साधारण अज्ञान में हस्तक्षेप करती है।

अब हम सम्पत्ति की ओर ध्यान देगें। इसका आधार आवश्यक रूप से अन्य समस्त अधिकारों का आधार है। सम्पत्ति एक ऐसी क्षमता के स्वतंत्र

कार्यकरण की आवश्यक दशा है जिसका प्रयोग सब के समान हित के लिए किया जा सकता है। यह 'उस इच्छा को वास्तविक रूप देने का साधन है जो कि संभाव्य रूप में सामाजिक भलाई की ओर निदेशित इच्छा है।' इस प्रकार जीवन और स्वतंत्रता के मूलाधिकार में अपनी उप-सिद्धियों के रूप में एक ओर जैसा कि हमने देखा है, ज्ञान का अधिकार, और दूसरी ओर, जैसा कि हम अब देख रहे हैं, सम्पत्ति का अधिकार सन्निहित है। जैसा कि अरस्तू का कथन है, सम्पत्ति ऐसे 'उपकरणों का समूह' है जो व्यक्ति को समुदाय के सर्वोत्तम जीवन की ओर पग बढ़ाने के लिए आवश्यक तथा उपयोगी हैं। ऐसा सिद्धान्त अस्पष्ट प्रतीत हो सकता है। कुछ लोगों को यह सब प्रकार की वैयाक्तिक सम्पत्ति का समाज के आवश्यक नियम के रूप में औचित्य सिद्ध करना प्रतीत हो सकता है। दूसरों को यह वैयक्तिक सम्पत्ति की निन्दा प्रतीत हो सकती है, क्योंकि सम्पत्ति के, जिस रूप में कि वह आजकल पूँजीवादियों के हाथों में वर्तमान है, सामाजिक उत्तरदायित्व का ध्यान किए बिना प्रयोग किए जाने की प्रवृत्ति होती है। ग्रीन इन दोनों में से किसी परिसीमा तक नहीं जाता। एक ओर वह वैयक्तिक सम्पत्ति के दावे को बहुत छूट प्रदान करता है। वह कहता है कि यदि सम्पत्ति सामाजिक भलाई की ओर प्रभावी रूप में निदेशित इच्छा को वास्तविक रूप देने का साधन है, तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि वह सदैव और यथार्थ में सामाजिक भलाई के लिए ही उपभोग की जानी चाहिए (यह एक असंभव आदर्श है, जिसके लिए एक असंभाव्य परीक्षक-राज्य (inquisitorial state) की स्थापना आवश्यक होगी), वरन् यह कि वह सदैव इस प्रकार प्रयुक्त होने के योग्य होनी चाहिए। इस आधार पर वह पूँजी के रूप में सम्पत्ति का समर्थन करता है। उसमें स्वभावतः कुछ भी समाज-विरोधी नहीं है। प्रत्युत, यह निरंतर समुदाय के माध्यम से श्रमिकों को मजूरी तथा विनिमय कार्य करने वालों को लाभ के रूप में वितरित होती रहती है। न ही इस तथ्य में कि श्रमिक पूँजीपतियों के द्वारा बहुत बड़ी संख्या में काम पर लगाये जाते है कोई ऐसी बात है जो उन्हें स्वयं छोटे पैमाने के पूँजीपति होने से रोके। संभाव्य सामाजिक महत्व के उसी आधार पर ग्रीन सम्पत्ति की असमानता का भी बचाव करता है। सामाजिक भलाई के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न

व्यक्ति सामाजिक समष्टि (social whole) में विभिन्न स्थितियों की पूर्ति करें। भिन्न स्थितियों के लिए भिन्न साधनों की आवश्यकता होती है; और इस प्रकार सम्पत्ति के भेद संभावित रूप से (चाहे वास्तव में वे ऐसे न हों) समाज की भलाई के लिए ही हैं, और इस कारण वे सामाजिक चेतना के द्वारा औचित्यता के साथ प्रस्वीकृत किए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, सामाजिक कृत्य के इस प्रत्यक्ष विचार के अलावा भी, व्यक्ति की सामाजिक भलाई की इच्छा की सिद्धि के साधन किसी भी मात्रा में प्राप्त करने तथा उन्हें रखने की स्वतंत्रता का समर्थन करने वाली धारणा का प्रतिवाद करने के लिए सशक्त तर्क की आवश्यकता होगी। वैयक्तिक इच्छाओं का स्वतंत्र कार्य-करण ही एकमात्र वह उपाय है जिससे सामाजिक भलाई की जा सकती है; और उस स्वतंत्र कार्यकरण के लिए सम्पत्ति की असमानता को आवश्यक मूल्य माना जा सकता है। दूसरी ओर, हमें यह ध्यान रखना आवश्यक है कि समुदाय में प्रत्येक इच्छा को थोड़ी बहुत मात्रा में स्वतंत्रता की आवश्यकता होती है। परन्तु प्रत्येक इच्छा के लिए थोड़ी बहुत स्वतंत्रता की आवश्यकता की धारणा, यदि हम बहुतों की स्वतंत्रता को कुछों की स्वतंत्रता के कारण नष्ट होता पाते हैं, कुछ इच्छाओं को पूर्ण स्वतंत्रता दे देने की विरोधी है। यदि स्वतंत्र इच्छा को अपनी सिद्धि के साधन के रूप में वैयक्तिक सम्पत्ति आवश्यक है तो समस्त स्वतंत्र इच्छाओं के लिए वैयक्तिक सम्पत्ति आवश्यक है; और वैयक्तिक सम्पत्ति की व्यवस्था को ऐसा होना चाहिए कि समस्त इच्छाएँ ऐसे साधन को पा सकें, और जहाँ तक संभव हो सकता है पाती हों। इस प्रकार किसी प्रकार की सम्पत्ति जो एक व्यक्ति की इच्छा की, अन्य बहुत सों की इच्छा की सिद्धि न होने देकर स्वयं सिद्धि प्राप्त करती है, अव्यवहित रूप से निन्दनीय है।

इतना तो निश्चित ही है कि हमारी सम्पत्ति की व्यवस्था में यह संभव है कि बहुत से व्यक्ति जिन्हें केवल श्रम की शक्ति और उसे केवल अपने दैनिक भोजन मात्र के लिए पूँजीपति के हाथ बेचने का अधिकार प्राप्त है, 'उन नैतिक प्रयोजनों के लिए जो कि सम्पत्ति के स्वामित्व से पूरे होने चाहिए', सम्पत्ति के अधिकार से वंचित रखे जायँ। इस दुखपूर्ण परिणाम का

दोष किसे दिया जाय ? क्या सम्पत्ति की पूर्ण व्यवस्था को ? अथवा उसके केवल एक भाग को ? ग्रीन ने इनमें से दूसरा उत्तर दिया है। सम्पत्ति की व्यवस्था के एक भाग की दशा में ही ग्रीन को बुराई का स्रोत और उद्गम दिखाई दिया; तत्कालीन इंग्लैंड की भू-संपत्ति व्यवस्था को ही ग्रीन ने अस्वीकार किया। उसका मत था कि भू-सम्पत्ति अनुपम है। यह इस कारण अनुपम है कि यह सीमित है : 'एक आदमी जो पूँजी प्राप्त करता है वह दूसरे से नहीं ली जाती, परन्तु एक व्यक्ति बिना दूसरों के हिस्से को कम किए भूमि नहीं प्राप्त कर सकता।' यह इस कारण अनुपम है कि यही वह आधार है जिस पर आधुनिक समाज का पूर्ण प्रासाद अवस्थित है : 'केवल इसी से वे समस्त पदार्थ प्राप्त किए जा सकते हैं जो किसी उद्योग के लिए आवश्यक होते हैं; इस पर मनुष्यों को निवास के लिए जगह पाना आवश्यक है; एक दूसरे से संपर्क स्थापित करने के लिए उन्हें इसके ऊपर से गुजरना पड़ता है।' अपनी प्रकृति में अनुपम होने के साथ ही भू-सम्पत्ति का इतिहास भी अनुपम है। सर्वप्रथम अधिकांश देशों में प्रारंभिक स्वत्व-स्थापन बल के द्वारा प्रभावी किया गया। पुनः कृषिदासता की प्रणाली के द्वारा इसके उपयोग की पद्धति भी ऐसे परिणाम छोड़ गई है जो आज भी हमारे सामने हैं। 'भू-हीन ग्रामवासी, जिनके पूर्वज कृषि-दास (serfs) थे, बड़े नगरों के सर्वहारा वर्ग के जनक हैं।' अंत में, इतिहास की प्रक्रिया ने भूमि कुछ व्यक्तियों के हाथों में इकट्ठी कर दी है; और परिवारों के बन्दोबस्त के रूप में विधि के विकास ने उन कुछ लोगों को अपनी सम्पत्ति को दूसरों को देने से रोक रखा है, जबकि इसने उन्हें अपनी भूमि के साथ कुछ भी करने के अधिकार दे रखे हैं। इस कारण भूमि जो कि समुदाय के जीवन का आधार है, समाज के हित में अन्य समस्त वस्तुओं से कम नियंत्रित है। इस प्रकार ग्रीन की प्रवृति सम्पत्तिहीन सर्वहारा वर्ग के निर्माण का कारण भू-सम्पत्ति की व्यवस्था को मानने की ओर दिखाई देती है। इतिहास को एक विस्तृत दृष्टिकोण से देखने पर कोई भी व्यक्ति यह बात स्वीकार किए बिना नहीं रह सकता कि इस दोषारोपण में बहुत काफी सत्य है—यद्यपि इसके बल को कम करने के लिए बड़े भूस्वामियों के द्वारा अनेक प्रकार से भूतकाल में की गई भलाई तथा वर्तमानकाल में पूँजीपतियों के द्वारा प्राचीन कृषि सन्बन्धी

बुरी परंपराओं का पालन करते हुए की जाने वाली बुराई को उपस्थित किया जा सकता है। न ही हमें इस व्यवस्था के सुधार के लिए ग्रीन के व्यावहारिक प्रस्तावो से उन्हें अतिवादी मानकर विवाद में पड़ना चाहिए। वह पारिवारिक बन्दोबस्तों के विरुद्ध है, जो कि स्वामी की स्वतंत्रता और समुदाय के हित, जिसके लिये अपनी भूमि जोतने वाले छोटे भूस्वामियों के वर्ग की सामाजिक व्यवस्था और सन्तुष्टि के मुख्य आश्रय के रूप में आवश्यकता है, दोनो के विरोधी हैं। वह भूमि सम्बन्धी वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकारो के प्रयोग पर समुदाय का वैसा नियन्त्रण चाहता था जैसा कि उसने इसके पूर्व प्रयुक्त नहीं किया था। और वह यह भी चाहता था कि यह नियंत्रण कड़ा होना चाहिए क्योकि नियंत्रित वस्तु इतने अधिक निरपेक्ष रूप से अनुपम है। दूसरी ओर वह 'अनुपार्जित वृद्धि' (unearned increment) के राज्य द्वारा हस्तगत किए जाने का इस आधार पर विरोध करता है कि यह वैयक्तिक उपक्रम को जो कि भूमि के विकास तथा उसके द्वारा समाज की सेवा के लिये निदेशित किया जा सकता है, कम किये बिना कठिनाई से ही किया जा सकता है।

× × ×

ग्रीन के लिखने के समय से तीस वर्ष से अधिक व्यतीत हो चुके हैं और और आज[१] एक उग्र आदर्शवादी विचारक (Radical Idealist) उसके सामाजिक विश्लेषण को—यथा पूँजी सम्बन्धी उसके दृष्टिकोण तथा सामाजिक नीति सम्बन्ध उसके कुछेक सुझावों, उदाहरणार्थ उसके द्वारा किये गये छोटे भूस्वामियो के एक वर्ग के प्रतिपादन तथा उसकी अनुपार्जित वृद्धि को हस्तगत करने के समस्त प्रयत्नो को निंदा को, मात्र रूढ़िवादिता कहकर दोषयुक्त बता सकता है। परन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण उसके सिद्धान्त हैं न कि किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों के समूह का उसका विश्लेषण अथवा एक विशिष्ट नीति सम्बन्धी उसके सुझाव। यदि उसके सिद्धान्त सत्य हैं तो प्रत्येक युग अपनी आवश्यकताओ को ध्यान में रख कर उनकी प्रगतिवादी व्याख्या कर सकता है। उसके सामान्य सिद्धान्तों के बारे म कम से कम हम एक बात कह सकते हैं। उसने यूनान

१ ये पंक्तियाँ सन् १६१४ में लिखी गई थीं—(अनुवादक)

और जर्मनी के दर्शन को आत्मसात कर लिया है और अंग्रेज़ों के लिये अंग्रेज़ी सतर्कता की पूरी मात्रा के साथ एवं 'प्रजा की स्वतंत्रता' के गंभीर भाव तथा 'राज्य के हित' सम्बन्धी दृढ़ अविश्वास—जो कि सब अंग्रेज़ों में पाए जाता है—का ध्यान रख उसकी व्याख्या की है। व्यक्ति के महत्त्व सम्बन्धी उसके दृढ़ विश्वास का श्रेय अंशतः हम उपरोक्त तथ्य और अंशतः काण्ट के प्रभाव को दे सकते हैं। वह वस्तुतः व्यक्ति को समाज के एक सदस्य के रूप देखता है न कि असंबद्ध और इसी कारण अवास्तविक अणु के रूप में। और वह यह मानता है कि व्यक्ति की स्वतंत्र इच्छा का प्रयोग कोई भी और किसी भी प्रकार के उद्देश्य की कामना करने के लिए अथवा दूसरों के उद्देश्यों से असम्बद्ध उद्देश्यों की कामना करने के लिये नहीं होना चाहिए, वरन् उन आदर्श उद्देश्यों की कामना करने के लिये जो उसमें और दूसरी सभी इच्छाओं में समान हैं। परन्तु इतना होने पर भी उसके समस्त चिन्तन का आधार व्यक्ति ही रहता है। ग्रीन राज्य की महत्ता के किसी आदर्शीकरण में फँसा हुआ नहीं है; वह प्लेटोवादी होने की अपेक्षा अरस्तूवादी अधिक है और एक हीगलवादी की अपेक्षा काण्टवादी। वह यह अनुभव करता है कि एक सच्चे राजनीतिक सिद्धान्त के द्वारा राज्य पर, उसके व्यक्ति की इच्छा से समस्त सम्बन्धों में, उसकी शक्ति-वाहक (Vehicle of force) होने की अपनी प्रकृति के कारण आरोपित आवश्यक मर्यादाओं का प्रस्वीकार किया जाना आवश्यक है। राज्य आन्तरिक क्षेत्र में मर्यादित तो है ही, वह वाह्य क्षेत्र में भी मर्यादित है। आन्तरिक मर्यादा पर ग्रीन ने विशेष बल दिया। 'नागरिक जीवन के संस्थानों का महत्व उनके व्यक्तियों के स्वभाव की इच्छा और विवेक की क्षमताओं को वास्तविक रूप देने के कार्य करने में हैं।' 'राष्ट्र के जीवन का राष्ट्र के अंगीभूत व्यक्तियों के जीवन से पृथक कोई अस्तित्व नहीं है।' राष्ट्रीय कल्याण का एकमात्र मानदंड 'व्यक्तियों का महत्त्व' है। मिल ने इन शब्दों का समर्थन किया होता, और वस्तुतः उसने स्वयं इनके लगभग समान शब्द ही लिखे हैं। मिल की भाँति ग्रीन ने भी 'व्यक्तियों के महत्त्व' के इस आधार पर ऐसे कार्यों में जिन्हें राज्य नियंत्रित कर सकता है और उनमें जिन्हें वह स्पर्श नहीं कर सकता एक भेद खड़ा किया है, जो राज्य

की शक्ति को सीमित करने तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करने में सहायक हो सकता है। परन्तु ग्रीन के द्वारा किये गये भेद और मिल के द्वारा किये गये भेद में बहुत बड़ा अन्तर है। मिल स्व-सम्बन्धी (self-regarding) और अन्य-सम्बन्धी (other regarding) कार्यों में झूठा भेद करता है। ग्रीन अधिकारों के पोषण के लिये आवश्यक और महत्त्वपूर्ण-वाह्य कार्यों में—उन कार्यों में जिनको राज्य उनके वाह्य होने के कारण वाह्य शक्ति से सुनिश्चित कर सकता है—तथा उन कार्यों में जिनका मूल आन्तरिक इच्छा है तथा जो तभी महत्त्वपूर्ण होते है जब उनका मूल ऐसी इच्छा होती है और इस कारण जो किसी भी वाह्य शक्ति के द्वारा सुनिश्चित नही किए जा सकते—वास्तविक भेद प्रस्तुत करता है। एक प्रकार के कार्य न केवल बलपूर्वक कराये जा सकते हैं वरन् उनको कराया भी जाना चाहिए, क्योकि यह व्यक्ति के महत्त्व के लिये आवश्यक है; दूसरे प्रकार के कार्य न केवल बलपूर्वक कराये ही नहीं जा सकते, वरन् उन्हें कराया भी नहीं जाना चाहिए क्योंकि वह व्यक्ति के महत्त्व के लिये हानिकारक है। और इतने पर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि हमारे इस भेद के द्वारा राज्य की मर्यादाओ पर जोर देने पर भी राज्य का एक चरम नैतिक महत्त्व है और वह अपनी मर्यादाओं के कारण भी गरिमामय है। यदि वह नैतिकता में हस्तक्षेप नहीं करता तो इसका कारण नैतिकता का हित ही है; यदि वह वाह्य कार्यों में हस्तक्षेप करता है तो इस हस्तक्षेप का कारण भी नैतिकता का हित ही है। वह एक नैतिक उद्देश्य से सजीव नैतिक प्राणी है। यदि हम अपनी नैतिकता उससे प्राप्त नही करते तो उससे हम वे अधिकार तो प्राप्त करते ही है जो नैतिकता की दशाएँ है, और इसलिये राज्य के कारण ही हम नैतिक हैं। राज्य हमारे अधिकारो का स्रोत और दाता है। यह सम्भव है कि राज्य में वर्तमान होने के पूर्व अधिकार परिवार मे विद्यमान रहे हो; जब राज्य आ गया है और उसने उन अधिकारो की प्रत्याभूति कर दी है तो वे राज्य में वर्तमान हैं और राज्य ही उनका मूल है। राज्य मे अनुपस्थित आदर्श अधिकारो की कल्पना की जा सकती है; परन्तु राज्य में उपस्थित होने पर ही वे वास्तविक अधिकार बनते हैं। आदर्श अधिकारो के नाम पर राज्य को चुनौती देने में हम सही हो सकते हैं, परन्तु

हमें राज्य के अभाव में किसी प्रकार के अधिकारों की कल्पना नहीं करना चाहिये। यदि हम राज्य को चुनौती देते हैं तो हमें ऐसी चुनौती डरते और काँपते हुए ही देनी चाहिए। पूर्वमान्यता सदैव हमारे विपक्ष में है। प्रस्वीकृत अधिकारों की सम्पूर्ण व्यवस्था प्रायः निश्चय ही अपने प्रति आदर्श से आदर्श अधिकारों से भी अधिक निष्ठा की अपेक्षा करेगी और वह उस निष्ठा की अधिकारिणी भी होगी।

अध्याय ३

आदर्शवादी विचारक—ब्रेडले और बोसांके

(The Idealist School—Bradley and Bosanquet)

ग्रीन की राज्य की कल्पना से अधिक हीगलवादी कल्पना हमें एफ० एच० ब्रेडले की पुस्तक 'एथिकल स्टडीज़' के एक अध्याय 'माई स्टेशन एन्ड इट्स ड्यूटीज' में मिलती है। सक्षेप में, और संभवतः इसी कारण भ्रान्तिपूर्ण रूप में, यह कहा जा सकता है कि यह अध्याय प्लेटो की 'धर्म' (Justice) संबंधी कल्पना को हीगल की 'सिट्लिचकीट' (Sittlichkeit) की कल्पना से संयुक्त कर देता है। प्लेटो की धारणा थी कि समुदाय तथा उसके सदस्यों में धर्म (जिसे धर्मपरायणता—मनुष्य को अपने संपूर्ण कर्तव्य को पूरा करना कहना अधिक उचित होगा) की प्राप्ति तभी हो सकती है जब प्रत्येक सदस्य समुदाय मे अपना पद अथवा स्थान ग्रहण करे और उस पद अथवा स्थान के कृत्य को अनन्य रूप से तथा निष्ठा के साथ पूरा करे। हीगल ने एक सामाजिक न्यायपरायणता (social righteousness) की कल्पना की थी—'सिट्लिच-कीट' के लिए कोई अंग्रेजी शब्द नहीं है—जो कि न तो एक आंतरिक अंतः-करण की आत्मगत नैतिकता है और न मात्र विधि की वाह्य वैधानिकता, परंतु दोनो का सम्मिलित और श्रेष्ठतर स्वरूप है। सामाजिक धर्मपरायणता सामा-जिक मत मे अभिव्यक्त तथा सम्पूर्ण जनता की सामाजिक चेतना के द्वारा प्रभावी की गई जीवन की एक भावना या स्वभाव है; साथ ही यह एक मन या आत्मचेतना भी है—क्योकि यह एक भावना भी है, और एक वस्तु अथवा वाह्य अस्तित्व भी है, क्योकि यह स्वभाव और व्यवहार की एक साक्षात् व्यवस्था है। इसके द्वारा हमारे पारस्परिक सम्बन्ध नियंत्रित किए जाते हैं; और चूंकि हमारे सम्बन्ध समुदाय में हमारे पद या स्थान से उदित होते हैं—अथवा, चूंकि हमारे सम्बन्धो का योग हमारी स्थिति या पद का निर्माण करता

है—हम यह कह सकते हैं कि वह हमारी स्थिति या पद को नियंत्रित करता है। सामाजिक धर्मपरायणता हमारे अन्दर है और हम 'नैतिक' अथवा विधि के अन्तर्गत रह कर जितने धर्मपरायण हो सकते है उससे तब अधिक पूर्ण भाव में धर्मपरायण होते हैं जब हम अपने लोगों के बीच अपने पद का कार्य सही अर्थ में पूरा करते हैं। तब अपने लोगों की भावना हमारे अन्दर निवास करती है और 'हमारा जीवन अपने लोगों के समान जीवन में हमारे साथियों के साथ लुप्त हो जाता है।'

इस प्रकार प्लेटो और हीगल दोनों में एक नैतक सावयव (moral organism) की कल्पना अन्तर्निहित है। यदि, जैसा कि प्लेटो का कथन है, मेरे पद का एक उचित कृत्य है जिसका पालन करना ही मेरे लिए धर्म-परायणता है, तो अपने कृत्य की व्याख्या करने के लिए मुझे एक सावयवी नैतिक समष्टि अथवा व्यवस्था की पूर्व कल्पना कर लेनी चाहिए—जो कि अपने चरम उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने अंगों के कृत्य निर्धारित करने के अर्थ में सावयवी हो, तथा इस अर्थ में नैतिक हो कि उसका चरम उद्देश्य नैतिक है और उसके भाग नैतिक अभिकर्त्ता हैं। पुनः जैसा हीगल का कथन है, यदि एक राष्ट्र की आत्मा (जो कि सामाजिक धर्मपरायणता की भावना है) प्रत्येक व्यक्ति पर उसके अन्दर से इस प्रकार पूर्णतः नियंत्रण और शासन करती है कि वह 'उसे स्वयं अपनी सत्ता के रूप में अनुभव करता है' और 'उसे अपना निरपेक्ष चरम उद्देश्य मानता है' तो हमें उस भावना का स्पष्टी-करण करने के लिए एक नैतिक व्यवस्था की 'सावयवी यथार्थता' को मानना होगा। नैतिक सावयव की यही धारणा है जिसे ब्रेडले उपस्थित करता है। यह दैनिक अनुभव में अन्तर्भूत है और यह उस अनुभव की एक मात्र व्याख्या है। वस्तुतः जिसे हम व्यक्ति कहते हैं वह समुदाय के कारण ही वह है जो वह है और समुदाय नाम मात्र की वस्तु हीं नहीं होते, वरन् कुछ यथार्थता रखते हैं। अपने जन्म के समय बालक जो कुछ भी होता है वह समुदायों के ही कारण होता है, उसमें कुछ परिवार के लक्षण होते हैं, कुछ राष्ट्र के तथा कुछ सभ्यता के जो कि मानव समाज की देन होते हैं। जैसे-जैसे वह बढ़ता है, वह समुदाय जिसमें वह रहता है अपने को उसके जीवन में, उस

भाषा के द्वारा जो वह सीखता है तथा उस सामाजिक वातावरण के द्वारा जिसमें वह रहता है, भर देता है। इस प्रकार उसकी सत्ता की स्वीकृति में पूर्ण रूप से समुदाय के सम्बन्ध अन्तर्निहित रहते हैं। वह जो कुछ भी है अपनी प्रकृति में सामाजिक राज्य के सम्बन्धों को सम्मिलित कर लेने से हैं; और यदि नैतिकता से 'स्व' की पूर्णता का अभिप्राय है तो वह इन सम्बन्धों की पूर्णता ही है। परन्तु ये सम्बन्ध ही उसकी स्थिति या पद का निर्माण करते हैं; और इस कारण हम यह कह सकते हैं कि उसकी नैतिकता उसके पद और उसके कर्तव्यों की पूर्ति में ही है। यदि हम इस समय इस-प्रश्न को कि क्या सामाजिक राज्य के सम्बन्धों से स्व की समाप्ति हो जाती है अथवा उसके 'दैवी राज्य' (Kingdom of Heaven) के उच्चतर सम्बन्ध भी होते हैं, आँखों से ओझल कर दें तो हम कह सकते हैं कि 'अपने नैतिक कर्तव्यों सहित' मनुष्य का जीवन मुख्यतः समष्टियों की व्यवस्था अर्थात् राज्य में उसकी स्थिति पूर्ण होती है, और यह अंशतः अपनी विधियो और संस्थानो से और इससे भी अधिक अपनी भावना से उसे वह जीवन प्रदान करता है जिसे वह व्यतीत करता है और व्यतीत करना चाहिये। और राज्य को एक ऐसी व्यवस्था मान लेने पर जो एक स्तर पर अपने को परिवार जैसी 'समष्टियों' से समायोजित करती है तथा दूसरे स्तर पर प्रत्येक वैयक्तिक एकक को समायोजित करती है और स्थिति प्रदान करती है (समष्टियों के द्वारा एवं प्रत्यक्ष रूप से, दोनों प्रकार से) तो हम उसे एक नैतिक सावयव, एक समान उद्देश्य अथवा कृत्य से प्रेरित एक व्यवस्थित समष्टि, कह सकते हैं। इस रूप में इसका एक वाह्य पक्ष है—संस्थानो से निर्मित एक शरीर; इसका एक आन्तरिक पक्ष भी है—एक आत्मा या भावना जो शरीर को पोषित करती है। और चूँकि यह एक नैतिक सावयव है क्योंकि, यह कहा जा सकता है कि इसके अंग स्वयं सचेत नैतिक अभिकर्त्ता हैं—वह भावना इन अंगों में ही निवास करती है और उसकी चेतना में जीवित रहती है। एक ऐसे सावयव में—और यही स्थल है जहाँ यह एक प्राणी-सावयव (animal organism) से भिन्न है और जिसके कारण हमें नैतिक शब्द का उपयोग करना पड़ता है—अंग सचेत है; वे अपने को एक समष्टि के भाग की स्थिति के रूप में जानते हैं जिसके वे भाग हैं। जहाँ तक उनको

ऐसा ज्ञान है, और उनमें उस पर आधारित एक इच्छा है, वहाँ तक नैतिक सावयव आत्मचेतन तथा अपने आप इच्छा करने वाला है। और हीगल का राज्य को एक 'आत्म-चेतन नैतिक तत्व' (self-conscious ethical substance), एक 'आत्म-बुद्ध तथा आत्म-व्यंजक व्यक्ति, (self-knowing and self-actualising individual) कहने से यही अर्थ था। इच्छा और ज्ञान व्यक्तियों की इच्छा और ज्ञान ही हैं, परन्तु ऐसे व्यक्तियों की (१) जिनकी इच्छा की अन्तर्वस्तु नैतिक सावयव अपने वाह्य रूप में, एक सम्बन्ध के समूह के रूप में है तथा, (२) जो अपना इस अंतर्वस्तु की इच्छा रखने वाले के रूप में ज्ञान रखते हैं और इस प्रकार नैतिक सावयव के आंतरिक पक्ष—एक राष्ट्र की भावना के रूप में—का निर्माण करते हैं।

इस प्रकार एक ओर हमें यह मानना ही चाहिये की राज्य जीवधारी है; कि राष्ट्र की एक आत्मा होती है जो उसके नागरिकों में आत्मचेतना होती है; और यह सजीव आत्मा प्रत्येक नागरिक को उसकी उद्देश्यपूर्ति का क्षेत्र सौंपती है। इतने पर भी हमें दूसरी ओर यह भी मानना ही चाहिये कि व्यक्ति जीवित रहते हैं और तभी तथा उस सीमा तक अपने पूर्णरूप में जीवित रहते हैं जब वे अपने विशिष्ट क्षेत्र में कार्यरत रहते हैं। 'मेरे जीवन का विस्तार मेरे कार्यों की अधिकता से नहीं मापा जा सकता और न इस बात से कि मै दूसरे मनष्यों के बीच कितना स्थान प्राप्त कर लेता हूँ; परन्तु उस सम्पूर्ण जीवन की पूर्णता के द्वारा जिसे कि मैं अपना जानता हूँ।' यह स्वतंत्र नैतिक इच्छा का राज्य की व्यवस्था से एक तत्व के दमन तथा दूसरे की असंभाव्य सीमा तक गौरव प्रदान कर प्राप्त किया गया सरल समाधान कहा जा सकता है। और ब्रेडले स्वयं यह तर्क प्रस्तुत करने पर भी कि अपनी स्थिति के कार्यों की पूर्ति नैतिकता का एक अच्छा खासा व्यावहारिक नियम है, यह नहीं कहता कि यह एक पूर्ण अथवा निर्दोष आदर्श है। वस्तुतः, यह दावा करना कि राज्य की पूर्ण व्यवस्था तथा उसके द्वारा सौंपे गये कृत्य बीते हुए समय में ऐसे थे जिन्हें हमारी नैतिक इच्छा अस्वीकृत नहीं कर सकती, इस प्रकार के नैतिकता के नियम की मान्यता को प्रभावित नहीं करता। इस दावे का सामना इस उत्तर से किया जा सकता है कि यदि हम एक साध्य की दिशा में मनुष्य के विकास को स्वीकार करते हैं

तो विकास में वृद्धि के सोपान अन्तर्निहित है, और प्रत्येक सोपान में मनुष्य का सार, जहाँ तक उसकी वृद्धि के सोपान के साथ ऐसा संभव है, राज्य की योजना के द्वारा प्राप्त होता है और इस कारण राज्य उसकी नैतिक इच्छा से मान्यता की माँग कर सकता है। परन्तु कुछ अन्य दावे भी हैं जो अधिक महत्वपूर्ण हैं और उन्हें ब्रेडले स्वयं प्रस्तुत करता है। आज के राज्य का आज की नैतिकता से समाधान न हो सके यह संभव है। राज्य एक अव्यवस्थित तथा अवनतिशील दशा में हो सकता है; ऐसा न होने पर चूँकि वह विकास की दशा में है, अपने अतीत के नैतिकता के विरोधी अनिश्चत तत्वों को भी बनाए रख सकता है। पुनः हमें व्यक्ति की विश्ववादी नैतिकता पर भी मनन करना है जो कि एक विशिष्ट समुदाय में उसके पद को सौंपे गये कार्य को लाँघने का प्रयत्न कर सकता है। उदाहरणार्थ, हमको सार्वभौमिक महत्व के दार्शनिक सत्य अथवा कलात्मक सौन्दर्य को उत्पन्न करने की इच्छा को जिसे एक पद के कर्तव्य से कठिनाई से ही सम्बन्ध किया जा सकता है, स्वीकार करना चाहिये। ऐसी स्वीकृति हमें राज्य की अपेक्षा एक उच्चतर सावयव की धारणा की ओर ले जा सकती, अथवा उठा सकती है। निष्ठा के द्वारा हम समस्त मानवता के एक दैवी सावयव समष्टि के रूप में वास्तवीकरण में विश्वास कर सकते हैं; अथवा जैसा कि सेंट पॉल ने लिखा था, हम इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि हम 'ईसा की देह रचना के लिए' जो कि 'प्रत्येक जोड़ के अनुदाय के द्वारा ठीक प्रकार से जड़ा हुआ तथा सुसम्बद्ध है' विभिन्न रूप से संपन्न अवयव हैं।

यदि हम 'मेरी स्थिति और उसके कर्तव्य' के सिद्धान्त की कुछ आलोचना करने का प्रयत्न करें तो उसकी दिशा यह होगी। राज्य सम्बन्धी हीगल का पूर्ण सिद्धान्त केवल राज्य का सिद्धान्त ही नहीं है और इस कारण उसे राज्य के सिद्धान्तों में से एक नहीं माना जा सकता। हीगल का राज्य वस्तुतः समाज भी है और राज्य भी। वह संवास (association) के तथ्य से उदय होने वाले समस्त प्रभावों की जटिल समष्टि है। ऐसा संश्लेषण 'पूर्णता की उस जर्मन सहज प्रवृत्ति' का परिणाम है जिसे, जैसा कि ग्रीन ने 'दि इंग्लिश कॉमनवैल्थ' या अपने भाषणों में कहा है, चर्च और राज्य को एक ही आध्यात्मिक सावयव के दो

पक्ष मानने में कोई कठिनाई नहीं होती। परंतु जिस प्रकार हमें चर्च और राज्य में भेद करना आवश्यक है उसी प्रकार हमें राज्य और समाज में भी भेद करना चाहिये। चर्च और राज्य में भेद न करने के परिणामस्वरूप राज्य में चर्च विलय हो जाता है और मात्र क्षेत्रीय चर्च क्षेत्रीय राज्य के सहकारी के रूप में सामने आता है; और राज्य और समाज में भेद न करने का परिणाम राज्य द्वारा जीवन का अमर्यादित नियंत्रण हो सकता है। समाज (उसके 'सामाजिक वातावरण', उसकी सामाजिक नैतिकता और उसकी सामाजिक संस्थाओं सहित) तथा राज्य (उसकी राजनीतिक संस्थाओं, उसकी विधियों और उसके पदाधिकारियों सहित) में भेद करना, जैसाकि हम इंग्लैंडवासियों ने सदैव किया है, अधिक सुरक्षित मार्ग है। दोनों एक ही नैतिक उद्देश्य से अनुप्राणित हैं; वे एक दूसरे की सीमाओं को लाँघते हैं, एक दूसरे में घुलते-मिलते हैं, और एक दूसरे को सहायता देते हैं। परन्तु स्थूल रूप से हम यह कह सकते हैं कि एक का क्षेत्र स्वेच्छा पर आधारित सहयोग है, उसकी शक्ति सद्-इच्छा की शक्ति है, और उसकी पद्धति नमनशील है; जबकि दूसरे का क्षेत्र यांत्रिक कार्य का क्षेत्र है, उसकी शक्ति बल है और उसकी पद्धति अनमनीय है। यदि हम इस प्रकार का भेद स्थापित करें—यदि हम इस प्रकार वाह्य वस्तुओं को शक्ति के द्वारा नियंत्रित करते हुए राज्य की (यद्यपि सदैव इसका चरमोद्देश्य धर्मपरायणता रहता हो) कल्पना करें तो हम आवश्यक रूप से राज्य के प्रति एक अधिक सतर्कतापूर्ण रुख़ अपनाते हैं। यह केवल नकारात्मक दृष्टिकोण, अथवा राज्य के विरुद्ध 'व्यक्ति' का रक्षण—जैसे कि राज्य अपनी प्रकृति से ही कोई शत्रु हो—न होगा। इसके विपरीत हमारा दृष्टिकोण राजनीतिक संरचना के चरम मार्ग की ओर, तब तक जब तक हमने सामाजिक स्रोतों को समाप्त न कर लिया हो और उन्हें अपर्याप्त न पाया हो, अथवा जब तक हमने किसी सामाजिक पद्धति को आज़माया और परखा न हो और उसे इतना अच्छा और इतना निश्चित न पाया हो कि उसे निःशंक होकर राज्य के द्वारा लागू होनेवाला अनिवार्य और अनमनीय नियम बना दिया जाय—दौड़ने के प्रति अनिच्छा का दृष्टिकोण होगा। क्योंकि यदि समाज की अपेक्षा राज्य उन उद्देश्यों को अधिक उत्तम

रीति से प्राप्त कर सकता है जो दोनों के समान उद्देश्य हैं,[१] तो मनुष्य बनाम राज्य की धारणा का पक्ष लेने की तो बात ही क्या, हम समाज बनाम राज्य की धारणा का पक्ष भी नहीं लेंगे।

इस प्रकार का भेद करते हुए हम अपने भिन्न दृष्टिकोण से हीगल के दर्शन के अधिकांश भाग का अनुमोदन कर सकते हैं। यदि दोनों पर एक साथ विचार किया जाय तो राज्य और समाज, भलाई की एक ऐसी वस्तुगत तथा वाह्य व्यवस्था का सृजन करते है जो हमारी इच्छा की अंतर्वस्तु हो सकती है। जब हम उस व्यवस्था में अपने स्थान की पूति करने का प्रयत्न करते हैं तो हम यह पा सकते हैं कि हमारी स्थिति और उसके कर्तव्य हमारी नैतिक प्रकृति की माँगों को पूर्णतः संतुष्ट कर देते हैं। ग्रीन के वाक्य में हम कह सकते हैं (१) कि राज्य के द्वारा नैतिक आदर्श विधियों और संस्थाओं, सम्बन्धों, नम्रताओं तथा उदारताओं एवं कलाओं और सौन्दर्य से युक्त जीवन के एक जटिल संगठन में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मूर्तिमत्ता प्राप्त करता है; और (२) राज्य के द्वारा, 'वंशानुक्रम तथा शिक्षा के द्वारा', सामाजिक संस्थाओं और कलाओं के कार्यकरण के द्वारा, हम एक 'समवर्ती अनुशासन' प्राप्त करते हैं जो हमें उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रयत्न करने की शक्ति देता है। इतने पर भी यह कहते समय हमें ग्रीन की भाँति विषय के दूसरे पक्ष को भी स्मरण रखना चाहिये। हमें स्मरण रखना चाहिए (१) कि राज्य, राज्य के रूप में, बाधाओं को दूर कर केवल अप्रत्यक्ष रूप से नैतिकता को बढ़ा

---

१ हीगल राज्य और समाज (अधिक उचित 'नागरिक-समाज' कहना होगा) में भेद करता है, परंतु एक भिन्न अर्थ में। उसके लिये 'समाज' का अर्थ होता है आर्थिक संगठन, जिसके साथ उसकी आवश्यकताओं की व्यवस्था, उन आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिये उसका उत्पादन तथा उस उत्पादन को जारी रखने के लिये श्रम-विभाजन (जिसका परिणाम होता है वर्ग-विभेद) संयुक्त हैं। यह मनुष्यों का वही निकाय है जिनसे राज्य बनता है परन्तु कम शक्ति तथा एक निम्नतर पक्ष में। राज्य अथवा राजनीतिक संगठन उसको उठा कर एक उच्चतर वस्तु में परिवर्तित कर देता है।

सकता है, अथवा दूसरे शब्दों में, वह अधिकारों की प्रत्याभूति के द्वारा ऐसा कर सकता है, जो कि नैतिकता न होकर नैतिकता की दशाएँ हैं। यदि हम राज्य की इस मर्यादा को भूल जाते हैं तो हम राज्य को इतना अधिक आदर्श रूप दे देने की गलती कर सकते हैं कि हम उसे सम्पूर्ण जीवन का नियमन ही सौंप दें। हमें यह स्मरण रखना चाहिए (२) कि समाज और राज्य हमारी नैतिकता को जो कुछ भी देता है हमें उसे उसके नैतिक बनने के पूर्व पूर्णतः अपना बनाना होता है। प्रेरक हेतु हमारा ही प्रेरक हेतु होना चाहिये, उद्देश्य हमारा उद्देश्य और इच्छा की पूर्ण अभिव्यक्ति हमारी स्वतंत्र आत्माभिव्यक्ति होनी चाहिए। इस सत्य से जिसे काण्ट ने इतने सशक्त रूप में प्रतिपादित किया है, हीगल पूर्णतः भिज्ञ है। वह करना यह चाहता है कि इस स्वतंत्र इच्छा को जो अपने आप में किसी उद्देश्य से अनभिज्ञ और थोथी है, सामाजिक व्यवस्था की अंतर्वस्तु से पूर्ण कर दे। ऐसी थोथी इच्छा की मात्र 'नैतिकता' का स्थान एक समान रूप से स्वतंत्र परन्तु अंतर्वस्तु की दृष्टि से अधिक समृद्ध इच्छा की 'सामाजिक धर्मपरायणता' (social righteousness) को देना चाहता है। कठिन बात यह देखना है कि यह स्वतंत्र इच्छा किस प्रकार सदैव 'सामाजिक धर्मपरायणता' की योजना में अपना स्थान जानने और उसे प्राप्त करने में पूर्ण और स्वतंत्र संतुष्टि प्राप्त करती है। इच्छा योजना को समझने में असफल रह सकती है, जो कि उस दशा में उसके लिए अज्ञेय ही रहेगी। अथवा यह हो सकता है कि वह उसे समझ ले परन्तु यह पाए कि वह वैसी नहीं है जिसकी वह अपेक्षा करती है और उस अवस्था में भी योजना उसके लिए अज्ञेय रहेगी। हम यह कह कर अपने को संतुष्ट कर सकते हैं कि एक दशा हमारे सम्मुख अपूर्ण मनुष्य प्रस्तुत करती है और दूसरी अपूर्ण समाज। परन्तु ऐसा सन्तोष-लाभ करने के पूर्व हमें अपूर्ण मनुष्य और अपूर्ण समाज की समस्या का पूरी तरह सामना करना चाहिए। पूर्व इसके कि हम सामाजिक व्यवस्था में स्वतंत्र इच्छा की सिद्धि देखें, हमें उस मनुष्य के बारे में विचार करना चाहिये जिसकी इच्छा से समाज आगे होता है और उस मनुष्य के बारे में जिसकी इच्छा समाज से आगे होती है।

× × ×

इसी बात का बोसांके ने अपनी पुस्तक 'दि फ़िल्साफ़िकल थियरी ऑफ दि स्टेट' में प्रयत्न किया है। बोसांके ग्रीन के सिद्धांतों को स्वीकार कर लेता है, परंतु वह बाद के समय के सामाजिक अनुभव तथा मनोवैज्ञानिक गवेषणाओं की सहायता का ग्रीन के परिणामों को आगे बढ़ाने के लिए उपयोग करता है। अधिक पूर्ण अनुभव तथा नवीन सामग्री के प्रकाश में वह उनमें से कुछ मर्यादाओं को दूर कर देता है जिनसे ग्रीन ने अपने राज्य की स्वतंत्र इच्छा को वास्तविक रूप देनेवाला अंग बनानेवाले सिद्धान्त को बाँध दिया था; और इस प्रकार वह ग्रीन के दर्शन को एक ऐसे बिंदु तक ले जाता है जहाँ वह यदि हीगल की राज्य-सम्बन्धी धारणा से पूर्ण रूप से मिल नहीं जाता तो उसके बहुत निकट पहुँच जाता है।

अपने राज्य-सम्बन्धी सिद्धान्त की रचना में बोसांके रूसो के विचारों के पुष्टीकरण से आरंभ करता है। वह रूसो को राज्य के आदर्शवादी अथवा दार्शनिक सिद्धान्त के संस्थापक (अथवा यह कहा जायँ कि पुर्नसंस्थापक) के सही स्थान पर आरूढ़ करता है; और वह जर्मनी के आदर्शवादियों का रूसो की व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं राज्य की सामान्य इच्छा, तथा दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध की धारणा के प्रति आभार दिखाता है तथा उनके ऋण को स्वीकार करता है। उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त, जो कि 'कान्ट्रेट सोशल' (Contrat Social) का अनुगामी है तथा उसके सहानुभूति पूर्ण विश्लेषण पर आधारित है,—मूलतः ग्रीन के सिद्धान्त के समान ही है। राज्य के कार्यों की प्रकृति तथा उनकी मर्यादाओं के बारे में उसकी धारणा ग्रीन की धारणा की भाँति ही नकारात्मक हैं। राज्य के उन कार्यों का, जिन्हें वह कर सकता है, उपकरण बल हैं क्षेत्र वाह्य वस्तुएँ हैं, तथा मानवीय क्षमता को "बाधित करनेवाली बातों को बाधित करना" कृत्य है। काँट से लिया गया, तथा ग्रीन द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त के समरूप, यह सिद्धान्त अंतिम रूप से सद्इच्छा की स्वायत्तता के सर्वोच्च और चरम महत्व की कल्पना पर आधारित है। राज्य उस इच्छा की स्वतंत्रता की दशाओं को, किसी ऐसी शक्ति को दूर करने के लिए शक्ति का तथा ऐसी बाधा को बाधित करने के लिए बाधाओं का, जो उसके प्रयोग में विरोधी हों, उपयोग कर सुनिश्चित कर सकता है। जो कार्य वह नहीं कर

सकता, वह है स्वयं उस इच्छा का निर्देशन या नियंत्रण। वे दशाएँ जिन्हें राज्य सुनिश्चित करता है अधिकार हैं; और इसलिए बोसांके, ग्रीन की भाँति, अधिकारों को उन वाह्य दशाओं से, जो सद्इच्छा के स्वतंत्र कार्यकरण के लिए आवश्यक हैं, सम्बन्धित मानता है।

इस मार्ग पर चल कर बोसांके राज्य—राज्य, एक शक्ति प्रयोग करने वाले राजनीतिक संगठन के रूप में—तथा, अपनी समस्त संस्थाओं सहित समाज, के उस अन्तर पर पहुँचता है जिसके बारे में हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। 'समाज शब्द से वह सामाजिक सहकारिता की उस विशाल जटिल व्यवस्था का जो राज्य और उसकी कार्यवाहियों से विभिन्न मात्राओं में संयुक्त है. अर्थ लगाता है। सामाजिक सहकारिता का यही क्षेत्र समुदाय के जीवन को आविष्कारक तथा प्रयोगात्मक तत्व प्रदान करता है; और अधिकांश रूप में राज्य का कार्य समर्थन करने का कार्य है—इस अर्थ में कि वह अपनी शक्ति की मुद्रा से इस नमनशील तत्व के स्वीकृत परिणामों को अंकित करता है। इसके साथ ही साथ हमें यह न समझना चाहिए कि इस प्रकार का वक्तव्य राज्य और समाज के सम्बन्धों को पूर्णतः समाप्त कर देता है, अथवा उनकी पूरी तरह व्याख्या कर देता है। अंततः, समाज राज्य के अन्दर है और उसका राज्य में ही कुछ अर्थ होता है। इसका अर्थ यह निकलता है कि यदि हम राज्य को उसके पूर्णतर अर्थ में लें—एक शक्ति प्रयोग करने वाले राजनीतिक यंत्र के रूप में नहीं वरन् एक सामान्य संगठन और जीवन के संश्लेषण के रूप में जिसमें अन्य समस्त संगठन अन्तर्निहित हैं. तथा जो उन्हें परस्पर सम्बन्धित करता है—तो हम उसे सामाजिक सहकारिता के पूर्ण क्षेत्र को घेरने वाले तथा उसका पोषण करने वाले एक समूहों के समूह तथा समुदायों के समुदाय के के रूप में देखेंगे। इस अर्थ में हम राज्य के अर्थ को दो पक्षों से देख सकते हैं। सर्व प्रथम हम उसे समायोजनों (adjustments) के एक स्रोत के रूप में देख सकते हैं जो सम्पूर्ण जीवन की एक व्यावहारिक धारणा के पक्ष में अपने अंतर्गत समस्त संस्थाओं की आलोचना और समायोजन करता है और ऐसी आलोचना के द्वारा उन्हें एक व्यवस्थित और श्रेणीबद्ध प्रणाली का रूप दे देता है। पुनः हम उसे एक चालक-चक्र के रूप में देख सकते हैं जो

उस व्यवस्था को प्रेरकशक्ति प्रदान करता है—एक ऐसी शक्ति के रूप में जो प्रत्येक सदस्य और संस्था को उसके कर्तव्यो का स्मरण दिला कर और उन्हें उनका निर्देश कर निरंतर जीवनशक्ति प्रदान करता रहता है तथा उस आलस्य और निश्चलता को दूर रखता है जिसमें बिना ऐसे स्मरण और निर्देश के वे अति शीघ्रतापूर्वक फँस सकते हैं। परन्तु राज्य इस दूसरे पक्ष में, एक शक्ति के रूप में, तब तक कार्य नहीं कर सकता जब तक उसके सम्मुख जीवन की एक समष्टि के रूप में व्यावहारिक धारणा (working conception of life as a whole) का अपना प्रथम पक्ष न हो। राज्य एक सद् जीवन की वाह्य दशाओ को बनाए रखने के कार्य तक सीमित है। परंतु इन दशाओ की बिना उस जीवन का ध्यान रखे जिसके लिये वे विद्यमान रहती हैं कल्पना नहीं की जा सकती। और इस कारण यह कहना सत्य है कि राष्ट्र-राज्य की धारणा में कम से कम उस जीवन की रूपरेखा, जिसके लिये—एक शक्ति के रूप में—वह निमित्त है, अंतर्भूत है।

यदि हम इस प्रकार राज्य को उसके एक पक्ष में सम्पूर्ण जीवन की एक व्यावहारिक धारणा मानें अथवा उसमें ऐसी धारणा को निहित मानें, तो हम हीगल के दर्शन के अधिक निकट आ जाते हैं। और 'दि फ़िल्साफ़िकल थियरी आव स्टेट' में यह निकटता कई प्रकार से सामने आती है। प्रथमतः बोसांके सामान्य नागरिक की स्वतंत्र इच्छा के राज्य और उसकी संस्थाओं से सम्बन्ध के प्रति ग्रीन के सतर्क और द्विधात्मक व्यवहार का परित्याग कर देता है तथा राष्ट्र की भावना (spirit) में व्यक्ति के स्वतंत्र सम्मिलन की हीगलवादी धारणा के अधिक निकट चला जाता है। यह बहुत बड़ी मात्रा में नवीन सामाजिक प्रयोगों से प्राप्त अधिक पूर्ण सामाजिक अनुभव का परिणाम है जो यह बताता है कि स्वभाव के आवश्यक लक्षण पूर्ण सामाजिक समष्टि में एक ही होते हैं; निर्धन भी राज्य के अर्थ और महत्व के प्रति उतने ही सजग हैं जितने कि धनिक (यह भी कहा जा सकता है कि पिछले कुछ समय की विधेयन की प्रवृत्ति के कारण, जिसके द्वारा उन पर इतना घनिष्ठ प्रभाव पड़ा है, वे धनिको से अधिक सजग हैं)। संक्षेप में, सम्पूर्ण समुदाय में एक समान सामाजिक चेतना व्याप्त रहती है। परन्तु यह परिवर्तन परिपृच्छा

(inquiry) की पद्धति के परिवर्तन के कारण भी है। कुछ बातो के लिये यह मनोवैज्ञानिक परिपृच्छा और सामग्री के प्रात भी ऋणी है। इस विकास के द्वारा हमने यह अनुभव किया है कि हमारे मनों में कितना अधिक उपचेतन तत्व है और वह उपचेतन तत्व चेतन तत्व से कितने घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है तथा वह चेतन तत्व में कितनी सरलता से प्रवेश कर जाता है। हम यह अनुभव करने लगे हैं कि हमारे चेतन मन और सुझाव, प्रथा और शक्ति की व्यवस्था में कोई सीधी-सादी विभाजन रेखा नहीं है—और 'ये दोनो उतने ही अधिक सम्बन्धित हैं जितना चेतना का केन्द्र उन उपचेतन और सहज आदतो से सम्बन्धित है जो दैनिक जीवन को संभव बनाती है'। फिर भी यदि राज्य हमारे मन में अधिकांशतः एक उपचेतन तत्व ही है तो भी वह वहाँ उपस्थित तो है ही; और किसो भी संकट के समय वह अति शीघ्रता से हमारी चेतना के सर्वाग्र भाग तक पहुँच जाता है।

यह मनोवैज्ञानिक रीति बोसांके को हीगल के और अधिक निकट ले जाती है। हीगल ने राज्य पर वस्तुगत मन (objective mind) शीर्षक के अन्तर्गत विचार किया था; उसने राज्य को एक आत्मचेतन, एक आत्मज्ञानी तथा आत्म-व्यंजक व्यक्ति (a self-knowing and self-actualising individual) कहा था। बोसांके भी संस्थाओं की प्रकृति का विश्लेषण करने में उसी मार्ग का पथिक बनता है। वह कहता है कि किसी संस्था की यथार्थ वास्तविकता इस तथ्य मे 'निहित है कि कुछ सजीव मन एक सजीव रूप मे सम्बन्धित हैं'। उदाहरणार्थ, संसद एक कमरे में बैठे हुये छः सौ व्यक्ति मात्र ही नहीं हैं; मूलतः, यह एक सम्बद्ध करने वाला विचार ही है, जो कार्य से सम्बन्धित होने के कारण एक प्रयोजन भी है और एक विचार भी—एक ऐसा प्रयोजन जो छः सौ मानसो के लिए समान है, और जो छः सौ मानसों को एक समान अनुभव में एकीकृत करता है। किसी प्रयोजन से संयुक्त ऐसे विचार को हम एक नैतिक विचार (ethical idea) कह सकते हैं। और इस कारण हम संस्थाओं को नैतिक विचार कह सकते हैं और यह भी कह सकते हैं कि वे वैयक्तिक मनों का वह समान तत्व है जो उन्हें एक एकल अथवा सामान्य मानस के रूप में एकीकृत करता है। तत्वतः संसद न ईंटें हैं और न चूना,

और न ही मांस अथवा रक्त; वह छः सौ मानसों का समान तत्व है, यह वह है जिसे हम 'समान मानस' (common mind) कहते हैं। एक देश की समस्त संस्थाएँ, उस सीमा तक जहाँ तक वे प्रभावी हैं, केवल विचार की उपज और मानस की सृष्टि ही नहीं हैं; वे स्वयं विचार और मानस हैं। अन्यथा वे एक निर्जन भवन तथा मानस-रहित शरीर के समान होगी। ऑक्सफ़ोर्ड का एक विद्यालय भवनों का एक समूह नहीं है—यद्यपि सामान्य भाषा में ऐसे एक समूह को यह नाम दिया जाता है : वह एक मनुष्यों का समूह है। परन्तु वह पास-पास उपस्थित शरीरो के समूह के अर्थ में मनुष्यों का समूह नहीं है। यह मानसां के समूह के अर्थ में मनुष्यों का समूह है। मानसों का यह समूह, एक एकीकरण करने वाले विचार रूपी समान तत्व की उपस्थिति के कारण स्वयं ही एक समूह मानस (group mind) है। समूह के सदस्यों के मनों से परे विद्यमान कोई समूह-मानस नहीं है; समूह मानस उसके सदस्यों के मानसों में ही विद्यमान रहता है, परन्तु उसकी उपस्थिति शंका से परे है। जिस प्रकार एक श्रमिक संघ मानस (Trade union mind) होता है अथवा यहाँ तक कि जिस प्रकार पूर्ण समुदाय का एक 'सार्वजनिक मानस' होता है, उसी प्रकार एक विद्यालय-मानस (college mind) भी होता है। और हम सब एक ऐसे मानस को एक ऐसी वस्तु के रूप में जानते हैं जो सदस्यों के पृथक मनो में और उसके साथ वर्तमान रहती है और जो कि उन समस्त मनो के योग-मात्र से प्राप्त लब्धि से उच्चतर होती है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि (१) संस्थाएँ (institutions) अनेक मानसों के समान नैतिक विचार है और उनका महत्त्व और जीवन इसी रूप में है। अवश्य ही उन्हें वाह्य स्वरूप में मूर्तिमान होना चाहिये—जैसे ईंट और गारे में या मांस और रक्त में; और निस्संदेह, उन्हें उनसे प्रत्यक्षतः सम्बन्धित मानसों के समूह के द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिये और उनकी सहायता की जानी चाहिये। विद्यालय को निश्चय ही पिता-माताओ तथा सामान्य जनता के द्वारा स्वीकृत तथा अपने सदस्यों और छात्रों के द्वारा मन में अंकित एक विचार होना चाहिये; संसद को निश्चय ही एक ऐसा विचार होना चाहिये जिसे निर्वाचक स्वीकार करते हों और जिसमें वे सहयोग देते

हो—साथ ही उसे संसद के सदस्यों द्वारा अपने मन में अंकित विचार भी होना चाहिये। अन्यथा विद्यालय व्यर्थ ही शिक्षा देता है और संसद व्यर्थ ही विधि-निर्माण करती है। हमारी भाषा मे 'जनमत पर उनका कोई अधिकार नहीं है'। और हम यह भी कह सकते हैं कि (२) यदि एक संस्था एक नैतिक विचार है तो उसमें एक मानस की कल्पना निहित है जो उस विचार को अपने में अंकित करे, और उसे जानने अथवा उसके बारे में कुछ सुना होने के अर्थ में अंकित न करे वरन् उसकी इच्छा करने और उस पर कार्य करने के अर्थ में अंकित करे। ऐसे मन को हम संस्था का अथवा उस समूह का जो उस संस्था से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित है, मन कह सकते हैं, यद्यपि हमें यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिये कि चूँकि वह एक मन है, वह संस्था अथवा समूह के सदस्यों के मनों में ही वर्तमान रह सकता है, अन्य किसी स्थान पर नहीं। परन्तु जो कुछ अभी संस्थाओं के बारे में कहा गया है वह राज्य पर भी लागू हो सकता है। राज्य एक संस्था है। राज्य एक नैतिक विचार है; अथवा यों कहा जाय कि यही नैतिक विचार (the ethical idea) है क्योकि यह सम्पूर्ण जीवन का चरम व्यावहारिक रूप है। एक विचार के रूप में यह समस्त नागरिकों के मानस का समान तत्व है जो कि—उस सीमा तक जहाँ तक वे उसके चेतन या उपचेतन रूप से अनुप्राणित हैं—उन्हें एक मन के रूप में एकीकृत कर देता है। और इस प्रकार हम हीगल की राज्य धारणा—'आत्मचेतन नैतिक तत्व (the self-conscious ethical substance) पर आ जाते हैं और राज्य को उसके सदस्यों के समान और सार्वभौमिक मानस के रूप में देखते हैं।'

अपने दंड-सम्बन्धी सिद्धान्त में तथा राज्य के कार्यों पर नैतिक प्रतिमानों के लागू होने की समस्या के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण में भी बोसांके कुछ हद तक ग्रीन से दूर जाता दिखाई देता है। ग्रीन की भाँति यह बात मानते हुए भी कि दंड के प्रयोजन में अपराधी का सुधार भी—चाहे द्वैतीयक रूप से ही क्यों न हो—समाविष्ट होना चाहिए, वह दंड को एक विशिष्टतया सकारात्मक गुण प्रदान करता है जो कि राज्य के कार्य के नकारात्मक स्वरूप के सामान्य सिद्धान्त को संशोधित कर देता है, और यहाँ वह ग्रीन से मतभेद

रखता प्रतीत होता है। उसके द्वारा दिया गया तर्क मनोवैज्ञानिक है। मानवीय स्वभाव में एक विलक्षण अविच्छिन्नता है; और स्वाभाविक कार्यों के उपचेतन क्षेत्र में जो कुछ होता है वह चेतना के क्षेत्र मे भी सहानुभूतिपूर्ण परिणाम उत्पन्न कर सकता है। यदि एक असावधानीपूर्ण सहज अथवा स्वाभाविक कार्य करते समय, उदाहरणार्थ, मोड़ पर असावधानी के साथ सार्यकिल चलाते समय, यदि मेरे साथ कोई दुर्घटना होती है और मै पीड़ा के आघात को सहन करता हूँ तो मेरी चेतना प्रभावित होती है और संभावना यह है कि आगे से मेरी चेतन इच्छा क्रिया के उस क्षेत्र पर नियंत्रण रखने की ओर प्रवृत्त हो। इसी प्रकार कर्तव्यो के क्षेत्र मे (ऐसे क्षेत्र मे जो अधिकांशतः स्वाभाविक है, क्योंकि मै अपने अधिकांश कर्तव्यो को बिना किसी पूर्व-विचार के स्वभावानुसार करता हूँ) यदि किसी आकस्मिक क्रिया द्वारा मे कोई भूल करता हूँ—उदाहरणार्थ एक प्रन्यासी (trustee) के रूप मे अपने कर्तव्यो की पूर्ति करना भूल जाना—और यदि इसके परिणामतया मै वैधानिक क्रिया का आघात सहन करता हूं तो मेरी चेतन इच्छा जाग सकती है और क्रिया के उस क्षेत्र को नियंत्रित करने के लिए प्रोत्साहित हो सकती है जिसे कि आघात के कारण मै कर्तव्य मानने लगता हूँ। इस प्रकार दंड का यह अर्थ नहीं हो सकता कि मै आगे से भूल करना इस कारण बंद कर दूंगा कि मै उपरोक्त प्रकार का आघात अनुभव करने से डरता हूं, वरन् यह कि आगे से मै ऐसी भूल नही करूँगा क्योकि मै होश मे आ गया हूं; मेरी आदतो की एक पूर्ण व्यवस्था की चेतना जागृत हो गई है; और ऐसी चेतना के प्रकाश में मैने यह जान लिया है कि मेरे अपराध का क्या अर्थ होता है। दड के इस सुधारवादी पक्ष के कार्यकरण के इस वर्णन को स्वीकृत करते हुए भी यह संभव है कि यह शंका बनी रहे कि क्या वहाँ राज्य के कार्य के अन्य रूपो और दंड मे भेद किया गया है। शायद राज्य के द्वारा शक्ति-प्रयोग का कोई भी रूप कर्तव्य की एक ऐसी परिधि के अर्थ और उसकी आवश्यकता की चेतना जागृत कर सकता है जिसे अब तक न जाना गया हो; और उदाहरणार्थ, पिता के मन में, उसे अपने बालक को विद्यालय भेजने के लिए बाध्य कर, उसे ऐसा करने के दंडित करने के पूर्व ही अथवा यहाँ तक कि बिना दंडित किए ही, पैतृक उत्तरदायित्व का एक नवीन

भाव जाग्रत हो सकता है। इस प्रकार न केवल दंड के ही लिए, वरन् राज्य की समस्त क्रिया के लिए इस प्रकार का असामान्य एवं आकस्मिक औचित्य हो सकता है और वह सकारात्मक गुण ग्रहण कर सकता है जिसका बोसांके केवल दंड के लिए समर्थन करता है।

राज्य-क्रिया के नैतिकता सम्बन्धी दृष्टिकोण में बोसांके सर्वाधिक निश्चित रूप से ग्रीन का साथ छोड़ता प्रतीत होता है। हमने देखा है कि किस प्रकार ग्रीन ने युद्ध को गलत ठहराया था क्योंकि वह जीवन और स्वतंत्रता के उस अधिकार का अतिक्रमण करता है जो कि मनुष्यों को उनकी समान मानवता के कारण प्राप्त है और इस कारण उसने एक 'सार्वभौमिक भ्रातृत्व' की कल्पना की थी जिसमें समस्त मनुष्य उसकी सत्यता को समान मान्यता देने के कारण सम्बद्ध हैं। बोसांके इस प्रश्न पर एक दूसरी रीति से विचार करता है। प्रथमतः वह कहता है कि राज्य के कार्यों में तथा उसके राजनयज्ञों और अभिकर्ताओं के वैयक्तिक कार्यों में भेद करना आवश्यक है। वह प्रथम क्षेत्र के कार्यों पर द्वितीय क्षेत्र के नैतिक शब्दों (हत्या, चोरी आदि) को लागू करने के अनौचित्य पर बल देता है। द्वितीय स्थान मे, तथा इस अनौचित्य को स्पष्ट करने के लिये, वह कहता है कि राज्य 'राज्य के रूप में व्यक्तिगत जीवन के उन सम्बन्धों की सीमाओं में जिनमें संगठित नैतिकता विद्यमान रहती है बँध कर कार्य नहीं कर सकता।' राज्य 'हमारे सम्पूर्ण नैतिक जगत का संरक्षक है, न कि हमारे नैतिक जगत का एक कारक।' उसे अधिकार और कर्तव्यों की उस व्यवस्था से बाँधा नहीं जा सकता जिससे वह अपने सदस्यों को आबद्ध करता है। वह उस सामाजिक-आचारशास्त्र से जिसका वह स्वयं पोषण करता है, मर्यादित नहीं किया जा सकता। अधिक से अधिक हम उसके कार्यों की इस आधार पर आलोचना कर सकते हैं कि उनमें 'सत्' (the good) एक निम्न धारणा को स्थान मिला है, अथवा उसमें ऐसे साधन सन्निहित हैं जो कि एक सच्ची धारणा की सिद्धि के लिये अनुचित हैं। परन्तु ऐसी आलोचना में हम राज्य की उसके किसी अधिक व्यापक 'सत्' के सम्बन्ध में अथवा किसी ऐसी अधिक सामान्य नैतिकता के सम्बन्ध में जिसे उसे मानना चाहिये आलोचना नहीं करते, वरन् केवल उसकी अपनी अच्छाई और उसकी अपनी

नैतिकता के बारे में आलोचना करते हैं। इस विषय पर एक दूसरा दृष्टिकोण, जिसे हममें से कुछ दृढ़तापूर्वक अपनाए रहेंगे, राज्य के उसके अभिकर्ताओं के लिये उत्तरदायित्व तथा राज्य और उसके अभिकर्ताओं दोनो के सभ्य जन-मत के समक्ष उत्तरदायित्व पर कहीं अधिक बल देगा। फ्रांसीसी-विधि राज्य के उसके अभिकर्ताओं के उन कार्यों के लिए उत्तरदायित्व को स्वीकार करती है जो प्रशासनीय कार्य है। और राज्य का कोई भी सही सिद्धांत उसके अंगों के उन कार्यों के लिये जो कि उसके अंग के रूप में कार्य करते समय किये गए हैं, उसके उत्तरदायित्व की निश्चित रूप से अपेक्षा करता है।[१] यदि इस प्रकार एक नागरिक अपने राज्य को हो हानि के लिये वैधानिक रूप से उत्तरदायी मान सकता है, तो यह समझना कठिन है कि एक राज्य जो कि वैधानिक उत्तरदायित्व वहन कर सकता है, उत्तरदायित्व निर्धारित करने के लिये एक नैतिक लोकमत के समूह के होने पर नैतिक उत्तरदायित्व भी क्यों न वहन करे। इस प्रकार का सभ्य लोकमत, जो कि राष्ट्र-राज्य की सीमाओं को लाँघने वाली सामाजिक आचार-व्यवस्था (system of social ethics or Sittlichkeit) का दूसरा नाम है, और जो कि पाश्चात्य योरोप और अमेरिका के अधिकांश राज्यों में समान है, वर्तमान है। यह समझना कठिन प्रतीत होता है कि ऐसा लोकमत किसी बात के लिये जिसे वह अपनी नियम-व्यवस्था (code) का उल्लंघन समझता है, नैतिक उत्तरदायित्व क्यों न निर्धारित करे; यद्यपि, निस्सन्देह, वह वैधानिक उत्तरदायित्व को लागू करने के किसी भी प्रयत्न से बिलकुल भिन्न बात है। निश्चय ही यह कहा जा सकता है कि यद्यपि कोई राज्य अपनी विधि के प्रति अपने दूसरे राज्यो से व्यवहार के

---

१ सन् १९०६ के 'ट्रेड्स डिस्प्यूट्स एक्ट' (Trades Disputes Act) के विरुद्ध महान आपत्ति यह थी कि वह इन मूल सिद्धांतों का अतिक्रमण करता है कि (१) एक समूह, क्योंकि वह मन और इच्छा से युक्त है, उत्तर-दायी होना चाहिये, और (२) एक समूह, क्योंकि वह समूह के रूप में अधि-कांशतः अंगों अथवा अभिकर्ताओं के द्वारा ही क्रियाशील हो सकता है, उन अंगों अथवा अभिकर्ताओं के कार्यों के लिये उत्तरदायी होना चाहिये।

लिये उत्तरदायी नहीं हो सकता (यद्यपि वह अपने नागरिकों के साथ व्यवहार के बारे में इस प्रकार उत्तरदायी हो सकता है), और यद्यपि वह उन से अपने व्यवहार के लिये विधि की एक उच्चतर व्यवस्था के प्रति भी उत्तरदायी नहीं हो सकता क्योंकि वह अभी वर्तमान ही नहीं है। तो भी वह नैतिक अर्थ में अपने समस्त कार्यों के लिये (जिसमें उसके अवयवों के ऐसे कार्य भी आ जाते हैं जो वे अवयव के रूप में करते हैं) ईसाई जगत (Christendom) के नैतिक मत-समूह के प्रति उत्तरदायी हो सकता है, और होना भी चाहिये। यदि हम इस तथ्य पर अत्यधिक बल दें कि राज्य अपने अवयवों से भी परे है, अथवा सम्पूर्ण नैतिक जगत के संरक्षक के रूप में राज्य की सर्वोच्चता और अंतिमता पर अनुचित रूप से ज़ोर दें, तो क्या हम राज्य के बारे में अत्यधिक उत्साह से युक्त न होंगे ? ग्रेट ब्रिटेन अधिकारों और कर्तव्यों के बारे में नागरिकों के लिये अन्तिम और सर्वोच्च नियामक है : वह उन्हें उनकी सामाजिक नैतिकता, अथवा यों कहा जाय कि उनके 'राष्ट्रीय चरित्र' की अंतर्वस्तु' का उच्चतम दाता है। परन्तु उनके प्रति भी उसे अपने कार्यों के लिये उत्तरदायी होना आवश्यक है। और उसके कार्य, उन समस्त व्यक्तियों के कार्य हैं जो उसके नाम पर, चाहे उन्हीं के प्रति क्यों न हों, कार्य करते हैं, क्योंकि वे उस सभ्य जगत के अंग है जिसमें वह अवस्थित है, और जिसके मतानुसार ही उसके कार्यों के बारे में निर्णय किया जाता है।

× × ×

आदर्शवादी सम्प्रदाय का अध्ययन समाप्त करते हुए हमें उन कुछेक आलोचनाओं पर भी ध्यान देना चाहिए जिनका उसे सामना करना पड़ता है। प्रथम और सर्वाधिक स्पष्ट आलोचना यह है कि यह वस्तुओं पर उस रूप में विचार नहीं करता जैसी वे हैं। वह राज्य जिसकी यह कल्पना करता है—ऐसा राज्य जो प्रत्येक नागरिक की नैतिक इच्छा की स्वतंत्र सहमति और सहयोग पर आधारित है–स्वर्ग में अवस्थित हो सकता है, परन्तु भूमंडल पर स्थापित नहीं है। परन्तु ऐसी आलोचना राजदर्शन की पद्धति की पूर्णतः गलत धारणा पर आधारित होती है। नैतिक दर्शन की भाँति राजनीतिक

दर्शन भी 'विशुद्ध' उदाहरण पर अर्थात् सत्पुरुष की अन्तःप्रेरणा तथा उचित राज्य की 'सामान्य इच्छा' पर ही विचार करता है। यह इस बात को मान कर चलता है कि सर्वाधिक सत्य ही सर्वाधिक श्रेष्ठ है और सर्वाधिक सत्य ही अध्ययन का उचित विषय है। राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र दोनों ही सर्वाधिक शक्ति वाले मनुष्य, न कि सर्वाधिक न्यून शक्ति वाले मनुष्य पर विचार करते हैं; 'क्योंकि किसी वस्तु की वास्तविक प्रकृति वही है जो कि उस वस्तु के अपने विकास की चरम सीमा पर होती है'; सदैव ही कुछ लोग ऐसे होंगे जो निम्नतर को उच्चतर का मापदंड मानेगें; सदैव ही अन्य ऐसे भी लोग होंगें—और वे आवश्यक रूप से गलत नहीं होते—जो उच्चतर को निम्नतर का मापदंड मानेंगे। कुछ भी हो, आदर्शवादी आदर्श को अपना अध्ययन विषय बनाने वाला अकेला व्यक्ति नहीं होता। सिजविक (Sidgwick) एक उपयोगितावादी था, परन्तु उसका मत है कि राजनीतिशास्त्र 'मुख्यतः...... सभ्य मनुष्यों के समाज में......उन सम्बन्धों की व्यवस्था पर...विचार करता है जो स्थापित किए जाने चाहिए।[१]

आदर्शवादी सम्प्रदाय की दूसरी आलोचना, जो प्रथम दृष्टि में बहुत भिन्न प्रतीत होती है, समाज-सुधारक द्वारा की जाने वाली आलोचना है। उसका कहना है कि आदर्शवादी एक आदर्श का निर्माण नहीं करता, वरन् वह अपूर्ण समाज की प्रस्तुत सामग्री को आदर्श रूप दे देता है और वर्तमान व्यवस्था के दैवी अधिकार का उपदेश देता है। समाज की वर्तमान संस्थाओं की आदर्श रूप में व्याख्या कर वह सामाजिक अंतःकरण का ऐसी वस्तुओं से समाधान स्थापित करता है जिन्हें उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए। अरस्तू दासता को आदर्श रूप देता है; ग्रीन पूँजी का आदर्शीकरण करता है। इस दृष्टिकोण से जे० ए०

---

१ सिजविक की 'ऐलीमेंट्स ऑव पॉलिटिक्स' (१८९१) पर इस पुस्तक में विचार नहीं किया गया है (यद्यपि वह एक ऐसी पुस्तक है जिसे राजदर्शन के प्रत्येक विद्यार्थी को पढ़ना चाहिये) क्योंकि उसका रचना काल बाद में होने पर भी वह बेन्थम और मिल के उपयोगितावादी काल में आती है जो कि इसी माला की एक दूसरी पुस्तक का विषय है।

हॉब्सन (J. A. Hobson) ने 'दि क्राइसिस ऑव लिबरलिज्म' नामक पुस्तक में आदर्शवाद को 'रूढ़िवाद की व्यूहरचना' (Tactics of Conservatism) माना है। इस दृष्टिकोण से भी कि आदर्शवादी मानवीय अन्तःकरण में समाज की आध्यात्मिक आधारशिलाओं पर इतना अधिक ध्यान देता है, वह आंतरिक मनुष्य और उसकी स्वतंत्र इच्छा की स्वायत्तता पर विचार में इतना अधिक व्यस्त रहता है कि वह भौतिक दशाओं के सुधार की आवश्यकता को देख ही नहीं पाता, उसकी आलोचना की गई है। वह 'व्यक्ति को नैतिक बनाने की आवश्यकताओं में ही भ्रमित रहता है। वह अरस्तू की भाँति अपने हृदय में कहता है कि बुराइयाँ 'वैयक्तिक सम्पत्ति के स्वामित्व से' उत्पन्न नहीं होती, वरन् 'मानवीय प्रकृति की दुष्टता से' उत्पन्न होती हैं; और अपने विचारों को नैतिक इच्छा की स्वतंत्रता की प्राथमिक आवश्यकता पर आधारित कर वह राज्य को, जिसे इन बुराइयों को दूर करना चाहिये, विघ्नों को दूर करने और बाधाओं को बाधित करने के नकारात्मक कार्य तक ही सीमित कर देता है। पाठक ग्रीन, ब्रेडले और बोसांके द्वारा प्रतिपादित विचारों के बारे में जो कुछ कहा गया है उससे स्वयं ही इस बात का निर्णय कर सकते हैं कि इस प्रकार की आलोचना कहाँ तक उचित है।

एक अन्य और अधिक प्रचलित आलोचना आदर्शवादी सम्प्रदाय के बुद्धिवाद (intellectualism) का विरोध करती है। यह कहा जाता है कि आदर्शवादी विचारक चेतन इच्छा और विवेकशील मन को बहुत अधिक महत्व देते हैं। इच्छा और विवेक का एक क्षेत्र है अवश्य; परन्तु अन्य क्षेत्र भी हैं। मनुष्य प्रकृति का एक भाग है जो चयन (selection), जीवन विजय (survival) और विकास के समस्त कार्यकरण के मध्य स्थित है, और इस कारण एक पूर्ण राजनीतिक सिद्धांत में जीवशास्त्री को भी अपनी बात कहने का अवसर होना चाहिये। दूसरी और अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि मनुष्य संवेगों, प्रेरणाओं और प्रवृत्तियों तथा चेतन विवेक से युक्त प्राणी है। उसकी प्रकृति का एक उपचेतन पक्ष है जिसे निर्देश (suggestion) प्रभावित करता है, जहाँ विचारों का साहचर्य स्थापित होता है, जहाँ अनुकरण का विकास होता है और जो आदतों का निवास-स्थल है। यहाँ सामाजिक-मनोवैज्ञानिक आदर्श-

वादी विचारक की अपूर्णता और अपनी आवश्यकता प्रतीत कराने के लिए प्रवेश करता है। मैक्डूगल (Mcdougall) और ग्राहम वालाज़ (Graham wallas) सरीखे लेखको का कथन है कि आदर्शवादी, और इस हेतु उपयोगितावादी भी, मानवीय मन के सम्बन्ध मे ऐसे आधार तत्वों को आरंभविन्दु मान कर चलते हैं जो अत्यधिक रीते और निःसार है। वे एक ऐसी विवेक शक्ति से आरंभ करते हैं जो 'समान हित' अथवा सर्वाधिक आनन्द 'जैसे गिने चुने सरल सिद्धांतों मात्र से ही युक्त है' जब कि पूर्ण दर्शन को सम्पूर्ण मनुष्य को आरंभविन्दु मानना चाहिये जो कि 'उन समस्त विचारों, समस्त वासनाओ, समस्त सुखों, से युक्त हो जो इस शरीर से संलग्न रहते हैं।'

आगे आने वाले दो अध्यायो में यह दिखाया जायगा, अथवा कम से कम यह दिखाने का प्रयास किया जायगा, कि आलोचना की यह रेखा कहाँ तक उचित है। परन्तु एक ऐसी बात है जिसे यहाँ ही कह दिया जाना चाहिए। जब आदर्शवादी यह कहता है कि राज्य विवेक और विवेकशील इच्छा का परिणाम है तो उसका यह अर्थ नहीं होता कि इतिहास के प्रवाह में विवेक चेतन और स्पष्ट रूप में राजनीतिक संस्थाओ का निर्माण करता रहा है। यह एक असंभव दावा होगा। उसका तात्पर्य यह होता है कि एक विकास हुआ है, जिसे, जब हम उसके प्रवाह को और उसके परिणामों को देखते हैं, हम अपने विवेक को विवेकशील वस्तु बतला सकते है—ऐसी वस्तु जो ऐसे साध्यों की ओर निर्देशित है जिन्हें विवेक स्वीकार करता है। और इस कारण वह यह तर्क देता है कि अन्तर्भूत और अन्तर्निहित रूप में अनुभवों के द्वारा अपने साध्यों की ओर जाने वाला मार्ग टटोलता हुआ मानवीय विवेक सदैव वर्तमान रहा है। यदि वह उपस्थित न रहा होता तो विकास का अंत एक ऐसी संगठित जीवन की व्यवस्था मे जिसे हमारा विवेक समझ सकता है, न हो कर, निषेधों प्रवृतियो, और आदतो के ऐसे अव्यवस्थित समूह में होता जिसका न कोई अर्थ होता, न सम्बन्ध और न कारण। न ही आदर्शवादी यह दावा करता है कि आज के सामान्य नागरिक का प्रत्येक कार्य चेतन विवेक का परिणाम होता है। वह अधिकांश मात्रा में आदत अथवा अचेतन अनुकरण का परिणाम हो सकता है। आदर्शवादी का तात्पर्य यही होता है कि नागरिक के कार्य इस

अर्थ में युक्तियुक्त होते हैं कि उनकी एक युक्तियुक्त व्याख्या की जा सकती है। और वह यह दावा करता है, जो कि अनुचित नहीं है, कि इसका मतलब यह होता है कि अंततः विवेक उपस्थित रहता है और वह यथार्थ में सर्वप्रधान शक्ति होता है, चाहे आदत और अनुकरण ऐसे कार्यों को प्रस्तुत करने में सहायता कर जिन्हें विवेक कराना चाहता है, उसके सहायक के रूप में कितना ही कार्य करें।

अध्याय ४

वैज्ञानिक विचारक—हर्बर्ट स्पेंसर

जे० एस० मिल की अधिकांश राजनीतिक कृतियाँ सन् १८४८ के बाद प्रकाश में आईं। उदाहरणार्थ, 'लिबर्टी' पर उसका निबन्ध सन् १८५९ में प्रकाशित हुआ और 'रिप्रेजेन्टेटिव गवर्नमेंट' पर सन् १८६० में। परन्तु मिल एक पुरानी परम्परा का विचारक है, यद्यपि यह सत्य है कि उसने उस परम्परा की अधिक गंभीर और अधिक आध्यात्मिक व्याख्या की; उसे सन् १८४८ के पश्चात् उदय होने वाले पैग़म्बरों में से प्रथम मानने की अपेक्षा अंतिम महान् उपयोगितावादी ही माना जाना चाहिए। हर्बर्ट स्पेंसर में निश्चय ही एक नवीन तत्व सामने आता है। जैसा कि हम देखेंगे, यह सत्य है कि यद्यपि उसने बेंथम के 'औचित्यता के दर्शन' (expediency philosophy) पर प्रहार किया, पर वह अपने राजनीतिक विचारों में सदैव ही एक उपयोगितावादी था। सुख ही वह लक्ष्य है जिसे वह प्रस्तुत करता है, यद्यपि वह इस बात पर बल देता है कि यह सृष्टिकर्ता के द्वारा इच्छित सुख होना चाहिये—जो कि क्षमता की स्वतंत्र शक्ति (free energy of faculty) के रूप में प्रभावित होता है, न कि राज्य द्वारा इच्छित सुख जो धन के स्वामित्व से संबद्ध आनन्दोपभोग का भौतिक रूप ग्रहण करता है। और ठीक उसी प्रकार जैसे बेन्थम का विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने हितों के सम्बन्ध में निर्णय और प्रयत्न करने की स्वतंत्रता होना भौतिक सुख की प्रमुख दशा है, उसी प्रकार स्पेंसर विश्वास करता है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान स्वतंत्रता का नियम सुख का, जो कि क्षमता की शक्ति से उत्पन्न होता है, मुख्य साधन उपलब्ध कराता है। परन्तु सन् १८५१ में प्रकाशित 'सोशल स्टेटिक्स' में ही स्पेंसर आचारशास्त्र और राज्यशास्त्र की जीवन के प्राकृतिक नियम के विज्ञान के सदृश और वस्तुतः उसके एक भाग के रूप में व्याख्या करने की अपनी विशिष्ट पद्धति का आरंभ

कर देता है। उसने उसी समय लिखा है कि 'नैतिकता आवश्यक रूप से भौतिक सत्य के साथ एकरूप है—वस्तुतः वह परात्पर शरीर विज्ञान (transcendental physiology) की ही एक विशेष रूप मात्र है। इस प्रकार अब हमें प्राकृतिक विज्ञान की दृष्टि से मानवीय जीवन के निर्वचन पर विचार करना है।

स्पेंसर में यह निर्वचन अव्यवस्थित है। उसने अन्य स्रोतों से प्राप्त किन्हीं पूर्वधारणाओं के बिना तथा केवल मात्र उस राजनीतिक ज्ञान को प्राप्त करने के उद्देश्य से जो विज्ञान सिखा सकता है, राजनीति पर विज्ञान के माध्यम से विचार नहीं किया। इसके विपरीत जब उसने विज्ञान की ओर ध्यान दिया उस समय वह राजनीतिक पूर्वधारणाओं के वशीभूत था और उसने विज्ञान में एक ऐसे निष्कर्ष के लिए जो पहले ही निकाला जा चुका था उदाहरण अथवा सादृश्य खोजने का प्रयास किया, तथा एक ऐसी कथा को सजाने-सवांरने का प्रयत्न किया जिसकी रूपरेखा पहले ही खींची जा चुकी थी। उस मूल अव्यवस्था का, जिसे वह कभी पार नहीं कर सका, कारण यह तथ्य है कि वैयक्तिक अधिकार की पूर्वमान्यताओं का जिनसे वह आरंभ करता है राज्य की सावयवी तथा विकासवादी धारणा से—जिन्हें वह प्राकृतिक विज्ञान के प्रयोग से प्राप्त करता है–न तो मेल बैठता है और न बैठ ही सकता है। इसके परिणामस्वरूप उसका दर्शन 'प्राकृतिक अधिकारों और शरीर-विज्ञान सम्बन्धी उपमा के एक बेमेल मिश्रण' से रूप में आरंभ होता है और इसी रूप में उसका अंत होता है। उसकी रचनाएँ इतने अधिक कड़े तथा गंभीर तर्क से पूर्ण दिखाई देती हैं कि प्रथम दृष्टि में यह अव्यवस्था एक विचित्र विरोधाभास प्रतीत हो सकती है। परन्तु स्पेंसर का तर्क यथार्थ में थोथा और यांत्रिक है। वह ऐसे सतत विरोधाभासों से जो जीवन से मेल खाने के लिए अत्याधिक सीधे-सादे हैं, और भ्रामक तर्कों की एक ऐसी शृंखला के निरन्तर प्रयोग से जिसे अस्वीकृत करने को व्यावहारिक जीवन का तनिक भी अनुभव रखने वाले अधिकांश व्यक्ति अपने को बाध्य अनुभव करेंगे, पूर्ण है। उसमें यथार्थता के लिए वह समृद्ध भावना तथा विरोधों को दूर करने और उन पर पार पाने के उस प्रयत्न का जो हीगल के तर्क का एक विशिष्ट लक्षण है पूर्ण अभाव है।

स्पेंसर की राजनीतिक विचारधारा के असगंत तत्वों को समझने के लिए

हमें उसके दर्शन के स्रोत की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक हो जाती है। वह किसी एक स्रोत से आरंभ नहीं करता। वह अनेक भिन्न स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण करता है जिसे वह एक समष्टि में एकीकृत करने का प्रयत्न करता है, परन्तु असफल रहता है। प्रथम स्रोत, जिस पर हम ध्यान दे सकते हैं, इंग्लैंड का उग्र सुधारवाद (Redicalism) है। जैसा कि उसका कथन है, वह एक 'आवश्यक रूप से भिन्नमतावलम्बी' (essentially dissenting) तथा इस कारण प्राधिकार का विरोध करने वाले परिवार में उत्पन्न हुआ; और उसकी 'नॉनकन्फ़र्मिस्ट' सहजप्रवृत्तियो तथा उसके युवावस्था के 'नॉनकन्फ़र्मिस्ट' प्रशिक्षण ने उस पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा। उसके चाचा रेवरेण्ड टॉमस स्पेन्सर (Rev. Thomas Spencer) के द्वारा—जो एक प्रकाण्ड धर्मशास्त्री थे और चर्च को एक ऐसा विकास मानते थे जिसे वाह्य दशाओ के साथ अविरल अनुकूलन की आवश्यकता रहती है—उसमे उग्र-सुधारवादी राजनीति म सक्रिय अभिरुचि जागृत की गई। टॉमस स्पेन्सर का बर्मिघंम के जोजेफ़ स्टर्ज (Joseph Sturge) से, जिसने सन् १८४१ में 'दि नॉनकन्फ़र्मिस्ट' नामक साप्ताहिक की स्थापना की थी और जो कि पूर्ण मताधिकार संघ के प्रमुख नेताओ में था, सम्बन्ध था। 'नॉन्कन्फ़र्मिस्ट' को ही सन् १८४२ में हर्बर्ट स्पेन्सर ने 'दि प्रॉपर स्फियर ऑव गवर्न्मेंट' पर अपना प्रथम निबन्ध प्रकाशनार्थ भेजा था, और पूर्ण मताधिकार संघ की डर्बी शाखा के मंत्री के रूप में ही उसने राजनीति मे प्रथम बार सक्रिय भाग लिया था। उसने निर्वाचनों में घूसखोरी के विरुद्ध एक आन्दोलन में भाग लिया और 'कार्न लाज़' तथा 'स्टेट चर्च' के विरुद्ध आन्दोलन में भी—बोलने की अपेक्षा लिखने के द्वारा ही अधिक—भाग लिया। सन् १८४७ में जब उसने अपनी प्रथम राजनीतिक कृति—जिसे उसने 'सोशल स्टेटिक्स' (Social Statics) नाम दिया—की रचना आरंभ की तब उसे यह प्रशिक्षण मिल चुका था। परन्तु सन् १८४८ की समाप्ति के पश्चात् वह 'इकॉनॉमिस्ट' के सह-सम्पादक के रूप में टॉमस हॉजसकिन (Thomas Hodgskin) के सम्पर्क में आया और संभवत: इस सम्पर्क ने 'सोशल स्टेटिक्स' के विकास को बहुत महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित किया। हॉज्स्किन 'बेन्थम-विरोधी रेडीकल' था। गॉडविन की भाँति वह

मानवता के प्राकृतिक अधिकारों में विश्वास रखता था, जिन पर बेन्थम ने तिरस्कारपूर्ण व्यंग किया था। उसने 'यद्भाव्यं' के सिद्धान्त को राजनीति और अर्थशास्त्र दोनों में प्रयुक्त किया जब कि बेन्थम ने अर्थशास्त्र को प्राकृतिक शक्तियों के स्वतंत्र कार्यकरण के लिए छोड़ कर केवल विधि और राजनीति को ही वैज्ञानिक नियमन का क्षेत्र घोषित किया था। हाज्स्किन के अनुसार समाज एक प्राकृतिक पदार्थ है जिसके लिए विश्वात्मा अथवा सर्वोच्च नैतिक शक्ति ने प्राकृतिक विधियाँ नियत कर दी हैं, जिससे उसके सदस्य उनकी सहायता से संसार में एक न्यायपूर्ण व्यवस्था का निर्माण कर सकें। इस कारण शासन का कार्य नकारात्मक है; वह केवल प्राकृतिक विधियों के कार्यकरण के लिए स्वतंत्र क्षेत्र सुनिश्चित करने तक ही सीमित है; और मानवीय विधियाँ उतनी ही अधिक पूर्वाग्रहपूर्ण (prejudicial) हैं, जितनी कि प्राकृतिक विधियाँ उनसे रहित हैं। इस प्रकार चरम लक्ष्य अथवा भविष्य का स्वप्नलोकीय राज्य (Utopia) एक अराजकता की स्थिति है जिसमें शासन लुप्त हो जाता है और हर एक की भावनाएँ स्वतः ही सब की भावनाओं से एक स्वाभाविक अनुरूपता में सामंजस्य स्थापित कर लेती हैं।

जहाँ तक हम अभी तक पहुँचे हैं, उससे यह प्रतीत होगा कि स्पेन्सर को अपने आरंभिक उग्रसुधारवादी वातावरण में तथा विशिष्टतः अपने हाज्स्किन के साथ सम्पर्क में उस राजनीतिक विचारधारा का जिसका उसने सशक्त समर्थन किया, प्राथमिक तथा मुख्य स्रोत मिला। सन् १८५० तक, जैसा कि वह हमें स्वयं बतलाता है, उसने बहुत कम पढ़ा था और बेन्थम के बारे में उस पर प्रहार करते समय वह बस इतना ही जानता था कि उसने अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख के सिद्धान्त के वैज्ञानिक प्रयोग का प्रतिपादन किया था। परन्तु दो अन्य ऐसे स्रोत थे, जो परस्पर तथा उसके आरंभिक उग्र-सुधारवाद (Radicalism) से बहुत कुछ अननुरूप है, जिनसे स्पेन्सर ने प्रेरणा ग्रहण की। ये थे प्राकृतिक विज्ञान का अध्ययन, जिसमें उसे सदैव रुचि रही थी और जिसमें उसके इंजीनियरिंग के अनुभव ने उसकी रुचि और अधिक बढ़ा दी थी, तथा शेलिंग (Schelling) और श्लेगल (Schlegal) के जर्मन आदर्शवाद का एक संकेत मात्र जो कि उसने कॉलरिज की पुस्तकों के एक सरसरे पठन से

प्राप्त किया था। जर्मन आदर्शवाद से उसने वह ग्रहण किया जिसे उसने 'सोशल स्टेटिक्स' में 'जीवन की कल्पना' (idea of life) कहा है। उसने यह सोचना सीखा कि जीवन प्रकृति का एक सकारात्मक विज्ञान के द्वारा अध्ययन किए जाने योग्य तथ्य नहीं है, वरन् वह एक परात्पर सिद्धान्त है जिसके कारण प्रकृति एक समष्टि के रूप में, तथा समाज प्रकृति के एक भाग के रूप में, अन्तर से वाह्य दिशा में एक चरम 'व्यक्तीकरण' (individuation) की ओर विकसित होते हैं। जीवन एक सार्वभौमिक विकास का कारण है; वस्तुतः यही सार्वभौमिक विकास है—क्योंकि स्पेन्सर सौरमंडल की घटनाओं को भी 'जीवन की कल्पना' में सम्मिलित कर लेने के लिए प्रस्तुत था। जो कुछ अब तक कहा गया है उससे यह परिणाम निकलता है कि स्पेन्सर ने जीवशास्त्र से—जो इस शब्द के सीमित अर्थ में जीवन का सकारात्मक विज्ञान है—आरंभ नहीं किया, और न ही उसने विकास की कल्पना जीवशास्त्र से ब्रह्मांड में प्रयुक्त करने के लिए ग्रहण की। उसने ब्रह्मांड के विकास की कल्पना से आरंभ किया जिसमें बाद में उसने जैविक विकास को भी सम्मिलित कर लिया। सन् १८४० में ही लायल (Lyell) की पुस्तक 'प्रिंसिपिल्स' ने उसे विकास की परिकल्पना सुझा दी थी, परन्तु कॉलरिज और कॉलरिज के माध्यम से शेलिंग ने ही उस परिकल्पना को निश्चित रूप दिया। वह यह तर्क देने लगा कि समस्त प्रकृति में, और इस कारण मानव समाज में, जीवन की एक परात्पर तथा दैवी शक्ति है। इसलिए यह परिणाम निकलता है कि प्रकृति और समाज सजीव सावयव हैं : यह परिणाम निकलता है कि अपने अन्तरस्थ जीवन के कारण वे विकसित होते हैं और यह विकास व्यक्तीकरण अथवा विभेदकरण (differentiation) की एक प्रक्रिया माना जा सकता है जो कि विभेदकृत तत्वों के एकसूत्रीकरण से संयुक्त है। व्यक्तीकरण जितना ही उच्च कोटि का होगा उतना ही महत्व अधिक होगा। और इस प्रकार हम महत्व के एक सोद्देश्यात्मक प्रतिमान (teleological Standard) पर पहुँचते हैं, जिसके अनुसार वस्तुएँ उसी अनुपात में उच्च अथवा निम्न स्थान प्राप्त करती हैं जिस अनुपात में वे व्यक्तीकरण के चरम उद्देश्य के निकट आती या दूर जाती हैं। हाज्स्किन और शेलिंग का यह सम्मिश्रण (इसे ऐसा ही माना जा सकता है) ही स्पेन्सर के दर्शन का आधार

है; और इस आधार का प्राकृतिक विज्ञान की सामग्री से समाधान करने का प्रगतिशील प्रयत्न ही उसका उत्तर-विकास है।

परंतु यह प्राकृतिक विज्ञान जैविक वर्ग की अपेक्षा भौतिक वर्ग का ही था। यौवनावस्था के आरंभिक वर्षों से ही उसकी भौतिक-शास्त्र में रुचि रही थी। उसे वायु पंपो और विद्युत-यंत्रों में अत्यधिक रुचि रही थी; वह कुछ वर्षों तक इंजीनियर के रूप में भी कार्य करता रहा था और न तो उसे भाषा अथवा साहित्य के अध्ययन में रुचि थी और न उसने उनका अध्ययन करने के लिए प्रयत्न किया था। इस प्रकार वह प्रथा अथवा परंपरा की ओर 'झुकाव' से मुक्त था; इस प्रकार वह प्राकृतिक कार्य-कारण (causation) तथा प्राकृतिक नियम की ओर मुड़ने के लिए प्रेरित हुआ। इसी रीति से ही उसने अपनी पुस्तक का नाम 'सोशल स्टेटिक्स' रखा। इस शीर्षक में कॉम्टे का प्रभाव सूँघना स्वाभाविक है। कॉम्टे ने समाजशास्त्र को सामाजिक-भौतिकी (social physics) का विज्ञान माना था और उसने सामाजिक-भौतिक शास्त्र को स्थिति-विज्ञान और गति-विज्ञान के दो विभागों में विभक्त किया था। स्पेंसर की भाँति उसने भी सामाजिक 'नियमों' के विचार पर बल दिया था। परन्तु स्वाभाविक होते हुए भी यह बात भ्रामक है। सन् १८५० के पश्चात् तक स्पेंसर कॉम्टे के बारे में कुछ नहीं जानता था। 'सोशल स्टेटिक्स' की धर्म-सम्बन्धी तथा तत्वज्ञान सम्बन्धी पूर्वमान्यताएँ बिल्कुल वही हैं जिन्हें कॉम्टे अपने सकारात्मक दर्शन से दूर करना चाहता था; और कॉम्टे की राजनीतिक विचारधारा का वैज्ञानिक पैतृकवाद (scientific paternalism) स्पेंसर का प्रतिलोम है। स्पेंसर केवल कॉम्टे के प्रति कुछ शब्दों (जैसे समाजशास्त्र) के लिए तथा अपनी 'पाज़िटिविज़्म' (Positivism) की अधिक स्पष्ट विरोधी व्याख्या करने की प्रेरणा के लिए ऋणी हैं। साथ ही साथ यदि उसका दर्शन कॉम्टे के दर्शन के अनुरूप नहीं बना तो वह अधिकाधिक से भौतिकशास्त्र संबद्ध हो गया। यह विकास सन् १८५८ के आरंभ तक द्रुतगति से हुआ है, जबकि यह 'सिन्थेटिक फ़िलॉसफ़ी' के प्रथम प्रारूप में अपने साध्य पर पहुँच गया। जीवन की एक दैवी और परात्पर कल्पना का स्थान अब शक्ति ले लेती है। सार्वभौमिक विकास की कल्पना अभी भी विद्यमान है परंतु अब वह

शक्ति की यांत्रिक शब्दावली में अभिव्यक्त की गई है, न कि जीवन की सावयवी शब्दावली में। प्रथम सिद्धान्त है, शक्ति की अविनाशमानता : इससे निकलने वाली दो मुख्य उपसिद्धियाँ हैं—समस्त वस्तुओं की चरम संतुलन की ओर प्रवृत्ति तथा समस्त वस्तुओं की इस संतुलन को प्राप्त करने के लिए एक विकास की प्रक्रिया द्वारा अपने को रूपांतरित करने की आनुषंगिक प्रवृत्ति। समस्त प्रकृति, जिसमें प्रकृति के भाग के रूप में मानव समाज भी सम्मिलित है, रूपांतरण अथवा विकास की एक सार्वभौमिक प्रक्रिया में—जो कि शक्तियों के संतुलन-स्थापन के सार्वभौम नियम का परिणाम है—एक समष्टि के रूप में संग्रहित है। और रूपांतरण तथा उसका स्रोतरूप सार्वभौम नियम शक्ति की अविनाशमानता की उपसिद्धियाँ हैं। ये विचार डारविन के द्वारा उसके सिद्धान्त के प्रतिपादन के पूर्व ही जाने जा चुके थे; और इस प्रकार स्पेंसर 'सामाजिक विकास' की धारणा पर जीवशास्त्र के माध्यम से नहीं पहुँचता, और न किसी जैविक सादृश्य के द्वारा, वरन् भौतिकशास्त्र की शब्दावली में अभिव्यक्त सार्वभौमिक विकास के एक व्यापक विचार द्वारा : एक ऐसा विचार जो अपनी व्यापकता में एक ही विधि की समरूप व समानान्तर अभिव्यक्तियो के रूप में समाजशास्त्र और जीवशास्त्र दोनों को, और यही नहीं, खगोलशास्त्र और भूगर्भशास्त्र को भी, सम्मिलित कर लेता है।

परंतु स्पेंसर के समाजशास्त्र पर जीवशास्त्र का विशिष्ट प्रभाव रहा। यह समझना एक ग़लती होगी—एक ऐसी ग़लती जिसके लिए वह एफ़० एच० गिडिंग्ज़ पर आक्षेप करता है जिसने कि वह गलती कभी की ही नहीं—कि स्पेंसर ने समाजशास्त्र को जीवशास्त्र पर आधारित किया; परंतु यह सत्य है कि ये दोनों उसके सिद्धान्त में घनिष्ठ तथा विशिष्ट रूप से संबद्ध हैं। स्पेंसर की जीवशास्त्र में उसी समय से अभिरुचि थी जब वह बाल्यावस्था में कीड़ों-मकोड़ों को पालता था। जैसे-जैसे उसने प्रगति की, उसने लेमार्क द्वारा सन् १८०० में ही प्रस्तावित जीवशास्त्र के सिद्धान्तों को अंगीकृत किया और उन्हें अपनी व्यवस्था के अनुकूल बनाया। उसका मत था कि वाह्य वातावरण जीवधारी प्राणियों पर प्रभाव डालता है, (इस विश्वास को सुदृढ़ बनाने में सन् १८५६ में प्रकाशित बकिल (Buckle) की 'हिस्ट्री ऑव सिविलाइज़ेशन'

सहायक हुई होगी); कि प्राणधारी जीव अपने कार्यों और ढाँचे को वाह्य वातावरण के अनुकूल बना लेते हैं; और यह अनुकूलन एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी से प्राप्त करती रहती है।

यह कॉलरिज के विकास सम्बन्धी दृष्टिकोण से कि वह जीवन में स्वतः अन्दर से होता है, बिदाई लेना है। अब, इसके प्रतिकूल, ऐसे विकास का बाहर से होना माना जाता है। परंतु यह नवीन दृष्टिकोण सार्वभौमिक विकास के पुराने भौतिक नियम के अन्तर्गत आ सकता था और वस्तुतः हुआ भी ऐसा ही। वातावरण के साथ अनुकूलन (adaptation) शक्तियों अथवा ऊर्जाओं (energies) का संतुलित होना ही है: यह जीवधारी प्राणी की ऊर्जा का वातावरण की ऊर्जा के साथ अनुकूलन है। इस प्रकार सार्वभौमिक भौतिक विकास के साथ सम्बद्ध लेमार्क का जीवशास्त्र स्पेंसर के मनोविज्ञान तथा उसके समाजशास्त्र में परिणत होता है। मन अपने को अनुकूलित कर अपने आप को वाह्य वातावरण के साथ समन्वयित अथवा संतुलित करता है जो कि उसका वंशानुक्रम से प्राप्त परंपरागत तंतु बन जाता है। पुनः, व्यक्ति अपने आपको अनुकूलन के द्वारा, तथा उस अनुकूलन की वंशानुक्रम-प्राप्ति के द्वारा सामाजिक वातावरण से तब तक संतुलित करता है जब तक वह एक पूर्ण संतुलन में चरम अराजकता की आनन्दपूर्ण स्थिति को प्राप्त नहीं करता है। इस बात पर ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि स्पेंसर की विचारधारा का इस कोटि के लेमार्कवाद में ही अन्त होता है—जिस प्रकार कि उसका आरंभ था। वह कभी भी डार्विनवादी नहीं बना। डार्विन ने जब अपना सिद्धान्त प्रकाशित किया उसके कुछ मास पूर्व ही वह अपना मानसिक विकास समाप्त कर चुका था और अपनी 'सिन्थेटिक फ़िलॉसफ़ी' नामक पुस्तक की रूपरेखा तैयार कर चुका था। डार्विन को वातावरण के साथ प्रयोजनपूर्ण अनुकूलन में विश्वास नहीं था : वह आकास्मिक रूपांतरों (accidental variations) में विश्वास करता था तथा उसका मत था कि उन आकास्मिक रूपांतरो को जो वातावरण के साथ मेल खाते हैं वंशानुक्रम के द्वारा स्थायी रूप दे दिया जाता है—अन्तिम रूप से इसका कारण यह है कि वे उस वातावरण के लिए सर्वाधिक उपयुक्त हैं; परन्तु निकटवर्ती रूप से इस कारण कि वे जीवन संघर्ष में अवशिष्ट रहने के

लिए अनिवार्य रूप से चुने गए। स्पेन्सर प्राकृतिक चयन को 'अप्रत्यक्ष संतुलन-स्थापन' (indirect equilibration) का एक कारण स्वीकार करने को, अर्थात् एक जीवधारी प्राणी को उसके वातावरण के साथ संतुलन-स्थापन के ऐसे दृष्टांतों के लिए उत्तरदायी मानने को जो कि उस प्राणी की अपने वातावरण पर प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया के परिणाम नहीं थे, प्रस्तुत था। वह यह भी मान लेने को प्रस्तुत था कि सर्वाधिक आरंभिक अवस्थाओं में प्रत्यक्ष की अपेक्षा अप्रत्यक्ष संतुलन-स्थापन ही अधिक हुआ। अन्य बातों में वह डार्विन का अनुयायी नहीं था, और इन बातों में भी उसने अपना दृष्टिकोण डार्विन के कुछ लिखने के पूर्व ही स्वतंत्र रूप से प्राप्त कर लिया था। 'सोशल स्टेटिक्स' में ही वह 'प्रकृति के उस कठोर अनुशासन' को स्वीकार करता है जो अनुपयुक्त को लुप्त कर देता है तथा 'चारों ओर की दशाओं से पूर्णतः अनुकूलित ढाँचे के पोषण' को सुनिश्चित करता है। और इसी अनुशासन के नाम पर वह गरीबों की सहायता की व्यवस्था पर प्रहार करता है।

स्पेन्सर किस प्रकार जीवन की आदर्शवादी कल्पना, जिससे उसने आरंभ किया था, और भौतिकवादी शक्ति की अविनाशमानता में, जहाँ वह समाप्त करता है, समाधान स्थापित करता है? और किस प्रकार वह दोनों का अपने आरंभिक उग्रसुधारवाद तथा उसकी जीवधारी व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की शिक्षा के साथ समाधान करता है? प्रथम समाधान जीवन और शक्ति शब्दों के अनिश्चित प्रयोग के द्वारा—जिसने कि स्वयं विकसित होने वाले सावयवों के सिद्धांत के स्वयं संतुलन स्थापित करने वाले यन्त्रों के सिद्धांत में परिवर्तन को आवृत्त करने का कार्य किया—प्राप्त किया गया, अथवा यों कहा जाय कि प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया। परन्तु यह अनिश्चितता केवल यथार्थ असमाधानशीलता को ही छिपाती है; और यथार्थ असमाधानशीलता उसके राजनीतिक दर्शन में सामाजिक सावयव की धारणा की सतत परिवर्तनशीलता में दृष्टिगोचर होती है। ऐसा लगता है जैसे कि सामाजिक सावयव (social organism) निरन्तर जीवन प्राप्त करने तथा एक जीवित पदार्थ होने के लिए आग्रह करता है, और स्पेन्सर को राज्य की भौतिक एककों के एक सम्मिश्रण के रूप की यांत्रिक धारणा को स्थापित करने के लिए उसका अन्त करने के वास्ते असंगत

युक्तियों का आश्रय लेना होता है। राजनीतिक विकास की दो मुख्य अवस्थाओं, सैनिक तथा औद्योगिक, में भेद स्थापित करना वह प्रधान युक्ति है जिसका उसने प्रयोग किया है। प्रथम और निम्न अवस्था के लिये वह विलयित सावयव (integrated organism) को उचित ठहराता है; दूसरी तथा श्रेष्ठ अवस्था के लिए वह एककों के विभेदकरण को उचित मानता है—जैसे कि विलयन और विभेदकरण सहगामी और सहसंबन्धित न हों और जैसे कि विकास को एक कुल्हाड़ी से दो विषम अवस्थाओं में बाँटना संभव हो। दूसरी युक्ति जो कि मूलतः प्रथम के समरूप ही है, विलयन के दो प्रकारों—स्थिति (status) के विलयन तथा अनुबन्ध (contract) के विलयन (यह भेद मेन से ग्रहण किया गया है)—में भेद करना, तथा उसके पश्चात्–स्थिति को, जो कि एक सावयवी दशा का प्रतिनिधित्व करती है, बर्बरतापूर्ण सैनिक काल के लिए बहिष्कृत कर–अनुबन्ध का जो कि एक यांत्रिक संबंध का प्रतिनिधित्व करता है, बाद के औद्योगिक काल के लिए समर्थन करना है, जैसे कि उद्योगवाद में सर्वाधिक उच्चकोटि की सावयवी अन्योन्याश्रयता आवश्यक रूप से अन्तर्निहित नहीं है।

दूसरा समाधान—अर्थात् अपने आरंभिक उग्रसुधारवाद का अपने उत्तर-दर्शन के साथ समाधान–स्पेन्सर परम-शक्ति अथवा स्वप्नलोकवाद की विचार धारा के द्वारा स्थापित करता है। उसके तर्क का प्रवाह इस प्रकार है। यह माना जा सकता है कि विकास, चाहे उसे जीवन की व्यक्तीकरण की प्रवृत्ति माना जाय और चाहे शक्ति की संतुलन-स्थापन की प्रवृत्ति, अंतिम रूप से एक पूर्ण संतुलन प्राप्त करता माना जा सकता है। यह साध्य, जो कि भविष्य के लिए है और इस प्रकार एक दूरवर्ती स्वप्नलोक माना जा सकता है, एक निरपेक्ष प्रतिमान अथवा आदर्श है। वह पूर्ण संतुलन (अथवा यदि हम उसे लेमार्क की शब्दावली में रूपांतरित करें तो पूर्ण अनुकूलन) जो कि विकास प्राप्त करेगा, सामाजिक आदर्श का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसा आदर्श आवश्यक रूप से गतिहीन है, क्योंकि आदर्श की प्राप्ति पर प्रगति रुक जाती है और गति बन्द हो जाती है। इसी कारण स्पेन्सर सामाजिक स्थिति विज्ञान की एक ऐसी संहिता की बात करता है जिसे वह माप का प्रतिमान मानता है जिससे प्रत्येक

वस्तु के सम्बन्ध में निर्णय किया जाना चाहिये और जिससे निकटता के आधार पर ही प्रत्येक वस्तु का मूल्यांकन किया जाना चाहिए। परन्तु यह केवल सामाजिक व्यवस्था के एक प्रतिमान अथवा आदर्श के रूप में प्राकृतिक अधिकारों की पुरानी धारणा की, केवल इस अन्तर के साथ कि उस संहिता को भविष्य के लिए निश्चित किया गया है और उसे विकास के साथ संबद्ध कर दिया गया है, पुनरावृत्ति मात्र है। जिस रूप में उसे स्पेन्सर ने प्रतिपदित किया है उस रूप में प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत केवल अन्तिम अराजकता की आनन्दपूर्णता का सिद्धांत मात्र है। एक बार पूर्ण संतुलन अथवा अनुकूलन प्राप्त हो जाने पर मनुष्य स्वाभाविक रीति से वही करता है जो उसे करना चाहिए; और शासन एक पोशाक की भाँति स्वयं ही दूर हो जायगा। इस प्रकार अराजकता आदर्श है और अराजकता की स्थिति से निकटता की मात्रा से ही हम प्रत्येक समाज का मूल्यांकन कर सकते हैं। इस प्रकार के विचार की दो आलोचनाएँ हो सकती हैं। प्रथम, मानवीय व्यवहार का विकास कभी भी ऐसी स्थिर शांति नहीं प्राप्त करता। क्षितिज सदैव पीछे हटता जाता है; कभी भी एक चरम और पूर्ण अनुकूलन की स्थिति नहीं आती; प्रत्येक नवीन अनुकूलन समस्याओं का एक नया समूह प्रस्तुत कर देता है और एक नवीन अनुकूलन की ओर ले जाता है। द्वितीय, स्पेन्सर की प्रवृत्ति चरम स्वप्नलोकीय आदर्श तथा वर्तमान सामाजिक दशाओं के सम्बन्ध के बारे में गड़बड़ी कर देने की रही है। इस विचार पर दृढ़ रहने के स्थान पर कि किसी विशिष्ट समय की सामाजिक परिस्थितियाँ जहाँ तक वे आदर्श का श्रेष्ठतम संभव निकट रूप है उस सीमा तक वे न्यायोचित हैं और पूर्णतः अच्छी हैं, वह ऐसी सामाजिक परिस्थितियों को अपने आदर्श के विरुद्ध रखने तथा तत्पश्चात् उनकी अपने आदर्श के प्रतिमान के अनुसार अपूर्ण तथा अन्यायपूर्ण कह कर आलोचना करने का आदा है। वह अपने 'निरपेक्ष आचारशास्त्र' के आलोचकों के विरुद्ध कितना भी यह कहे कि उसने वर्तमान सामाजिक संस्थाओं का मूल्य जान लिया है, वस्तुतः वह ऐसा करने में असमर्थ रहा—कम से कम 'सोशल स्टेटिक्स' के बारे में तो यह सत्य ही है। इसके विपरीत अराजकता के चरम स्वप्नलोक पर अपनी दृष्टि जमाये रख कर वह विद्यमान शासन की उसे प्रकृतिशः अन्याय-

पूर्ण कह कर आलोचना करता है, और इस प्रकार वह एक विचित्र मध्ययुगीन विचारधारा में फँस जाता है जो कि समस्त शासन को बुराई और हिंसा के परिणाम और स्रष्टा के रूप में देखती है। इस प्रकार उसकी विकास की धारणा का, इस कारण कि वह एक ऐसे साध्य की कल्पना पर आधारित है जो कि न्याय का प्रतिमान है, उसकी उग्रतावादी राजनीति से सामंजस्य होता है। परन्तु इसी प्रकार से ही उसका पूर्ण राजनीतिक सिद्धांत दिशाभ्रष्ट हो जाता है, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति शासन और सामाजिक संस्थाओं को अन्यायपूर्ण और अरक्षणीय मानने वाले दृष्टिकोण की ओर है। और इस प्रकार पुनः जीवधारी सामाजिक सावयव—जिसे उसने अपने आरंभिक आदर्शवाद से प्राप्त किया था—प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत से, जो कि उसके आदर्शवाद से भी पुराने उग्रसुधारवाद की देन है, जिसका उसने बाद में विकास की धारणा के द्वारा बचाव करने का प्रयत्न किया, सतत रूप से युद्धरत रहता है।

हम स्पेन्सर के स्रोतों और उसके दूसरे विचारकों के प्रति ऋण का उल्लेख कर चुके हैं। स्पेन्सर का स्वयं अपनी मौलिकता पर बल देने की ओर झुकाव था। सन् १८६६ में लेस्ली स्टीफेन को एक पत्र में वह यह दृढ़तापूर्वक कहता है कि 'सोशल स्टेटिक्स' लिखने के समय उसकी कोई तैयारी नहीं थी। उसने वस्तुओं को स्वयं अपनी आँखों से, न कि दूसरों की आँखों से, देखा; वह सीधा तथ्यों तक पहुँचा और अपने निष्कर्षों को प्रत्यक्षतः जीवन से प्राप्त किया। सत्य यह है कि उसने द्रुतगति से पढ़ा और बहुत से शीघ्रतापूर्ण प्रभाव प्राप्त किए और उसने बहुधा विचारों को बातचीत के दौरान में (मुख्यतः हाजस्किन से) आत्मसात किया। व्यवस्थित रूप से न पढ़ने के कारण उसने सोचा कि वह मौलिक है, जब कि हर समय वह पढ़ाई अथवा बातचीत में संग्रहित वेगयुक्त प्रभावों पर आश्रित रहता था। सामान्यीकरण की सकारात्मक प्रतिभा से युक्त होने के कारण (जिसके परिणामस्वरूप उसने प्रभावपूर्ण खोजें और आश्चर्यजनक भूलें की) उसने इस अत्यधिक अपूर्ण सामग्री का संश्लेषण करने का प्रयत्न किया। परन्तु 'सोशल स्टेटिक्स' मे वह 'तथ्यों' तक नहीं पहुँचा था, और अपनी 'डेस्क्रिप्टिव सोशियालाजी' में भी वह सभ्य जीवन की

सामाजिक संरचना के वास्तविक तथ्यों तक नहीं पहुँचा था। यदि उसने अपने पूर्ववर्तियों के दर्शन पर व्यवस्थित रूप से कार्य किया होता और वास्तविक तथ्यों का व्यवस्थित रूप से अध्ययन किया होता तो उसने अपेक्षाकृत कम सफलता प्राप्त की होती और शायद विश्व की अधिक सहायता की होती। वर्तमान रूप में, हमें उसे अपूर्ण तथ्यों से, जिन्हें वह कभी एक समष्टि के रूप में नहीं विचार सका, एक प्रभावपूर्ण सामान्यीकरण करने वाला विचारक मानना चाहिए। यही कारण है कि स्पेन्सर को समझने के लिए उसके 'स्रोतों' का अध्ययन अन्य अधिकांश विचारको के अध्ययन के लिए उनके स्रोतों के अध्ययन से अधिक महत्वपूर्ण है।

अब हम इस बात को ध्यान में रखते हुये कि वह समाज की चरम अगतिशील स्थिति का वर्णन है—समाज का उसके निरपेक्ष रूप में न कि उस रूप में जैसा कि वह यथार्थ में है—'सोशल स्टेटिक्स' पर, जो सन् १८५१ में प्रकाशित हुई थी, विचार कर सकते हैं। यथार्थ शासन तथा उनकी रीतियों के प्रति स्पेन्सर अन्य स्थलों की भाँति यहाँ भी सजीव घृणा प्रदर्शित करता है। जैसा कि उसका कथन है, यह घृणा उसे अपने 'डिसेंटिंग परिवार' से जो कि स्वेच्छाचारी नियंत्रण का विरोधी था, प्राप्त हुई; और एक ऐसे युग में रह कर जिसमें व्यापार पर शासनीय नियंत्रणों के दूर होने से आर्थिक सुख की आशा की जाती थी, वह आवश्यक पुलिस कर्मचारी तथा न्यायालयों के अतिरिक्त शासन के अन्य समस्त रूपों के उन्मूलन में ही सार्वभौमिक सुख की आशा करने लगा। उसकी कृतियों की मुख्य बात जो प्रारंभ से अन्त तक बार-बार सामने आती है शासन की मूर्खता, गडबड़ी तथा अत्यधिक औपचारिकता की भर्त्सना है। बकिल (Buckle) की भाँति वह सदैव विधायकों के पापों के विरुद्ध 'कमिनेशन सर्विस' करता रहता है। और यही उसका कटु सत्य है। कोई भी व्यक्ति स्पेंसर की कृतियाँ बिना यह सबक़ सीखे नहीं पढ़ सकता—एक ऐसा सबक़ जिसे सीखना हितकर ही है—कि अंततः राज्य अपने कर्मचारियों की सीमित बुद्धि के द्वारा ही कार्य करता है। हमें उससे ऐसी किसी बात की आशा नहीं करनी चाहिए जिसकी हम अपनी समान रूप से सीमित बुद्धि से आशा नहीं कर सकते। परन्तु स्पेंसर इस निष्कर्ष से ही संतुष्ट नहीं है। वह और

आगे जाता है। वह कहता है कि हम व्यक्ति की बुद्धि से राज्य अथवा उसके कर्मचारियों की बुद्धि की अपेक्षा अधिक आशा कर सकते हैं। वह राज्य के सम्प्रदाय के विरोध में व्यक्ति का सम्प्रदाय खड़ा करता है। उसके राज्य के प्रति द्वेषपूर्ण दृष्टिकोण का अग्रभाग व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों में विश्वास है। संसार में मूल वस्तु वैयक्तिक क्षमता का स्वतंत्र उपयोग है, जिसमें ही एक मात्र रूप से अज्ञात कारण के द्वारा व्यक्ति के लिए निर्दिष्ट सुख निहित है। और 'सोशल स्टेटिक्स' का प्रथम मूल सिद्धांत, जिससे अन्य सब बातें निगमन के द्वारा प्रवाहित होती है, समान स्वतंत्रता का नियम है—जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के ऐसी स्वतंत्रता प्राप्त करने से जो केवल दूसरों की समान स्वतंत्रता की आवश्यकता से ही निर्बाधित हो, क्षमता का, और इस प्रकार सुख का, अधिकतम प्रयोग प्राप्त किया जा सकता है। स्पेंसर की कल्पना का व्यक्ति आवश्यक रूप से एक असम्बद्ध और इस कारण अवास्तविक व्यक्ति है। परन्तु उसी पर स्पेन्सर ने अपने सम्पूर्ण दर्शन का सृजन किया है। 'सोशल स्टेटिक्स' में वह इस बात पर पूर्णतः स्पष्ट है (और 'प्रिंसिपिल्स ऑफ़ सोशियालाजी' में वह इस कथन को दोहराता है) कि यदि हम सामाजिक समूह (social aggregate) को समझना चाहें तो हमें केवल उन एककों को ही समझना होगा जिससे वह बना है। सम्बद्ध राज्य की विशेषताएँ सम्बद्ध व्यक्तियों की 'अन्तर्भूत विशेषताओं' का परिणाम ही होंगी। व्यक्ति को हम दो पक्षों में देख सकते हैं—आंतरिक तथा वाह्य। प्रथम पक्ष में वह एक ऐसी सामर्थ्य से युक्त प्राणी है जो कार्य के साथ उस अनुकूलन की दशा के रूप में, जो पूर्णता की सृष्टि करता है, स्वतंत्रता की माँग करती है; दूसरे पक्ष में वह एक ऐसी चेतना है जो एक ऐसे अन्तर्भूत न्याय-भाव से युक्त है जो उससे अपने लिए अपनी क्षमता के लिए आवश्यक स्वतंत्रता का दावा कराता है; तथा साथ ही वह एक सहानुभूतिपूर्ण अनुराग से भी युक्त है जो उससे दूसरों की वैसी ही स्वतंत्रता का सम्मान कराता है। व्यक्ति के वाह्य पक्ष की बात करते समय स्पेन्सर प्रकृति की उस परोपकारिता तथा हितों की अनुरूपता में अपना विश्वास व्यक्त करता है जिसका ऐडम स्मिथ ने उल्लेख किया है। प्रकृति ने अपनी योजना इस प्रकार बनाई है तथा प्रत्येक भाग को इस प्रकार दूसरे भाग से समायोजित किया है कि प्रत्येक प्राणी, स्वयं

पूर्णता प्राप्त कर तथा अपने रूप में स्वतंत्रतापूर्वक कार्य कर उसकी योजना में सर्वोत्तम रीति से अपना स्थान प्राप्त कर सकता है तथा उसके समायोजन के अनुकूल बन सकता है। उसकी व्यक्ति के आंतरिक पक्ष सम्बन्धी धारणा स्काटलैंड के अन्तर्बोधवादी विचारको (intuitional school) की शिक्षा से समान रूप से और विशेषतः ऐडम स्मिथ के विचारो से प्रभावित है। वह न्याय की एक अन्तर्भूत प्रवृत्ति तथा इस प्रवृत्ति के उस सहानुभूतिपूर्ण अनुराग में विश्वास करता है जिसे परोपकारिता (beneficence) कहा जाता है तथा जो प्रत्येक व्यक्ति को दूसरों को वह दावा करने देने तथा उनको ऐसा दावा करने में सहायता देने की ओर प्रवृत्त करता है जिसकी कि वह स्वयं माँग करता है। वस्तुतः स्पेन्सर हमें यह बतलाता है कि उसने सहानुभूति और परोपकारिता का यह अंतिम सिद्धांत ऐडम स्मिथ की जानकारी प्राप्त करने के वर्षों पूर्व मस्तिष्क-विज्ञान (Phrenology) के अध्ययन से सीखा था। इसका स्रोत कुछ भी रहा हो, 'सोशल स्टेटिक्स' में वह निश्चित रूप से उन सिद्धान्तों का उल्लेख करता है जिनका बेंथम ने खंडन किया था। वह उपयोगिता के बुद्धिवादी गणन (rational calculus) के विरुद्ध अन्तर्बोध के सिद्धांत (Doctrine of intuition) को खड़ा करता है। उसका विश्वास है कि प्रत्येक चेतना का निर्माण इस प्रकार हुआ है कि वह स्वाभाविक रूप से अन्य समस्त चेतनाओं के साथ अपने आपको पूर्णतः और पर्याप्त रूप से समायोजित कर सकती है।

इन प्राणियो और उनकी चेतनाओं को संयुक्त करने से हमें स्वतंत्रता—ऐसी स्वतंत्रता जो संवास के कारण इस सीमा तक संशोधित है कि उसे प्रत्येक सदस्य के लिए समान होना आवश्यक है—संवास के ऐसे अनन्य नियम के रूप में प्राप्त होती है जिससे अन्य समस्त नियम प्रवाहित होते हैं और उन्हें जिसके अनुरूप होना चाहिये। स्वतंत्रता शासन की पूर्व-स्थिति है; यही उसका प्रतिमान है। इस प्रकार हम अधिकारो पर पहुँचते हैं जो 'क्षमताओ का उपयोग करने के सामान्य दावे के कृत्रिम विभागो के अतिरिक्त कुछ नहीं है।' हम देखते हैं कि ये अधिकार समाज-पूर्व अधिकारो के अर्थ में 'प्राकृतिक' हैं; वे मानवीय ढाँचे के दैविक रूप से निर्दिष्ट 'अन्तर्भूत गुण' (inherent properties)

हैं। हमें पूर्ण किए हुए कार्य को करने के लिए नहीं रुकना चाहिए; हम केवल विहंगम दृष्टि से यह देख सकते हैं कि अधिकार, जिनका सामाजिक मान्यता के बिना अस्तित्व रह ही नहीं सकता, यहाँ उस मान्यता से पूर्णतः विच्छिन्न कर दिए गए हैं—जैसा कि उस विचारक के द्वारा जो असम्बद्ध व्यक्तियों को आरंभ विन्दु मान कर चलता है किया जाना आवश्यक है। हमें स्पेन्सर की अधिकारों की अन्तर्वस्तु सम्बन्धी धारणा पर विचार करने के लिए आगे बढ़ना चाहिये। यहाँ हम नागरिक के व्यक्तिगत अधिकारों में, जो विशेष रूप से उसकी सम्पत्ति और परिवार से सम्बन्ध रखते हैं तथा उसके सार्वजनिक अधिकारों में, जो उसके राज्य के साथ सम्बन्धों से सम्बद्ध हैं, भेद कर सकते हैं। स्पेन्सर की व्यक्तिगत अधिकारों की धारणा की कुछ विशिष्टताएँ हैं, जो उसके सामान्य दृष्टिकोण से तर्कपूर्ण रीति से संबद्ध हैं। वह भूमि सम्बन्धी व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार में तनिक भी विश्वास नहीं करता क्योंकि वह समान स्वतंत्रता के नियम का, जो भूमि में समान अधिकार की माँग करता है, अतिक्रमण करता है। उस नियम में धरती का सार्वजनिक तथा राष्ट्रीय स्वामित्व निहित है। परन्तु एक बार इस प्रकार का स्वामित्व स्वीकार कर लेने पर उसकी उपज में व्यक्तिगत सम्पत्ति हो सकती है और उसका होना आवश्यक भी है—न केवल इस कारण कि उत्पादनकर्त्ता ने उपज में अपना श्रम मिलाया है, वरन् इसलिए कि उसने समुदाय से धरती को किराए पर लिया है और इस प्रकार एक ऐसा अधिकार प्राप्त कर लिया है जो कि मान्य है 'क्योंकि उसने अपना श्रम मिलाने के पूर्व समाज की स्वीकृति प्राप्त कर ली थी।' यह अंतिम महत्वपूर्ण वाक्य स्पेन्सर के प्राकृतिक अधिकारों के सम्पूर्ण सिद्धान्त को बहुत कुछ विनष्ट करता प्रतीत होता है। यदि सम्पत्ति के अधिकार जैसे प्राथमिक अधिकार के लिए सामाजिक प्रस्वीकृति आवश्यक है, तो यह जानना कठिन है कि अधिकार किस प्रकार अपनी प्रकृति के कारण ही सामाजिक प्रस्वीकृति से स्वतंत्र हैं। यह आत्म-व्याघात (self-contradiction) इस कारण और अधिक महत्त्वपूर्ण है कि स्पेन्सर निश्चित रूप से सम्पत्ति की आकांक्षा को 'हमारी प्रकृति के तत्वों में से एक' बतलाता है, और इस प्रकार अन्तनिर्हित रूप से एक अधिकार का जिसे वह बाद में सामाजिक मानता है, प्राकृतिक कह कर दावा

करता है। परन्तु अपने सम्पत्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण में तो वह क्रांतिकारी है ही (और सत्यतः प्राकृतिक और समाज से असम्बद्ध अधिकार समाज के लिए ध्वंसक होने के अतिरिक्त और कुछ हो भी नहीं सकते), वह अपने परिवार सम्बन्धी दृष्टिकोण में और भी अधिक क्रांतिकारी है। यह मानते हुए कि प्रत्येक अधिकारी अथवा शासन अपनी प्रकृति से ही बर्बरतापूर्ण है और स्वतंत्र व्यक्ति ही एकमात्र सभ्य संस्थान है, वह 'नारियों की पराधीनता' पर मिल के लगभग बीस वर्ष पूर्व प्रहार करता है; और बालको की पराधीनता पर प्रहार करने में तो वह मिल से भी बहुत आगे बढ़ जाता है। न केवल स्त्रियो को मताधिकार ही मिलना चाहिये वरन् समाज की एक आदर्श व्यवस्था में परिवार को, जीवन के एक संगठन तथा चरित्र के अनुशासन के रूप में, लुप्त हो जाना चाहिये और समान स्वतंत्रता के नियम की परिधि का बालकों पर भी, जिनके अधिकार वयस्को के अधिकार के साथ सह-व्यापक हैं तथा जिनका पैतृक बलप्रयोग से विनष्ट होना अनुचित है, विस्तार किया जाना चाहिए।

सार्वजनिक अधिकारो का विवेचन करते समय स्पेंसर इस पूर्वधारणा से आरंभ करता है कि शासन, जो कि शोषक-राज्य का अवशिष्ट रूप है, आदर्श दृष्टिकोण से एक पतित और अनैतिक संस्था है जिसके प्रत्येक कार्य से क्षमता (faculty) के स्वतंत्र कार्यकरण में हस्तक्षेप होना आवश्यक है। वस्तुतः, यह ज़रूरी है; यदि यह शोषक-राज्य (predatory state) का एक अवशिष्ट है तो उसके अन्य अवशेष भी हैं, और इन्हें अपने उपचार के लिए शासन की आवश्यकता होती है। परंतु यह एक ऐसी आवश्यकता है जिसका मर्यादा-शील होना आवश्यक है; जिसको अपने आप को समाप्त करना चाहिए; जिसको अपने अस्तित्व का, उसे न्यूनतम कर, औचित्य सिद्ध करना चाहिए। और ये कार्य यह तीन प्रकार से कर सकता है। प्रथम, यह अपने को, स्वतंत्रता के नियम के हित में, नागरिक के 'राज्य को महत्त्व न देने' के अधिकार को स्वीकार करके समाप्त कर सकता है। यह अपने नागरिकों को नागरिकता से प्राप्त होने वाले लाभो तथा उसके आभारा का परित्याग करने की अनुमति दे सकता है और उसे ऐसी अनुमति देना ही चाहिए। 'डिसेंट' अभी भी एक विषय में, और वह भी एक महत्त्वपूर्ण विषय में, राज्य को भुला देना

है; इस असहमति का सामान्यीकरण किया जाना आवश्यक है। परंतु यह आत्मविरोध तब बहुत कुछ लुप्त हो जाता है जब हम यह याद रखते हैं कि यह केवल एक आदर्श सिद्धान्त है तथा यह केवल समाज के आदर्श रूप में ही प्रवर्तित किया जा सकता है। स्पेंसर व्यक्ति को उस स्वाधीनता की आभा की झलक से लुभा देता है जो कि वह केवल पूर्णता के काल में ही प्राप्त कर सकता है। दूसरी बात यह है कि शासन समान स्वतंत्रता के नियम की माँगों को ऐसे सभी निर्बन्धों के लागू किए जाने में जिन्हें वह आरोपित करता है, नागरिकों को समान भाग देकर पूरा कर सकता है। जब तक सबको इस प्रकार भाग नहीं दिया जाता, वर्गात्मक-पक्षपात तथा वर्ग-शासन रहेगा ही। यदि सब को इस प्रकार भाग दिया जाता है तो वह संकट लुप्त नहीं हो जाता; परंतु फिर भी हम जनसाधारण में विश्वास कर सकते हैं—अंशतः इस कारण कि वे वर्ग-हित की साधना के लिए एकत्रित होने में बहुत अधिक असंगठित हैं। अंशतः, तथा और भी अधिक इस कारण कि कम से कम उनमें इतनी भलाई तथा इतनी शुभ भावना तो है ही जितनी कि शेष समुदाय में। तीसरी बात यह है कि राज्य को अपने कार्यों का सावधानीपूर्वक परिसीमीकरण करना चाहिए। प्रकृति हमें बतलाती है कि एक अवयव का केवल एक ही कार्य हो सकता है; और इस 'प्रथम सिद्धान्त' का निष्कर्ष, इतिहास का स्वर, तथा मनुष्यों का सार्वभौमिक व्यवहार संयुक्त रूप से यह सिद्ध करते हैं कि राज्य का एकमेव कार्य प्राकृतिक अधिकारों का संरक्षण—समान स्वतंत्रता के नियम का व्यवस्थापन तथा पोषण—है। राज्य एक 'पारस्परिक संरक्षण की संयुक्त पूँजी कम्पनी' है। राज्य के बिना और उसके अतिरिक्त हो सकता है कि मैं नौ वर्ष तक पूर्ण स्वतंत्रता उपभोग करता रहूँ और दसवें वर्ष में स्वतंत्रता और जीवन से हाथ धो बैठूँ; राज्य के अन्तर्गत मैं पूर्णतः स्वतंत्र कभी नहीं रहता, और साथ ही अपनी स्वतंत्रता पूरी तरह कभी नहीं खोता। राज्य में भी स्वतन्त्रता का उतना ही अतिक्रमण होता है जितना कि राज्य के बाहर; इसका कारण यह है कि राज्य प्रति दिन छोटे-छोटे अतिक्रमण करता रहता है। परन्तु ये अतिक्रमण अधिक अच्छी तरह वितरित और अधिक सह्य हैं; और इस कारण मैं राज्य से अपने को सुरक्षित करा लेता हूँ क्योंकि मैं

उसकी वितरण की रीति को अधिक पसंद करता हूँ, यद्यपि मैं जानता हूँ कि मुझे लाभ नहीं होगा और उसी मात्रा में अतिक्रमण सहन करना होगा। इस प्रकार कुछ-कुछ नकारात्मक अर्थ में मैं संरक्षित हूँ; और इस संरक्षण के लिए—परन्तु किसी और कारण से नहीं—मैं अपने को सुनिश्चित कर लेता हूँ। यदि राज्य मुझे कुछ अधिक देने का प्रयत्न करता है, जो वह केवल अपने उपहार के लिए मुझ से अधिक ले कर ही कर सकता है, तो वह उस 'अन्तर्भूत समझौते' को तोड़ता है जो कि हममें हुआ है। और हम यहीं देख सकते हैं—जो 'दि मैन वर्सस दि स्टेट' में स्पष्ट हो जाता है—कि प्राकृतिक अधिकारों में आवश्यक रूप से सामाजिक अनुबंध अन्तर्भूत रहता है, चाहे तर्क की प्रक्रिया को प्रासंगिक अथवा निरर्थक रूप से 'सामाजिक सावयव' का उल्लेख कितना ही सुशोभित करे।

स्पेंसर का राज्य के कार्य-सम्बन्धी विवरण मुख्यतः उन बातों का विवरण है जो राज्य को नहीं करना चाहिए। उसे उद्योग को नियमित नहीं करना चाहिए; उसे राज्यिक-चर्च को स्थापित नहीं करना चाहिए; उसे उपनिवेश स्थापित करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। उसे गरीबों को सहायता नहीं पहुँचानी चाहिए; और न ही सार्वजनिक स्वास्थ्य का ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि दोनों ही प्रकार से वह प्राकृतिक चयन के नियम के कार्यकरण को रोकता है—उस नियम के कार्यकरण को जिसे स्पेंसर ने डार्विन और वालेस द्वारा अपने निबन्धों को लिनियन सोसाइटी (Linnæan Society) को भेजे जाने के आठ वर्ष पूर्व सन् १८५० में ही समझ लिया प्रतीत होता है। राज्य को शिक्षा का भी प्रबन्ध नहीं करना चाहिए। बालक को उसका कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि वह उसके बिना ही अपनी क्षमताओं का प्रयोग कर सकता है; और दूसरी ओर पिता को उसकी आवश्यकता की समस्त वस्तुएँ—दूध और शिक्षा समान रूप से—एकाधिकार से अनियंत्रित खुले बाज़ार में ख़रीदने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त राज्य द्वारा दी गई शिक्षा प्रवृत्ति की दृष्टि से रूढ़िवादी होगी (यद्यपि इस सम्बन्ध में हमारा अनुभव कठिनाई से ही ऐसा कहा जायगा); न वह अपराधों को कम करेगी और न राज्य को अपने सदस्यों को बुराई से बचाने के वास्तविक और उचित कार्य में सहायक

होगी, क्योंकि अज्ञान का अपराध और बुरे काम करने से कोई सम्बन्ध नहीं है। अंततः राज्य को सार्वजनिक टकसाल भी नहीं स्थापित करना चाहिए, न डाक व्यवस्था का प्रबन्ध करना चाहिए और न किसी प्रकाशगृह का निर्माण करना चाहिए। संक्षेप में, प्रकृति के अनुशासन की उचित कठोरता में जो हमें जब हम अपने काम अपने आप करते हैं अच्छा बनाती है, तथा इससे भी बढ़ कर हमारे द्वारा किए गए कार्यों को राज्य द्वारा हमारे लिए किए गए कार्यों से श्रेष्ठतर बनाती है—हस्तक्षेप करना राज्य का कार्य तनिक भी नहीं है।

यहाँ हम स्पेन्सर में पाए जाने वाले सशक्त निगमनात्मक तत्व पर विचार समाप्त कर सकते हैं। इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो यथार्थ में नवीन हो, परन्तु ऐसा बहुत कुछ है जो उतना ही प्राचीन है जितना मध्य-युग; और यह एक ऐसी रीति से जिसने बेन्थम को भी भयाक्रांत कर दिया होता, सुख के बेन्थमवादी सिद्धांत को प्राकृतिक अधिकारों और अन्तर्बोध से उद्भूत होने वाली नैतिक भावना के सिद्धांतो से जिनकी बेन्थम ने उन्हें प्रधान हेत्वाभास (fallacies) कह कर निन्दा की थी—संयुक्त कर देता है। इस अव्यावहारिक निगमन के यांत्रिक तर्क पर विचार कर लेने के पश्चात् यह समझना कठिन प्रतीत होता है कि यहाँ जीव-शास्त्र को कहाँ स्थान मिल सकता है; और ऐसा होते हुए भी वह अत्यंत रोचक रीति से 'सोशल स्टेटिक्स' में ही स्थान पाता है। इस पुस्तक के आरंभ में ही स्पेन्सर न केवल मनुष्यों के सम्बन्ध में ही वरन् समस्त सावयवों के सम्बन्ध में यह कहता है कि वे, जीवन के आवश्यक सिद्धांत के कारण, अपने वातावरण के साथ अनुकूलन के द्वारा अपनी क्षमता के प्रयोग के लिए स्वतंत्रता पाने की दिशा में प्रवृत्त रहते है; और पुस्तक में बाद में वह गरीबों को सहायता दिये जाने तथा सार्वजनिक सफ़ाई का इस कारण विरोध करता है कि वे उस अनुशासन में हस्तक्षेप करते हैं जो समस्त जीवधारी सृष्टि में जीवन संघर्ष के द्वारा योग्यतम को जीवन-विजय दिलाने के लिए प्रयत्नशील रहता है, और इस प्रकार उस अनुकूलन में बाधक बनते हैं। वह इस संघर्ष में अनुकूल रूपांतरों (favourable variations) को स्थायी बनाने वाला तथा इसके परिणामस्वरूप जातियों को उद्भूत करने वाला कारण नहीं देखता।

परन्तु उसने इसके पूर्व ही कॉलरिज से, तथा अंततः शेलिंग से, जीवन का एक ऐसा सिद्धांत प्राप्त कर लिया था जो 'जीवन की' यथार्थ 'धारणा' को व्यक्तीकरण की प्रवृति में तथा जीवन की महत्त्व की मात्रा को इस प्रवृत्ति की उत्तरोत्तर सिद्धि में निहित मानता है। और यह सिद्धांत उसकी विकास सम्बन्धी इस अगली धारणा का कि वह विभेदीकृत (differentiated) और सजातीय (homogeneous) से अविभेदीकृत तथा विजातीय की ओर प्रगति है, मार्ग प्रशस्त करता है। 'व्यक्तिकरण' के इस सिद्धान्त में उसका विश्वास ही व्यक्ति के प्रति उसकी अनुकूल भावना की तीक्ष्णता का प्रेरणा-स्रोत है। इस दृष्टिकोण से ही वह नैतिकता को परात्पर-शरीरशास्त्र (transcendental physiology) का एक वर्ग मात्र बताता है। यदि व्यक्तीकरण की प्रवृत्ति समस्त प्राणी जीवन का नियम है, और यदि नैतिक नियम केवल व्यक्ति की क्षमता के स्वतंत्र प्रयोग द्वारा मानवीय जीवन के व्यक्तीकरण का नियम ही है, तो इसका यह अर्थ निकलता है कि नैतिक नियम सार्वभौमिक नियम का एक रूप मात्र है। यदि स्पेन्सर यहीं रुक जाता तो वह सही चाहे न होता, परन्तु वह स्पष्ट हो सकता था। तब हमें सावयवो के व्यक्तीकरण की विश्वव्यापी प्रक्रिया का, जिसमें जीवन-संघर्ष विजयी के रूप में सर्वाधिक व्यक्तीकृत सावयवों को शेष छोड़ता है,—ऐसे सावयवों को जो अपने तथा अपने वातावरण के बीच पूर्ण अनुरूपता के कारण सर्वाधिक स्वतंत्र रूप से कार्य करते हुये अधिकतम विशिष्ट क्षमता प्रदर्शित करते हैं—सिद्धांत प्राप्त होता।

परन्तु स्पेन्सर यहाँ नहीं रुका। उसने व्यक्तीकरण के बारे में उल्लेख किया था तथा व्यक्तीकरण में विश्वास को व्यक्ति तथा उसके अधिकारों में विश्वास से संयुक्त किया था। इसके पश्चात् उसे समाज और उसके दावे के बारे में विचार करना पड़ा। उसे सामाजिक व्यक्तीकरण की प्रक्रिया तथा सामाजिक व्यक्तीकरण के साथ व्यक्तियों के सम्बन्धों के बारे में विचार करना पड़ा। उसने इस समस्या का सामना किया, परन्तु उसे हल करने के स्थान पर उसने रूपकों के रेत में अपना सिर छुपा लिया। उसने यह तर्क दिया कि व्यक्ति का व्यक्तीकरण (individuation) होता है; साथ ही समाज का भी व्यक्तीकरण होता है। दोनों के लिए समान रूप से इस प्रक्रिया की परिणति एक सावयव में

होती है। एक वैयक्तिक सावयव है और एक सामाजिक सावयव है; और ये दोनों समानान्तर हैं। इस सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट कठिनाइयाँ हमारे सामने आती हैं। पहली बात यह है कि दो वस्तुओं के बीच में एक समरूपता सुझाने का अर्थ उन दोनों के बीच का सम्बन्ध निर्धारित करना नहीं होता। जितना ही अधिक समरूपता दिखाने का प्रयत्न किया जायगा उतनी ही अधिक संबन्ध निर्धारण की बात बिसरती जायगी। स्पेन्सर इस प्रकार प्रयत्न करने और विस्मृत करने की बात का अत्युत्तम उदाहरण है। दूसरी बात यह है कि यदि समरूपता स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा है तो यह आवश्यक है कि सादृश्य के दोनों सम्बन्धों के बारे में स्पष्ट रहा जाय। यदि दो सावयवों की तुलना की जा रही है तो उन दोनों के बारे में स्पष्ट ज्ञान होना आवश्यक है। स्पेन्सर वैयक्तिक सावयव के बारे में—जो कि स्पष्टतः शारीरिक है—शंकाहीन है; परन्तु उसे सामाजिक सावयव के बारे में किसी भी प्रकार शंकाहीन नहीं कहा जा सकता। बोधगम्य होने के लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक सावयव से उसका अर्थ एक मानसिक व्यवस्था (mental system) होना चाहिए, क्योंकि समाज एक समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मनों का एक संघटन है। दूसरी ओर, संगति बनाए रखने के लिए सामाजिक सावयव से उसका अर्थ एक शारीरिक व्यवस्था होना चाहिए। यह कल्पना करना कि एक शारीरिक सामाजिक सावयव का क्या रूप हो सकता है अत्यन्त कठिन है। और इतने पर भी हम स्पेन्सर को ऐसी एक वस्तु की कल्पना करते और सामाजिक सावयव में रेल-लाइनों और उनकी बगल में लगे टेलिग्राफ़ के तारों को भी सम्मिलित करते हुए पाते हैं।

जब हम एक सावयव की बात करते हैं तो हमारा अर्थ होता है—(१) एक जीवधारी ढाँचा जो विभिन्न प्रकार के अनेक भागों से बना है; (२) वे भाग, अपनी विभिन्नता के कारण, एक दूसरे के पूरक तथा परस्पर आश्रित हैं; (३) इसके परिणामस्वरूप उस समष्टि का स्वास्थ्य प्रत्येक भाग के द्वारा अपने उचित कार्य के निष्पादन पर निर्भर करता है। इस प्रकार एक सावयव उच्च मात्रा में विलयन के सहसम्बन्धित लक्षणों से युक्त होता है; और 'सावयवी एकता' का अर्थ होता है विभेदों के होते हुए तथा उनके द्वारा

एकता। पुनः, एक सावयव में, इस कारण कि वह एक जीवधारी ढाँचा होता है, और क्योकि वह अपने भागों के अन्योन्याश्रित कार्यों के द्वारा इतने विलक्षण रीति से कार्य करता है, किसी यांत्रिक क्रिया द्वारा बाहर से परिवर्तन नहीं किया जा सकता। वह विकसित होता है; वह अन्दर से एक ऐसे विकास के द्वारा जो उसके समस्त भागों को एक साथ प्रभावित करता है, बढ़ता है; और इसी विकास को 'सावयवी विकास' कहते हैं। सावयव, सावयवी एकता, सावयवी विकास—ये सब शब्द, एक रूपक के द्वारा राज्य पर अनुप्रयुक्त किए जा सकते हैं। राज्य एक सावयव नहीं है, परन्तु वह एक सावयव जैसा है। उसके सावयव न होने का कारण यह है कि वह एक शारीरिक ढाँचा नहीं है। वह एक मानसिक ढाँचा है—एक समान उद्देश्य के लिए विभिन्न मनों का एकीकरण। परन्तु यह मानसिक ढाँचा इस कारण एक सावयव जैसा है कि (१) समान उद्देश्य की पूर्ति विभिन्न भागों के द्वारा अन्योन्याश्रित कृत्यों के निष्पादन पर निर्भर करती है, और इस प्रकार इस ढाँचे की एकता 'सावयवी' है, और (२) ढाँचे में किसी प्रकार का परिवर्तन केवल अन्दर से ही तथा एक ऐसे विकास के द्वारा जो सब भागों को एक साथ प्रभावित करता है, हो सकता है, और इस प्रकार ढाँचे का विकास 'सावयवी' है। फिर भी यह बात सत्य ही बनी रहती है कि राज्य एक सावयव नहीं है क्योंकि यह स्वयं आत्म-निर्धारण करने वाले मनों की आत्म-निर्धारण करने वाली व्यवस्था है। और इस प्रकार पूरी उपमा, जब तक कि हम तुलना के पात्रों के बारे में स्पष्ट ज्ञान न रखते हों और जब तक हम इस बात को भी स्पष्ट रीति से न जानते हों कि रूपक और तर्क में अंतर होता है, तथा राज्य और व्यक्ति के बीच सादृश्य दिखाना उनके सम्बन्धों की विवेचना करना नहीं है, स्पष्टता के बजाय गड़बड़ी की ओर ही ले जाती है।

'सोशल स्टेटिक्स' में ही स्पेंसर 'सामाजिक सावयव' की बात करने लगा है। उसका कथन है कि समाज के विकास को व्यक्तीकरण तथा एक पदार्थ बनने की प्रवृत्ति के रूप में देखा जा सकता है। जिस बात की वह कभी व्याख्या नहीं करता वह यह है कि राज्य की एक पदार्थ बनने की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है, और एक व्यक्ति, जिसे पूर्णतः और समग्र रूप से उसका विरोधी माना

जाता है, एक ही साथ उसके अन्दर कैसे एक पदार्थ बनने की ओर प्रवृत्त हो सकता है। यह समस्या—और अंततः यह राजदर्शन की मूल समस्या है—अपने हल के लिए व्यक्ति की एक पूर्ण और उचित कल्पना की अपेक्षा करती है, जो मनुष्य और राज्य के बीच के कल्पित विरोध को दूर कर दे और यह बात माने कि व्यक्ति में अपने व्यक्तित्व के चरम तत्व के लिए बुद्धि और बौद्धिक उद्देश्य का एक ऐसा तत्व रहता है जो कि उसके और दूसरो के बीच समान है और जो उसको दूसरों के साथ संयोजित करनेवाली शृङ्खला है। ऐसी किसी धारणा के न होने के कारण, और वैयक्तिक मन के मनों की सामाजिक व्यवस्था के साथ सम्बन्ध के किसी वास्तविक सिद्धान्त के अभाव में, स्पेंसर एक ही रचना में तथा कुछ ही पृष्ठों में, राज्य को पहले एक संयुक्त-पूँजी-संरक्षण-कंपनी बतलाता है और उसके पश्चात् एक सामाजिक सावयव। जैसा कि बोसाँके का कथन है, 'चरम व्यक्तिवाद (uncriticised individualism) सदैव चरम समष्टिवाद (uncriticised collectivism) में रूपांतरित होने के संकट में रहता है।' यदि 'व्यक्ति' को मज़बूती से नहीं पकड़ा जाता तो वह अपने को बंधनमुक्त करने का प्रयत्न करता प्रतीत होता है। वह अपना सामाजिक पहलू दिखाने और सामान्य बनने का प्रयत्न करेगा। ऐसा लगता है, जैसा कि स्पेंसर का अनुभव और 'सोशल स्टेटिक्स' के अंत में कथन है, कि 'मानवीय विकास अधिकाधिक व्यक्तीकरण की दिशा में हो रहा है; 'प्रत्येक का कल्याण सबके कल्याण में अन्तर्भूत है'; 'सब का कार्य प्रत्येक का कार्य है।' और इस कारण वह पुस्तक जो हमसे एकक से आरंभ करने को और समष्टि में केवल उसके अन्तर्निहित गुणों को देखने को कहती है, यह बतला कर समाप्त होती है कि सामाजिक सावयव का स्वास्थ्य 'किसी सीमा तक' किसी ऐसे कार्य के पूरे किए जाने पर निर्भर करता है जिसमें एकक का भाग रहता है और प्रत्येक एकक का आनन्द सामाजिक शरीर के प्रत्येक अवयव के सामान्य कार्यकरण पर आश्रित रहता है। निश्चय ही यहाँ कुछ असंगति है और यदि हम यह कह कर उत्तर देने का प्रयत्न करें कि व्यक्ति के शासन में जिसका वह विरोधी है, और समाज में कुछ कार्य हैं, तो हमारा इस उत्तर से सफल होना कठिन

ही है। शासन समाज का एक भाग है और उसके अंगो में से एक है; फिर वह किस प्रकार अपनी प्रकृति से ही शेष भाग का विरोधी हो सकता है। पुनः, हम यदि यह तर्क दें कि शासन एक 'पतनशील अवयव' (deciduous organ) है और शोषक राज्य का एक अवशेष है जो कि औद्योगिक राज्य में एक उपद्रवकारी तत्व और कालदोष (anachronism) है तो भी हमें अधिक सफलता मिलने की आशा नहीं है। औद्योगिक राज्य के लिए भी शासन की आवश्यकता होती है—एक ऐसे शासन की जो पहले सभी शासनो से अधिक बहुमुखी और अधिक व्यापक होगा। वस्तुतः यह 'पतनशील अवयव' इतना अधिक शक्तिशाली कभी नहीं था जितना वह आजकल है।

स्पेंसर द्वारा राजनीति पर अपनी अगली रचना—दि 'प्रिंसिपिल्स ऑव सोशियालाजी', जिसका प्रथम भाग सन् १८७६ में प्रकाश में आया, प्रकाशित किए जाने के समय तक एक शताब्दी का चतुर्थांश बीत गया। यह समय मुख्यतः उसके सामान्य दर्शन के विकास मे व्यतीत हुआ, परन्तु इसी काल में उसने राजनीतिक विषयो पर अनेक निबंध—अधिकाशतः वेस्टमिनिस्टर रिव्यू में—प्रकाशित किए, जिनमें से अधिकतम महत्त्व वाले निबन्ध उसकी 'एसेज़' की तीन जिल्दो मे पुनर्मुद्रित किए गए हैं। 'सोशल स्टेटिक्स' के विचारो को स्पेंसर ने कुछ विषयो में बदला है और अन्य में आगे बढ़ाया है।

यह परिवर्तन अंशतः सामान्य दृष्टिकोण में हैं और अंशतः विशिष्ट सिद्धान्तो में। विश्व की एक अधिकाधिक यांत्रिक धारणा दैवी मार्गदर्शन और अन्तर्बोध से उद्भूत नैतिक विचारो (intuitive moral ideas) का स्थान ले लेती है। सन् १८५५ की 'प्रिंसिपिल्स ऑव साइकॉलोजी' में स्पेंसर वातावरण के वाह्य विश्व को मन में प्रविष्ट करता हुआ तथा मानवीय क्षमताओं को 'सावयव और वातावरण के बीच अन्तर्व्यवहार का व्यवस्थित परिणाम'—जो कि एक पीढ़ी द्वारा दूसरी पीढ़ी को वंशानुक्रम के द्वारा हस्तांतरित किया जाता है—मानता हुआ दिखाई देता है। भूमि तथा स्त्रियों की स्थिति सम्बन्धी विशिष्ट समस्याओ के प्रति स्पेंसर के दृष्टिकोण में परिवर्तन अधिक ध्यानाकर्षक है। यह परिवर्तन कुछ कठिनाइयाँ और कुछ मनोरंजन प्रस्तुत करता है। स्पेंसर में अभिमान का भाव था, जिसने उसे अपनी मौलिकता सम्बन्धी चिंता के साथ

ही अनुरूपता के बारे में भी चिंतित कर दिया था। वह पर्याप्त स्पष्टवादी नहीं था; जब वह अपने आधार में परिवर्तन करता था तो वह उसे छिपाने के लिए अपने मार्ग को आवृत्त करने का प्रयत्न करता था; और विवाद के बोझ से एक प्रकार के उदासतापूर्ण मौन की शरण लेने की उसकी आदत उसे सहायक सिद्ध नहीं हुई। इस प्रकार वह स्त्री मताधिकार (१८६७) के बारे में मिल और हेलेन टायलर के साथ तथा भूमि के राष्ट्रीयकरण (१८८२) के बारे में हेनरी जार्ज के साथ कठिनाइयों में फँस गया। दूसरे प्रश्न पर कठिनाइयों ने बाद में उसके हक्सले के साथ संबन्ध बिगाड़ दिए (१८८९–९३) तथा हेनरी जार्ज के साथ कलह को जन्म दिया (१८९३–९६)। तथ्य यह था कि इन विषयों पर स्पेन्सर ने अपने पूर्व विचारों को परिवर्तित कर लिया था और वह स्पष्टतः यह स्वीकार नहीं करता था कि उसने कोई परिवर्तन किया है। 'सोशल स्टेटिक्स' सन् १८९२ का संस्करण, जिसमें प्रथम संस्करण के संबन्धित भागों को बिना कोई कारण बताए निकाल दिया गया है, इस बात को मनोरंजक रीति से प्रदर्शित करता है। इस बात पर आश्चय नहीं होना चाहिए कि मिल और हेनरी जार्ज ने उसके समर्थन का दावा किया और उन्हे यह जान कर विस्मय हुआ कि वह उन्हें प्राप्त नहीं है; यह भी आश्चर्य की बात नहीं है कि विवादों में तीव्र रुचि रखने वाले हक्सले ने स्पेन्सर का उसकी टालबाजी पर उपहास किया और वह यह देखकर विस्मित हुआ कि स्पेन्सर ने रोषयुक्त मौन धारण कर लिया। इस कठिनाई के उत्पन्न होने का कारण यह तथ्य था कि 'सोशल स्टेटिक्स' में आरम्भ से ही पूर्ण अथवा स्वप्नलोकीय आदर्श तथा यथार्थ सामाजिक संस्थानों में अस्पष्टता थी। यह स्पष्ट नहीं था कि नारी-मताधिकार तथा भू-राष्ट्रीयकरण इनमें से किस विभाग में आते थे। मिल और हेनरी जार्ज ने उनका यथार्थ सामाजिक संस्थानों के लिए दावा किया। स्पेन्सर ने, जो अपने स्वप्नलोक को इतना निकट आते देख भयभीत हो उठा था ('मुझे यह तनिक भी कल्पना नहीं थी कि यह प्रश्न हमारे ही समय में उठाया जायेगा, प्रत्युत् दूरवर्ती भविष्य ही में मेरे मस्तिष्क में था'), उसे दूरवर्ती भविष्य के लिए टालने का प्रयत्न किया। और ऐसा उसने इस कारण और भी अधिक उत्सुकतापूर्वक किया कि, जैसा कि हम देखेंगे, वह यह मानने लगा था कि सामाजिक संस्थानों

का, जैसी कि वे हैं, अपने युग और विकास की अवस्था की संतुलन-स्थापन की उचित आकृति के रूप में सापेक्ष औचित्य हो सकता है और उन्हें निरपेक्ष आदर्श की तुलना में अस्वीकृत नहीं किया जाना चाहिए अथवा यहाँ तक की उनसे घृणा भी नहीं की जानी चाहिए—जैसा कि 'सोशल स्टेटिक्स' में उनके साथ करने की प्रवृत्ति है।

यदि इन बातों में सन् १८५० और सन् १८७५ के बीच 'सोशल स्टेटिक्स' के विचारों का परित्यजन किया गया है तो कई बातों में उन्हें आगे भी बढ़ाया गया है और यहाँ तक कि उन्हें समृद्ध और—विकसित भी किया गया है। 'दि थियरी ऑव पापुलेशन' (१८५२) पर लिखे गए निबन्ध के अनुसार उच्चतर विकास के साथ संतानोपत्ति में कमी होती है क्योंकि उच्चतर विकास अपने साथ जो व्यक्तीकरण लाता है वह पुनर्जनन का विरोधी है। 'आर्ट ऑव एजूकेशन' पर लिखा गया लेख, जिसे कि बाद में 'एजूकेशन' (१८६१) नामक संक्षिप्त पुस्तक में स्थान दिया गया, शिक्षा को पुरानी रीति के अनुसार, इस आधार पर कि 'मानवता ने अनन्य रूप से स्व-शिक्षण के द्वारा प्रगति की है, आवश्यक रूप से आत्म-विकास की एक प्रक्रिया मानता हैं। सबसे बढ़ कर, सामाजिक सावयव की कल्पना अंशतः 'दि सोशल आर्गेनिज्म' (१८६०) पर निबन्ध में तथा अंशतः सन् १८७१ में 'स्पेशलाइज्ड एडमिनिस्ट्रेशन' पर निबन्ध में (जो हक्सले के निबन्ध 'एडमिनिस्ट्रेटिव निहिलिज्म' का उत्तर था) विकसित हुई थी। 'सोशल स्टेटिक्स' में राज्य और जीवधारी सावयव का सादृश्य ('हम यह कह सकते हैं कि उसमें सादृश्य से भी कुछ अधिक है') इस आधार पर प्रस्तुत किया गया था कि दोनों ही अन्योन्याश्रित कृत्यों वाले भागों समभाग-संगठन है—ऐसे भागों के जो एक दूसरे से इतने घनिष्ट रूप से एकीकृत हैं कि उनमें से किसी एक को बिना शेष की हानि किए चोट नहीं पहुँचायी जा सकती। पुनः यह बात सत्य मानते हुए कि विभेदकरण की मात्रा मूल्य की माप का प्रतिनिधित्व करती है, स्पेन्सर ने यह कहा कि यह ऐतिहासिक और गुणात्मक रूप से भी अनुप्रयुक्त किया जा सकता है; कि कार्य के अल्प विभेदकरण से युक्त राज्य का निम्न रूप निम्न विभेदकरण से युक्त सावयव के निम्न रूप के तुल्य माना जा सकता है, और भागों के सर्वाधित स्पष्टीकरण से युक्त राज्य का उच्च स्वरूप

अधिकतम विभेदकरण से युक्त सावयव के उच्च रूप के। 'दि सोशल आर्गेनिज्म' पर लिखा गया निबन्ध एक दूसरी ही बात पर बल देने के लिये लिखा गया था। यहाँ स्पेन्सर इस बात पर ज़ोर देता है कि समाज इस कारण एक सावयव जैसा है कि वह 'विकसित होता है, बनाया नहीं जाता'; और वह इस निष्कर्ष की ओर निर्देश करता है कि उसे 'सामाजिक प्रभाव के स्वतंत्र कार्यकरण के अधीन विकसित होने के लिए' छोड़ दिया जाना चाहिए तथा राज्य के विनियमन के द्वारा 'निर्मित'—बल्कि यों कहा जाय कि बाधित तथा अवरोधित—नहीं किया जाना चाहिए। यही बात ध्यान में रखी गई थी, और यही वह लय है जिससे निबन्ध आरम्भ होता है। परन्तु सामाजिक सावयव की धारणा दुधारी है, और वह निबन्ध के अंत तक पहुँचने तक विरोधी दिशा में बढ़ने लगती है। सावयव एक स्नायु-केन्द्र (nerve-centre) युक्त इकाई है; यह स्नायु-केन्द्र सम्पूर्ण शरीर को विनियमित करता है; और इस प्रकार एक साथ ही 'विकासशील' सावयव, जिसे विनियमित नहीं किया जाना चाहिए, केन्द्रीय मस्तिष्क के नियंत्रण के अधीन एक 'ब्यूरोक्रेटिक' अथवा समाजवादी राज्य में परिणत हो जाता है। व्यक्तिवाद का औचित्य सिद्ध करने के लिए सावयवी विकास की धारणा से आरम्भ कर स्पेन्सर एकता की एक ऐसी धारणा के साथ समाप्त करता है जिसकी प्रवृत्ति समाजवाद का औचित्य सिद्ध करने की ओर है। तीव्र दृष्टि वाला हक्सले अपने निबन्ध 'एडमिनिस्ट्रेटिव निहिलिज्म' (१८७०) में इसी आन्तरिक व्याघात (inward contradiction) पर दृढ़ रहा; और स्पेन्सर सन् १८७१ में 'स्पेशलाइज्ड एडमिनिस्ट्रेशन' में दिए गये अपने उत्तर तथा बाद की समस्त राजनीतिक रचनाओं में इस व्याघात का समाधान करने में ही व्यस्त रहता है।

सन् १८७६ में स्पेन्सर ने 'दि प्रिंसिपिल्स ऑव सोशियालाजी' का प्रथम भाग प्रकाशित किया जो कि 'सोशल स्टेटिक्स' के पश्चात् उसकी राजनीतिक विचारधारा के विकास का अगला महत्वपूर्ण प्रगतिचिह्न था। इसके लिए तथ्यों के विशाल संकलन, सन् १८६७ में प्रारंभ की गई 'डिस्क्रिप्टिव सोशियालाजी,—(जो अभी भी समाप्त नहीं हुई है) के द्वारा मार्ग तैयार कर लिया गया था जो हमें अरस्तू द्वारा अपनी पुस्तक 'पालिटिक्स' का आधार बनाने के लिए

संग्रहीत १५८ संविधानों के वर्णनों का स्मरण दिलाता है। 'प्रिंसिपिल्स ऑव सोशियालाजी' उसी प्रकार सामाजिक सावयव के सिद्धान्त पर बल देती है, यद्यपि उसमें प्राकृतिक अधिकारों की बहुत अच्छी प्रकार सुरक्षा के लिए पर्याप्त आरक्षण कर लिया गया है, जैसे दस वर्ष पश्चात् 'दि मैन वर्सस दि स्टेट' में प्राकृतिक अधिकारों पर बल दिया गया है, यद्यपि उसमें सामाजिक सावयव के सिद्धान्त को सुरक्षित रखने के लिये (सुरक्षा की मात्रा चाहे उतनी विस्तृत न हो) जीवशास्त्र के पर्याप्त सन्दर्भों का उल्लेख किया गया है। इस कारण, 'प्रिंसिपिल्स' का उद्देश्य राज्य की सावयवी धारणा को जहाँ वह उपयोगी हो वहाँ अंगीकृत कर लेना तथा जहाँ ऐसा न हो वहाँ उसे अस्वीकृत कर देना है। इस प्रकार का अंगीकरण हार्दिक प्रतीत होता है; उसे सादृश्यों के ढेर के द्वारा, चाहे वह प्रारंभिक-जीवों और आदिवासियों (bushmen) के सादृश्य द्वारा हो, अथवा धमनियों के साथ अवस्थित स्नायु-काण्डों (nerve-trunk) और रेल-लाइनों के साथ टेलिग्राफ-तारों के सादृश्य द्वारा हो, दर्शाया गया है। परन्तु यह अंगीकरण सावयव की एकता का बलिदान करके ही प्राप्त किया गया है। हमें बताया जाता है कि प्राकृतिक सावयव में दो व्यवस्थाएँ होती हैं। उसमें स्नायु-व्यवस्था के अवयव हैं, जो वाह्य-क्रिया के उपकरण का रूप धारण करते हैं; उसमें पाचक अथवा शोषण व्यवस्था के अवयव हैं जो भोजन के पाचन से सम्बन्ध रखते हैं। अवयवों का प्रथम समूह नियामक मस्तिष्क के कड़े और स्वेच्छाचारी नियंत्रण के अधीन है—जैसा कि उसे वाह्य आवश्यकताओं की कुशलतापूर्वक पूर्ति करने के लिए आवश्यक रूप से होना चाहिये। अवयवों का द्वितीय समूह अपनी स्वयं की एक नियामक व्यवस्था से युक्त है, जो किसी भी प्रकार स्वेच्छाचारी नहीं है, प्रत्युत सहकारी अंगों के सहानुभूतिपूर्ण स्नेह और पारस्परिक प्रभाव पर आधारित है। पाचन सम्बन्धी अवयव न केवल अपने परस्पर संबन्धों में ही स्वतंत्र है; वे अवयवों के प्रथम समूह और उसके नियामक मस्तिष्क से भी व्यवहारिक दृष्टि से स्वतंत्र है। अधिक से अधिक 'उच्चतर' अथवा स्नायु-व्यवस्था 'निम्नतर' अथवा पाचन व्यवस्था को केवल 'निर्बन्धित' ही करती है; वह यह ध्यान रखती है कि पाचन क्रिया के अवयव अपने द्वारा किये गये कार्य के अनुपात में प्रतिफल पाते हैं। यह सब सामाजिक

सावयव के बारे में भी, आवश्यक परिवर्तनों के साथ, सही है। उसमें दो व्यवस्थाएँ है। उसमें शासनिक व्यवस्था के अवयव हैं, जो वाह्य क्रियाओं में काम आते हैं; उसमें औद्योगिक व्यवस्था के अवयव हैं जो आभ्यंतरिक जीवन के काम आते हैं। इनमें प्रथम के लिए युद्धजनित आवश्यकताओं को पूरा करने के वास्ते—जिनसे इनका उद्‌गम होता है—स्वेच्छाचारी नियंत्रण की आवश्यकता होती है; द्वितीय एक स्व-नियंत्रण करने वाली सहकारी व्यवस्था का निर्माण करते हैं। औद्योगिक व्यवस्था (जिसे स्पेन्सर अपने सादृश्य को असत्य सिद्ध करके भी 'उच्चतर' बना देता है) व्यावहारिक दृष्टि से शासनिक व्यवस्था से स्वतंत्र ही है; अधिक के अधिक उसे उस व्यवस्था के द्वारा एक 'नकारात्मक नियमन' की ही आवश्यकता होती है। उसे केवल उतने ही प्रतिरोध की आवश्यकता है जो यह बात सुनिश्चित कर दे कि उसके किसी भाग को बिना कार्य किए पोषक तत्व नहीं मिलेगा। संक्षेप में, उसे ऐसे अनुबन्धों के प्रवर्तन की आवश्यकता है जो कार्य और पोषण-तत्व के बीच अनुपात निश्चित करते हैं। इस प्रकार शासन वाह्य क्षेत्र में युद्ध के लिये और आंतरिक क्षेत्र में अनुबंधों को प्रभावी बनाने के लिए विद्यमान रहता है। उसके अस्तित्व का अन्य कोई कारण अथवा उसका अन्य कोई कृत्य नहीं है। उसे सकारात्मक नियमन (positive regulation) को किसी भी दशा में हाथ में नहीं लेना चाहिये; उसे नकारात्मक नियमन में सिद्धहस्त होना चाहिये, जिससे वह अपने एक मात्र कार्य को कुशलतापूर्वक पूरा कर सके! 'विशेषीकृत प्रशासन' से स्पेंसर का यही आशय है।

यह तर्क दोषरहित और यह सादृश्य घनिष्ट प्रतीत होता है। परन्तु इसमें कठिनाइयाँ हैं, और स्पेंसर उन कठिनाइयों से अनभिज्ञ नहीं था। यदि आमाशय शरीर में एक प्रकार का स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखता है, तो इस कारण वह शरीर का साध्य नहीं है—अथवा यहाँ तक कि शरीर का उच्चतर भाग भी नहीं है। परन्तु औद्योगिक समाज—जो कि आमाशय के तुल्य है—जन शरीर (body-politic) का साध्य है, अथवा उसका उच्चतर भाग तो है ही। इस कठिनाई को हल करने के लिए स्पेंसर सामाजिक और प्राकृतिक के बीच एक मूल भेद का सहारा लेता है। इनमें से एक विच्छिन्न (discrete) है और दूसरा

राशिभूत (concrete) । समाज में कोई सम्वेदना-केन्द्र (sensorium) अथवा चेतना केन्द्र नहीं है' समाज का प्रत्येक सदस्य संवेदना (feeling) अथवा विचार का एक अवयव है, जो कि प्राकृतिक सावयव का प्रत्येक सदस्य नहीं है। सामाजिक संवेदना-केन्द्र के न होने के कारण यह अर्थ निकलता है कि समूह का आनन्द साध्य नहीं है। क्योंकि चेतना के केन्द्र स्थानीय और वैयक्तिक है, हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उनका स्थानीय और वैयक्तिक आनन्द ही साध्य है। इस प्रकार वह समाज जो इस सिद्धान्त पर चलता है कि व्यक्ति का आनन्द समूह के आनन्द का एक साधन मात्र है जैसा कि प्रत्येक सैनिक समाज करता है—दोषपूर्ण और 'निम्न' समाज है; वह समाज जो इस सिद्धांत पर चलता है कि व्यक्ति का आनन्द साध्य है जिसके लिए शासन एक साधन है—जैसा कि बाद का औद्योगिक समाज करता है—एक दोषरहित और 'उच्च' समाज है। और इसी बात को दूसरी प्रकार से हम इस प्रकार कह सकते हैं कि युद्ध में अवयवों की नियामक शासनिक व्यवस्था, जो कि युद्ध में जन्म लेती है, आवश्यक रूप से युद्ध की सफलता के लिये व्यक्ति के स्वेच्छाचारी नियंत्रण की पूर्वकल्पना पर आधारित है और इस प्रकार व्यक्ति का बलिदान कर देती है, और इस प्रकार पुनः मूल्य की दृष्टि से नीचे गिर जाती है, क्योंकि वैयक्तिक स्वतंत्रता ही साध्य है और इस कारण मूल्य का प्रतिमान है; जबकि अवयवों की पोषक औद्योगिक व्यवस्था, जो वैयक्तिक धन की प्राप्ति के प्रयत्न में जन्म लेती है, विरोधी पूर्वकल्पना पर आधारित है और इस कारण व्यक्ति को सही स्थान देती है, और इस प्रकार पुनः मूल्य की दृष्टि से ऊँची बैठती है। इस सब से यह निष्कर्ष निकलता है कि जहाँ जैविक सावयव (animal organism) का विकास स्नायु-व्यवस्था के महत्व की ओर हो रहा है, वहाँ सामाजिक सावयव का विकास पाचन-व्यवस्था के महत्व की दिशा में हो रहा है। परन्तु यदि ऐसा है तो आमाशय ही सामाजिक सावयव का साध्य है।

इस प्रकार मूल्य का क्रम उलट देने के उपरान्त—अर्थात् सामाजिक सावयव में औद्योगिक व्यवस्था को 'उच्चतर' व्यवस्था बना देने के उपरान्त—स्पेंसर एक ऐसी ऐतिहाहिक प्रक्रिया प्रदर्शित करने का प्रयास करता है जो औद्योगिक समाज को विजयी बनाने के लिए प्रयत्नशील है। यह प्रक्रिया एक

'क्रीगस्टाट' (Kriegstaat)' से आरम्भ होती है, जहाँ युद्ध ही युद्ध है और उद्योग नहीं है; जहाँ समस्त मनुष्य शासन द्वारा अपने साध्य के लिए कड़ाई के साथ नियमित किए जाते हैं; जहाँ समस्त मनुष्यों को अपने स्थान के साथ बद्ध किए जाने के कारण स्थिति (status) ही नियम है। यह प्रक्रिया 'हैण्डिलस्टाट' (Handlestaat) में समाप्त होती है, जहाँ उद्योग ही उद्योग है और युद्ध है ही नहीं; जहाँ समस्त मनुष्य अपने आप में ही साध्य के रूप में, इच्छाजात संवास में बद्ध हैं; जहाँ अनुबन्ध (contract) ही उद्योग का नियम है और शेष जीवन को सहानुभूतिपूर्ण अनुराग से पूर्ण कर देता है। यह राजनीति को प्रेरणा प्रदान करता है और प्रजातंत्र की सृष्टि करता है; यह धर्म को प्रेरणा प्रदान करता है और स्वतंत्र चर्चों की एक व्यवस्था का सृजन करता है; यह सामाजिक जीवन को प्रेरणा प्रदान करता है और इच्छाजात शिक्षा और स्वेच्छित दानशीलता को जन्म देता है। यहाँ 'सोशल स्टेटिक्स' का स्वप्न-लोकीय आदर्श पुनः वापस आ जाता है, परन्तु औद्योगिक समाज के कुछ निम्नतर और वाणिज्यकृत रूप मे। आदर्श अराजकता और यथार्थ सामाजिक संस्थाओं का विरोध अब सैनिक राज्य और औद्योगिक समाज के विरोध का रूप ले लेता है। और कभी-कभी तो यह सैन्यवाद और स्थिति (status) की विचारधारा वाले टोरी दल और उद्योगवाद और अनुबंध (contract) की विचारधारा वाले लिबरल दल—पुराने और वास्तविक लिबरल दल, न कि उसके नवीन रेडिकल विकृत रूप—के विरोध के रूप में भी सामने आता है।

यह सम्पूर्ण तर्क कुछ विचार प्रस्तुत करता है। पहली बात यह है कि सामाजिक सावयव को केवल उसके टुकड़े करके ही बचाया गया है। औद्योगिक समाज के व्यक्तिवाद से इसका सामाजिक सावयव की विच्छिन्नता तथा प्राकृतिक सावयव की अविच्छिन्नता में भेद करके ही समाधान किया जा सका है, जो सामाजिक सावयव की पूर्ण धारणा को ही नष्ट कर देता है। और इसलिए यह जानकर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि स्पेंसर सादृश्य दिखाने वाले सौ पृष्ठों के बावजूद अंततः सामाजिक सावयव को भुला देता है। वह उसके टुकड़े करके ही संतुष्ट नहीं होता; वह उसे सदैव के लिए त्याग देता है। उसने एक वास्तविक संरचना के लिए ढांचे का काम दिया है, परन्तु वह संरचना उससे

'स्वतंत्र' है। दूसरी बात यह है कि स्पेंसर द्वारा समाज और राज्य के बीच खड़ी की गई सीमा-रेखा अशक्त है; हम राज्य और समाज में भेद कर सकते हैं, जैसे हीगल और बोसांके ने भिन्न रीति से करने का प्रयत्न किया है। परंतु हम इन दोनों के बीच सीमा-रेखा नहीं खड़ी कर सकते, जिसे खड़ी करने का प्रयास न हीगल ने किया है और न बोसांके ने। समाज को राज्य ही आबद्ध रखता है; और यदि उसे इस प्रकार आबद्ध न रखा जाय तो वह विद्यमान ही न रह सकेगा। स्पेंसर की भाँति यह कहना सरल है कि इच्छाजात सहयोग से संसार का हर कार्य पूरा हो सकता है और राज्य (शासन के अर्थ में) थोड़ा ही कार्य करता है और वह भी बुरी तरह। यह समझना कठिन, परंतु बहुत आवश्यक है, कि इच्छाजात सहयोग केवल राज्य के कारण ही संभव होता है और इससे भी अधिक महत्व-पूर्ण बात यह है कि जितना अधिक इच्छाजात सहयोग होता है उतनी ही राज्य की अधिक आवश्यक होती है। परंतु यह सीधी-सादा तथ्य है। राज्य समायोजन (adjustment) के महान् स्रोत के रूप में, उतना ही अधिक आवश्यक होता है जितना अधिक समायोजन किया जाना होता है। हमें यह जानने के लिए केवल तथ्यों को सामने रखकर देखना भर ही है कि आधुनिक काल में इच्छाजात सहयोग में, स्वामी और सेवक के तथा स्वामी और स्वामी दोनों के बीच, महान् वृद्धि का अर्थ शासन-कार्य में महान् विस्तार भी हुआ है। शासन को उद्योग के साथ पग रखना पड़ता है; शासन को उसकी समस्याओं को फ़ैक्टरी अधिनियमों, कंपनी अधिनियमों और अन्य असंख्य अधिनियमों के द्वारा हल करना पड़ता है। तीसरी बात यह है, हमें यह स्वीकार करना होगा, कि 'प्रिंसिपिल्स ऑव सोशिया-लाजी' लिखने के समय तक स्पेंसर ने 'सोशल स्टेटिक्स' लिखने के समय से कुछ प्रगति की है। उसमें उसकी प्रकृति सामाजिक संस्थाओं को अस्वीकृत कर देने अथवा कम से कम उनसे घृणा करने की ओर थी; 'प्रिंसिपिल्स' में वह यह स्वी-कार करता है कि संस्थाओं का भी एक सापेक्ष औचित्य है। आदिम शोषक समाज की प्रवृति के संबंध में उसकी अर्द्ध-ऐतिहासिक कल्पना ने स्पेंसर को यह प्रगति करने में सहायता दी। वह यह विश्वास करने लगा कि जब तक सैनिकता (militancy) की मात्रा अधिक है तब तक बहुत सी बातें स्वीकारणीय हो सकती हैं। इसके अतिरिक्त 'डेस्क्रिप्टिव सोशियालाजी' के पृष्ठों में संगृहीत सामग्री

ने उसके 'बलप्रयोग के प्रति पुराने विरोध', 'दासता के प्रति पुराने घृणा भाव' तथा 'चर्चवाद' (ecclesiasticism) संबंधी पुराने 'अनिच्छाभाव' को कुछ मात्रा में कम कर दिया। उसने सशक्त राजतंत्र (kingship) को, अपने समय और अपने काल में आवश्यकता का, दासता का सभ्यता की एक पद्धति तथा अवकाश के साधन के रूप में, और यहाँ तक कि दैवी (supernatural) नियंत्रण का भी ज्ञान कराया। शायद 'सामाजिक संस्थाओं का सम्पेक्ष औचित्य' उस वृद्धि-शील रूढ़िवादिता के सरल तथ्य का एक लंबा नाम है जो उसके बाद के जीवन के भू-राष्ट्रीयकरण तथा स्त्री-मताधिकार के प्रश्नों के प्रति दृष्टिकोण में पहले से ही स्पष्ट था; और बहुत से लोग तीस वर्षीय स्पेंसर के असंभव उग्रसुधारवाद को सापेक्ष औचित्य के सिद्धान्त की तुलना में, जिसका उसने साठ वर्ष की अवस्था के निकट पहुँच कर प्रतिपादन किया, अधिक उचित मानेंगे।

× × ×

'प्रिंसिपिल्स ऑव सोशियालाजी' का आरम्भ सामाजिक सावयव से होता है, परन्तु उसका अंत प्राकृतिक अधिकारों के साथ होता है; 'दि मैन वर्सस दि स्टेट' (१८८४) का आरम्भ और अन्त दोनों प्राकृतिक अधिकारों में होते हैं। अंततः स्पेन्सर के दर्शन का हृदयस्थल प्राकृतिक अधिकार ही तो है। इसके कारण गहराई में मिलेंगे। उन्हें न केवल उसके प्रारंभिक जीवन के उन विशिष्ट प्रभावों में ही पाया जा सकता है जिनका हम उल्लेख कर चुके है, वरन् इस प्रारंभिक तथ्य में भी कि स्पेन्सर एक अंग्रेज था और किसी अंग्रेज का प्राकृतिक अधिकारों में विश्वास आसानी से नहीं डिग सकता। दो कारणों ने इस राष्ट्रीय लक्षण को दृढ़ किया है—एक धार्मिक है और दूसरा आर्थिक। इनमें से एक 'डिसेंट' (Dissent) है; दूसरा 'यद् भाव्यंम्' का सिद्धांत। 'डिसेंट' जो कि अपने पूर्ण रूप में इंगलैंड की ही एक विशिष्ट क्रिया है। स्पेन्सर स्वयं 'डिसेंट' की पंक्ति में से आया था और 'सोशल स्टेटिक्स' में वह 'डिसेंट' के इतिहास के निर्देश के साथ अपने 'राज्य को महत्व न देने के अधिकार' के तर्क को भी संयुक्त कर देता है। 'डिसेंट' के इतिहास में 'इंडिपेन्डेन्ट्स' (Independents) का विशेष महत्व है। उन्होंने न केवल

धार्मिक चेतना की राज्य के नियंत्रण से स्वतंत्रता पर जोर दिया, वरन् वैयक्तिक धार्मिक-सभा (individual congregation) की चर्च के संगठन से स्वतंत्रता का भी दावा किया; और ग्रीन ने इस बात का उल्लेख किया है कि किस प्रकार वेन (Vane) द्वितीय के द्वारा, जो 'इंडिपेन्डन्सी' का मान्य प्रतिनिधि था, इंग्लैंड में प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त सर्वप्रथन सामने आता है। कुछ ही समय पश्चात् लॉक की कृतियों में एक ऐसा दर्शन मिलता है जिसके बारे में हम यह कह सकते है कि उसे 'इंडिपेन्डेन्सी' ने संभव बनाया—राज्य के मर्यादित कार्य का ऐसा दर्शन जो स्वतंत्र मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों की पूर्वकल्पना (assumption) पर आधारित था। इस प्रकार धर्म में उद्भूत होने वाले विचार को एक अन्य और बाद के विकास के परिणामस्वरूप पुष्टता मिली थी। यह विकास ऐडम स्मिथ और उसके अनुवर्तियों का राजनीतिक अर्थशास्त्र है। इस विकास के बारे में हमें बाद में उनके उचित संदर्भ में कहना है; यहाँ केवल इतनो बात पर ध्यान देना पर्याप्त है कि व्यक्ति के धार्मिक अधिकार के साथ उसका आर्थिक अधिकार जोड़ दिया गया जिसके कारण स्पेन्सर निरन्तर प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना को औद्योगिक समाज की कल्पना से संयुक्त करने में समर्थ हुआ। इन तथ्यों के प्रकाश में यह अधिक आश्चर्य की बात नहीं है कि अंग्रेजों की अनेक पीढ़ियों के द्वारा प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना सतत रूप से—यद्यपि बहुधा अचेतन रूप से क्यों न हों—पोषित की गई है। यह बहुधा कहा जाता है कि अंग्रेज लोग समस्त मनुष्यों के सामान्य प्राकृतिक अधिकारों की दुहाई नहीं देते वरन् अंग्रेजों के विशिष्ट वैधानिक अधिकारों का दावा करते हैं। वस्तुतः सत्रहवीं शताब्दी के अंग्रेज प्राकृतिक अधिकारों की खुले रूप में दुहाई दे सकते थे; और चाहे वैसी दुहाई दी गई हो या नहीं; उनकी कल्पना ने एक प्रेरणा-शक्ति के रूप में कार्य किया है और वह अभी भी इंग्लैंड में एक प्रेरक-शक्ति है—जो कि कभी भी इतनी ध्यानाकर्षक नहीं रही जितनी पिछले वर्षों के कुछेक आन्दोलनों में। यह स्पेंसर के तीक्ष्ण तर्क का एक गुण है कि वह उस बात को पूर्ण प्रकाश में ले आता है जो अधिकांश मनुष्यों के मन में छिपी रहती है।

'दि मैन वर्सस दि स्टेट' में प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत की व्याख्या

करते समय स्पेन्सर जीवन-विज्ञान को उसका स्रोत तथा आधार बतलाता है। 'जीवन-विज्ञान' से जीवशास्त्रीय ध्वनि निकलती है; परन्तु उससे स्पेंसर का अर्थ मानवीय स्वभाव का एक निगमात्मक दृष्टिकोण (a priori view) ही है। वह यह कहता हैं कि यदि हम व्यक्ति के जीवन पर इस पूर्वकल्पना के साथ विचार करें कि वह जीने योग्य है तो हम इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुँचेंगे कि ऐसे कार्य जो उसके पोषण के लिए आवश्यक है, सही हैं, और उन कार्यों के लिए आवश्यक दावे तथा स्वतंत्रताएँ अधिकार हैं। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है, जैसा हक्सले ने कहा है, कि इस तर्क के आधार पर शेर-चीतों के भी अधिकार हैं। स्पेंसर उत्तर देता है—नहीं; मनुष्यों के अधिकारों और चीतों के अधिकारों में एक अंतर है। अन्य मनुष्यों की उपस्थिति और साहचर्य इस अंतर की सृष्टि करते है। मनुष्य को किसी भी दशा में ऐसे अधिकार का दावा नहीं करना चाहिये (परन्तु स्पेन्सर इस बात की विवेचना नहीं करता) जो उसके साथियों के कार्य करने के अधिकार में हस्तक्षेप करता हो। और यदि मनुष्य इस प्रकार अपने कुछ दावे और स्वतंत्रताओं का परित्याग कर देता है, तो उसके शेष दावों और स्वतंत्रताओं को नैतिक (ethical) अधिकार माना जा सकता है। इसका यही उत्तर दिया जा सकता है कि यदि उन्हें नैतिक मानना है तो वे प्राकृतिक अधिकार नहीं रहते और विचारधारा में बहुत भ्रांति है। परन्तु स्पेन्सर इस भ्रांति को ऐसा ही छोड़ कर समाज के जीवन-विज्ञान की ओर मुड़ जाता है—जैसे कि वह अधिकारों के सिद्धांत से कोई भिन्न वस्तु हो। वह यह बात खोज निकालता है कि ऐसे जीवन की आवश्यक दशाएँ, उसके श्रम-विभाजन पर आधारित होने के कारण, विनियम के अनुबंध करने की स्वतंत्रता तथा ऐसे अनुबन्धों का प्रवर्तन हैं। और उसका कथन है कि इस प्रकार यह परिणाम निकलता है कि व्यक्तियों के अधिकारों कों मान्यता देना तथा उन्हें लागू करना एक सामान्य सामाजिक जीवन की दशाओं को मान्यता देना और लागू करना भी है : 'दोनों के लिए एक बात अत्यावश्यक है।' राज्य को अपने आप को अनुबन्धों को लागू करने तक ही सीमित रखना चाहिये, अन्यथा वह स्वतंत्रता का अतिक्रमण करता है, जो कि राज्य द्वारा व्यक्ति के अधिकारों पर लगाए जाने वाले 'निर्बन्धों की सापेक्ष अल्पता, (relative paucity)

में ही निहित है। यदि राज्य पैतृक शासन स्थापित करता है तो वह पारिवारिक आचारशास्त्र को एक ऐसे क्षेत्र में प्रयुक्त करता है जो उसके लिए उपयुक्त नहीं है और जिसमें वह अकथनीय हानि पहुँचाएगा। पारिवारिक-आचारशास्त्र का आधार यह सिद्धान्त है कि योग्यता रखने वाले को अनुपात से बहुत अधिक लाभ प्रदान किया जाता है; राज्यिक-आचार शास्त्र (state ethics) कठोर न्याय पर आधारित है जो विनिमय सम्बन्धी अनुबन्धों को लागू करके यह बात सुनिश्चित करता है कि प्रत्येक को बिलकुल उसके गुणों के अनुपात में ही लाभ प्राप्त हों—उसे उसी अनुपात में प्राप्ति हो जिसमें वह देता है, और उसी अनुपात में देना हो जिसमें वह प्राप्त करता है। राज्य पर पारिवारिक-आचारशास्त्र का अनुप्रयोग करने से वह लाभकारी जीवन-संघर्ष रुक जाएगा जो नागरिकों के बीच उस समय आरंभ हुआ था जब उन्होंने बचकानी बातें छोड़ दीं; वह निर्बल-प्राणियों को उससे अधिक लाभ पहुँचाएगा जिसके वह अधिकारी हैं, और इस प्रकार अयोग्य जीवन को स्थायित्व प्रदान करेगा। यह वाक्य, वस्तुतः यह सम्पूर्ण तर्क, अनेक कठिनाइयाँ खड़ी कर देता है। राज्य किस प्रकार यह बता सकता है, यह खोजने के लिए वह किस मापदंड का प्रयोग कर सकता है, कि कौन व्यक्ति जीने के अयोग्य है? ऐसे मापदंड की खोज ही वह कठिनाई है जिसका उन संततिशास्त्रियों (Eugenists) को सामना करना पड़ता है जो कृत्रिम-चयन (artificial selection) का प्रतिपादन करते हैं। परन्तु साथ ही यह एक ऐसी कठिनाई है जिसका अबाधित प्राकृतिक-चयन में विश्वास रखने वाले व्यक्ति को भी सामना करना पड़ता है। यदि वह यह मान लेता है कि ऐसा व्यक्ति जो अपने लिए निर्वाह के साधन नहीं जुटा पाता, अयोग्य है, तो वस्तुतः यह मापदंड जैसी एक वस्तु होगी; परन्तु यह मापदंड 'शेर-चीतों के अधिकारों' के क्षेत्र में लागू होता है, न कि 'नैतिक' अधिकारों के क्षेत्र में। एक चीते को जीवित रहने के लिए कुछ भी करने का अधिकार है; परन्तु हमें अभी बताया गया है कि मनुष्य के अधिकार उनके साथियो की उपस्थिति के कारण निर्बन्धित है, और केवल 'नैतिक' हैं। एक चीते का यह कर्त्तव्य है कि जब वह अपना भोजन नहीं खोज पाता, तो अपने जीवन का अन्त कर दे, क्योंकि उसे भोजन पाने के लिए कुछ भी करने का

अधिकार है; परन्तु क्या एक मनुष्य का भी, जिसके अधिकार निर्बन्धित और 'नैतिक' हैं, मर जाना कर्त्तव्य है ? (Vix sequitur) तब उसे जीवित रखना अथवा उसे जीवन की उत्तम दशा प्राप्त करने में सहायता पहुँचाना क्या किसी प्रकार राज्य का कर्त्तव्य हैं ? कुछ भी क्यों न हो, यदि राज्य का अस्तित्व मनुष्य के अधिकारों को निर्बन्धित करता है, तो उसके इस प्रकार के उत्तरदायित्व के तत्व हमारे सामने आते हैं।

स्पेंसर के कल्पित प्राकृतिक अधिकार (यह जानना कठिन है कि उसकी स्वयं की विवेचना के अनुसार वे किस प्रकार यथार्थतः प्राकृतिक हैं) उसको युक्तियुक्त रूप में एक सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्त की ओर ले जाते हैं। यह सत्य है कि उसने उस सिद्धान्त पर 'सोशल स्टोटिक्स' में प्रहार किया था : यह सत्य है कि 'दि मैन वर्सस दि स्टेट' में भी वह 'इस ग़लती का कि समाज एक निर्मित वस्तु है, जब कि वह एक विकसित वस्तु है,' निर्मूलन करता है। वह यह समझने में सफल हुआ है कि समाज की एक निर्मित-वस्तु जैसी धारणा ही विधायकों (legislators) की ग़लतियों के लिए उत्तरदायी है; क्योंकि वह उन्हें सृजन करने और इस मामले में बहुत बुरी तरह सृजन करने की प्रेरणा देती है। यहाँ तक कि वह संस्थानों और राष्ट्रीय चरित्र के बीच के अति महत्वपूर्ण संबंध का भी सशक्त रूप में उल्लेख करता है, क्योंकि वह इस पाठ को अच्छी तरह याद करा देना चाहता है कि संस्थानों में उससे अधिक परिवर्तन नहीं किया जा सकता जितने की राष्ट्रीय चरित्र आज्ञा देता है, और यदि वह किसी संस्था की सहायता नहीं करता, वस्तुतः जब तक वही उसका सृजन नहीं करता, संस्था कार्य नहीं कर सकती। इतना होने पर भी, प्राकृतिक अधिकारों को सफलता मिलना निश्चित ही हमारे सम्मुख समाज उसी स्थिति में आ सकता है जब इस प्रकार के प्राकृतिक अधिकारों के वैयक्तिक स्वामियों के बीच कोई क़रार हो : हम समान स्वतंत्रता का नैतिक नियम प्राप्त कर सकें इसके लिए प्राकृतिक अधिकारों को निर्बन्धित करने वाला कोई समझौता होना ही चाहिए। 'सोशल स्टेटिक्स' में ही स्पेंसर ने यह तर्क दिया है कि नागरिकता के स्वेच्छा से अंगीकृत किए जाने के कारण (क्योंकि नागरिक को 'यदि वह ऐसा चाहे, तो राज्य को महत्व न देने का अधिकार है) राज्य और उसके सदस्यों के बीच मौन रूप में समझौता हुआ है।'

इसी प्रकार 'दि मैन वर्सस दि स्टेट' में वह एक यथार्थ अनुबंध की आधारहीन परिकल्पना को—एक ऐसी परिकल्पना को जिसे वस्तुतः कुछेक विचारकों ने ही अपनाया है—दूर हटाने के बाद एक परिकल्पनात्मक (hypothetical) अनुबंध की आवश्यकता अनुभव करता है। संप्रभुता के स्थापन तथा उसके परिसीमीकरण का नैतिक उद्गम खोजने के लिए 'हम पूछते हैं कि ऐसा कौन सा समझौता है जिसे नागरिक लगभग पूर्ण एकमत से स्वीकार करेंगे।' यथार्थ में, लॉक की भाँति स्पेंसर का संप्रभुता के स्थापन की अपेक्षा उसके परिसीमन की ही ओर ध्यान अधिक है। और इसीलिए 'क्वेकर्स' (Quakers) को, जो युद्ध को मुश्किल से ही स्वीकार करेंगे, तथा अपराधियों को, जो पुलिस को कठिनाई से स्वीकार करेंगे, ख़ारिज करने के पश्चात् वह राज्य के कृत्य प्रतिरक्षात्मक युद्ध तथा आभ्यन्तरिक शत्रुओं के विरुद्ध सुरक्षा ही मानता है। इनमें वह अपनी भूमि के राष्ट्रीय स्वामित्व की पुरानी वकालत को याद कर राष्ट्रीय क्षेत्र के उपयोग और नियंत्रण को और जोड़ देता है। यह एक अनिश्चित अर्थ वाला वाक्य है जो केवल उसके मनोपरिवर्तन को ढकने में ही सहायक होता है।

वह परिकल्पित (hypothetical) नागरिक जो यह परिकल्पित अनुबंध करता है, वस्तुतः एक ऐसा समृद्ध व्यापारी है, जो अपनी संपत्ति के बारे में तथा नए भवनों और अपने सुविधाजनक यातायात के लिए भूमि के बारे में ही चिंतित रहता है। वह अर्थशास्त्रियों की कल्पना ही है, और आर्थिक मनुष्य का अर्थशास्त्री के लिए, जिसने आर्थिक क्रिया को अपने अन्वेषण के लिए चुन लिया है, चाहे जितना महत्व हो, वह एक राजनीतिक विचारक के लिए, जिसे नागरिक का और उसका भी एक समष्टि के क्रम में उसके सम्पूर्ण संबन्धों के साथ अध्ययन करना है, एक आधारतत्व (posplate) का काम नहीं दे सकता। हम यह मान सकते हैं कि 'आर्थिक मनुष्य को अपने आर्थिक हित की पूर्ण अन्तर्दृष्टि प्राप्त है; परंतु हम नागरिक को पूर्णता के उसी गुण से युक्त नहीं मान सकते। 'आर्थिक मनुष्य' की पूर्ण अन्तर्दृष्टि निश्चय ही, यूक्लिड (Euclid) की सीधी रेखा जैसी एक कल्पना ही है, परंतु वह काम देने भर के लिए पर्याप्त यथार्थ है; पूर्ण नागरिक, इतना पूर्ण कि उसे अल्पतम राज्य-क्रिया की ही आवश्यकता हो—वास्तविकता के स्पष्टतः विपरीत है। अनुभव हम सबको अत्यधिक

विभिन्न प्रकार के नागरिकों के सम्पर्क में लाता है—जैसा हमने देखा है, वह ग्रीन को उनके संपर्क में लाया। और हम ऐसे नागरिकों को कम संख्या में नहीं देखते—उदाहरणार्थ कठिनाई से जीवन-निर्वाह कर पाने वाले श्रमिक, अत्यधिक कार्य से पीड़ित नारियां, लंदन के अहातों के निवासी जो स्पेंसर के के समान स्वतंत्रता के नियम का तभी आनंद ले सकते हैं जब राज्य हर प्रकार के 'हस्तक्षेप' के द्वारा उनके मार्ग की बाधाओं को हटा देता है। यहाँ हम उस भ्रान्ति को देख सकते हैं जिसमें यदि हम स्पेंसर की भाँति यह कहते हैं कि 'सामाजिक विज्ञान' को भी यांत्रिक अथवा ज्यामितिक विज्ञान की भाँति पूर्ण सामग्री के होने पर ही कुछ करना चाहिए—यथा, सीधी रेखाएँ, 'सीधे मनुष्य'—तो हम फँस जाते हैं वह ऐसा युक्तिसंगत रूप में कर सकता है यदि वह यह मान लेता है कि उसकी परिणति एक 'सीधी' राज्य-व्यवस्था (polity) में, एक आदर्श राज्य में, होगी; परंतु यदि वह 'वक्र' मनुष्य पर, जैसा कि मनुष्य अंततः हमारे सामने है, 'सीधे' राज्य के नियम लागू करने का प्रयत्न करेगा तो असंगत होगा। उसका परिणाम रूढ़िवाद अथवा प्रतिक्रिया को शक्ति प्रदान करना मात्र ही होगा। जब रूढ़-सिद्धान्तवादी यह कहता है कि 'राज्य' को (जिस मर्यादारहित शब्द के अन्तर्गत वह सीधे मनुष्यों के राज्य और वक्र मनुष्यों के राज्य को एक में मिलाकर भ्रान्ति उत्पन्न कर देता है) यह कार्य नहीं करना चाहिए, अथवा इतना ही कि उसे यह कार्य नहीं होने देना चाहिए तो वह ठीक वही करता है जो रूढ़िवादी अथवा प्रतिक्रियावादी चाहता है।

इस प्रकार स्पेंसर, इस कारण कि वह बहुत अधिक उग्र सुधारवादी (Radical) था, और बहुत अधिक मात्रा में एक 'प्रथम सिद्धांतों' और 'सीधी रेखाओं' में विश्वास रखने वाला मनुष्य था, अंत में रूढ़िवादी गुट में पहुँच जाता है। रूढ़िवादी गुट की ओर गमन 'दि मैन वर्सस दि स्टेट' के प्रकाशन के समय (१८८४) एक सामान्य बात होती जा रही थी। सन् १८८५ में प्रकाशित मेन की 'पॉपुलर गवर्नमेंट' विचारधारा की दिशा की निर्देशक है। बहुत से लोग ग्लेड्स्टनवादी उदारतावाद (Gladstonian Liberalism) की द्रुत प्रगति से शंकित हो उठे थे; और ऐसे लोग कम नहीं थे जो अपने प्रयोजन की प्रगति से इतने भयभीत हो उठे कि उन्होंने अपने प्रयोजन का ही परित्याग कर दिया।

फ़िर भी, कम से कम प्रथम दृष्टि में तो अवश्य ही, प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को, जो इतने समय से टॉम पेन के उग्रसुधारवाद से संबद्ध था, भयभीत रूढ़िवाद का आधारस्तम्भ बनते देखना विचित्र ही प्रतीत होगा। यथार्थ में इस सिद्धान्त को दोनों में से किसी भी प्रयोजन के समर्थन के लिए तटस्थतापूर्वक प्रयोग में लाया जा सकता है। प्राकृतिक अधिकार ऐसे रेतीले शरणस्थल हैं जिनमें व्यक्ति पीछा करने वाले राज्य से बचने के लिए अपना सर छुपाता है। वे रूढ़िवाद को भी एक जनतांत्रिक और प्रगतिवादी राज्य के विरुद्ध ठीक उसी प्रकार शरण दे सकते हैं जैसे उन्होंने सन् १६८८ में व्हिगों को जेम्स द्वितीय की निरंकुशता के विरुद्ध प्रतिरक्षा में सहायता की थी, अथवा सन् १७८६ में रेडिकलों की व्हिगों के धनिकतंत्र (Oligarchy) के विरुद्ध, रक्षा के एक साधन के रूप में, सहायता की थी। फ़िर भी, जैसा कि रिची (Ritchie) का कथन है, टॉम पेन का प्रेत उस समय मुँह बन्द करके अवश्य ही हँसा होगा जब लॉर्ड हेल्सबरी कंज़र्वेटिव श्रोताओं के सम्मुख यह कह सके कि 'उन कुछेक बातों में से एक जिन्हें ब्रिटिश जनता ने सर्वाधिक प्रिय माना है, कार्य करने की स्वतंत्रता है—अपनी वस्तुओं के साथ अपनी मनचाही करने का अधिकार, चाहे वह उनका श्रम हो, सम्पत्ति हो अथवा उनकी कार्यकुशलता हो।

परन्तु हम स्पेन्सर के प्रति एक अन्याय करते हैं। सन् १८८४ में वह नहीं बदला था। उसने प्रारंभ से ही प्राकृतिक अधिकारों की शिक्षा दी थी; और यह राजनीतिक दशाओं का परिवर्तन ही था जिसने उसे एक दूसरे पक्ष का पैग़म्बर बनाया। टोरी दल ही सब प्रकार के 'डिसेन्टरों' के विरुद्ध पैतृकवाद के समर्थक से सब प्रकार के समाजवादियों के विरुद्ध व्यक्तिवाद का समर्थक बन गया था, अथवा कम से कम प्रतीत तो ऐसा ही होता था। स्पेन्सर सदैव ही एक निगमनात्मक व्यक्तिवाद (a priori individualism) का दृढ़ प्रतिपादक रहा; और वह असंगति जो उसमें लक्षित होती है उसके एक समय और दूसरे समय के विचारों के बीच की असंगति नहीं थी, वरन् उसके स्थायी सिद्धान्त के दो प्रतिकूल तत्त्वों के बीच की असंगति थी जिन्हें वह एक असमायोजित मिश्रण में इकट्ठा किए रहा। ये तत्व थे—वैयक्तिक अधिकारों का तत्व तथा सामाजिक सावयव का तत्व। अपने बाद के जीवन में उसने प्राकृतिक विज्ञान से कुछ बातें

सीखीं परन्तु उसने कभी भी उन अवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर विजय प्राप्त करने के लिए जिनसे उसने आरंभ किया था, पर्याप्त नहीं सीखा। यदि प्राकृतिक चयन उसकी पुस्तक से मेल खाता था, तो सामाजिक सावयव इतना अधिक अनुकूल न था। वह उसकी कृतियों के प्रचुर पृष्ठों में प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना के साथ सतत रूप में संघर्ष करता रहता है। सामाजिक सावयव की कल्पना से पृथक् रूप में ही उनकी कल्पना अपने आप में बहुत अधिक भ्रांतिपूर्ण थी। स्पेन्सर कभी यह कहता है कि प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति में अन्तर्निहित हैं, और कभी यह मान लेता है कि उनके लिए समाज की सहमति आवश्यक है; एक अवसर पर वह यह विचार व्यक्त करता है कि मनुष्य के अधिकार समस्त जीवन के नियम से सबद्ध हैं, और दूसरे स्थान पर वह यह स्वीकार करता है कि वह दूसरे अधिकारों से इस कारण भिन्न है कि वे नैतिक हैं। सामाजिक सावयव का प्रवेश भ्रांति को और भी अधिक गहरा रूप देता है। क्योंकि एक सामाजिक सावयव में प्राकृतिक अधिकारों का उसी प्रकार उचित स्थान है, जैसा कि एक ठोस पदार्थ में वायु-शून्यता का। कठिनाई यह है कि यदि स्पेन्सर अधिकारों के बारे में स्पष्ट होता तो उसने अपने सामाजिक सावयव के सादृश्य द्वारा अपने को और अधिक स्पष्ट बनाया होता। अपने वर्तमान रूप में उसके दर्शन को दो आत्मविरोधी प्रस्थापनाओं में सार-बद्ध किया जा सकता है। (१) मेरे अधिकार और मेरी सम्पूर्ण नैतिकता सकारात्मक तथा प्राकृतिक शक्तियाँ है जिनका उद्गम aviditas vitae तथा आत्म-स्थापन (self-assertion) का वह प्रेम है जो मुझमें समस्त प्राणियों के साथ उपस्थित है। (२) इस कारण कि मैं अपने साथियों के साथ रहने वाला एक मनुष्य हूँ, मेरे अधिकार इस अर्थ में नकारात्मक और नैतिक विचार हैं कि वे आत्म-स्थापन के परिणाम नहीं है, वरन् किसी भी दशा में मुझसे इतने आत्म-त्याग की अपेक्षा करते हैं जो मुझसे मेरे साथियों के अधिकारों का सम्मान कराए। यदि हम इस आत्म-व्याघाती परिकल्पना (self-contradictory hypothesis) का परित्याग कर देते हैं और एक इच्छा से उस सत् की ओर आरम्भ करते हैं जो मुझको दूसरों के साथ अपने प्राणी होने के कारण नहीं वरन् अपने मनुष्यत्व के कारण प्राप्त है—यदि हम यह कहते हैं कि

अधिकार इस नैतिक सत् से उदित होते हैं जो मानवों में ही उपस्थित है परन्तु मानवों के बीच सामान्य है—तो हम देखते हैं कि अधिकार इस अर्थ में सदैव सकारात्मक हैं कि वे हमारे नैतिक प्राणी होने की प्रकृति और उसकी अपने को इसी रूप में प्रकाशित करने की अंतःप्रेरणा पर आधारित हैं और वे इसी कारण से सदैव नैतिक हैं। और हम यह भी देख सकते हैं कि उसके लिए एक सामाजिक सावयव आवश्यक है, क्योंकि वह सत् जो कि उनका स्रोत है, सामान्य है और सामान्य रूप में ही सर्वाधिक उत्तम रीति से प्राप्त किया जा सकता है।

यहाँ हमें एक ऐसे विचारक के राजनीतिक दर्शन को छोड़ देना चाहिए जिसका संभवतः पिछले साठ वर्षों में सर्वाधिक प्रभाव रहा है। यह सत्य है कि यह प्रभाव उस तर्क और संश्लिष्ट प्रणाली के आभास के कारण रहा है जिससे उसकी रचनाएँ पूर्ण हैं। परन्तु उसे इस तथ्य से भी उतनी ही अथवा और अधिक सहायता मिली है कि उसका दर्शन वैयक्तिक अधिकारों की उस सहज-प्रवृत्ति से मेल खाता है जिसे ब्रिटिश इतिहास के प्रवाह ने इंग्लैंड में लगभग सर्व-व्यापक बना दिया है। स्पेन्सर का दर्शन साधारण मनुष्य के प्रारंभिक दर्शन पर आधिकारिक मुहर लगाता सा प्रतीत होता है; और साधारण मनुष्य साधारण नहीं रहेगा यदि वह अपने विचारों को एक दार्शनिक के द्वारा स्वीकृत तथा प्रतिपादित होते देखना पसंद न करे। और न ही स्पेन्सर का प्रभाव उसकी पदावली से पूर्णतः असम्बद्ध है। उसकी कृतियाँ ऐसी सरल पदावली से भरी हुई हैं जो केवल ऐसी समस्याओं का जिन्हें हल किया जाना है मात्र नाम गिनाते हुए भी एक हल सुझाती हुई प्रतीत होती है। और एक अर्द्ध-शिक्षित व्यक्ति सदैव ही ऐसी पदावली को सहर्ष स्वीकार करता है—विशेषकर जब वह लम्बे पदों में बद्ध होती है। इसके अतिरिक्त स्पेन्सर में कुछ प्योरिटनिज़्म का अंश भी है जो इंग्लैंड में ध्यान और प्रशंसा आकर्षित करने में अवश्य ही सफल होता। 'सोशल स्टेटिक्स' में 'न्याय होना चाहिये' का एक मधुर स्वर है। उसमें एक कठिन और अनमनशील न्यायपरायणता का वातावरण है। 'प्राथमिक सिद्धान्तों के बारे में यही सही बात है—ऐसी बात जो अंतिम रूप से एकमात्र सही बात है, और यथार्थ में एकमात्र रूप से सही है'। अपूर्ण मनुष्य चाहे इसे प्राप्त न कर सके; परन्तु यही सही बात है।' हमारे राष्ट्र की

एक उच्च सिद्धान्त तथा एक अपेक्षाकृत निम्न व्यवहार में अलगाव करने की कुछ प्रवृत्ति सी है। यही कारण है कि कभी-कभी विदेशों में हमें दम्भी कहा जाता है और हमारा अपना साहित्य, जैसे कि वह स्वभाव का प्रतिबिंब हो, डिकेंस से मेरेडिक तक, दम्भियों (hypocrites) के रूप प्रस्तुत करता है। संभवतः भेद करने की इस प्रवृत्ति ने भी स्पेन्सर को जो समान रूप से ही असम्बद्ध था और जो निरपेक्ष अधिकार की पर्वत सरीखी ऊँचाई से भू-राष्ट्रीय-करण और स्त्री-मताधिकार के व्यावहारिक प्रश्नों पर उतर कर आने के समय कुछ अनैष्कपटता में फँस गया—कुछ प्रभाव प्रदान करने में सहायता दी। पूर्ण रूप में देखने पर स्पेन्सर इंग्लैंड के लिए उपयुक्त था; और इस पूर्व-कल्पना के आधार पर कि राष्ट्र उसी राजनीतिक विचारधारा के योग्य है जो वह पाता है, हम कह सकते हैं कि इंग्लैंड स्पेन्सर के लिए योग्य था।

अध्याय ५

स्पेन्सरोत्तर वैज्ञानिक विचारक

प्रारंभ से अंत तक, स्पेंसर ने, कितनी ही असफलतापूर्वक क्यों न हो, राजनीति को जीव-शास्त्र से संबद्ध करने का प्रयास किया। ये दोनों अनिच्छुक साथी सिद्ध हुए; और कभी-कभी स्पेंसर को उन्हें उनके सहकार्य से पृथक कर अलग-अलग चलाना पड़ता है। वह यह स्वीकार करता है कि जीवशास्त्र का विषय सावयवी विकास है, जबकि समाज-शास्त्र का विषय 'चेतनोत्तर' (super-organic) विकास है। जीव-शास्त्र वैयक्तिक सावयवों को सामान्य क्रियाओं का विवेचन करता है, परन्तु समाज-शास्त्र को 'अनेक व्यक्तियों की समन्वयित क्रिया' के अतिरिक्त तत्व (super-added factor) का भी सामना करना पड़ता है। समाजशास्त्र और जीवशास्त्र का भेद स्पेंसर को, 'प्रिंसिपिल्स ऑव सोशियालाजी' के प्रथम भाग के अंत में, सामाजिक सावयव और जीवधारी सावयव में भेद करने तथा एक की विच्छिन्नता तथा दूसरे की अविच्छिन्नता को दोनों के बीच का मूलभूत अंतर बताने की ओर अग्रसर करता है। 'दि मैन वर्सस दि स्टेट' में यह अंतर अधिक बढ़ जाता है। एक छोटा सा शब्द बड़े-बड़े परिणाम उपस्थित करने लगता है। अब हमें पता लगता है कि समन्वय का अतिरिक्त तत्व मनुष्य और उसके अधिकारों को पशुओं और उनके अधिकारों से भिन्न बना देता है। मनुष्य के अधिकारों का, उनके नैतिक होने के लिए, समन्वय के तथ्य के उपयुक्त बनाने की दृष्टि से समायोजित किया जाना आवश्यक है। 'हमारे साथियों की उपस्थिति' एक मर्यादा है और हमारे अधिकार उसी समय न्याय्य बनते हैं जब वे उस मर्यादा के साथ समायोजित कर दिए जाते हैं। और इस प्रकार स्पेंसर अंत में प्राकृतिक जगत की जीवन-प्रक्रिया, जिसमें एकक अपने आत्म-स्थापन (self-assertion) के अधिकार को अधिकतम संभव सीमा तक प्रयुक्त करता है, और मानवीय समाज की नैतिक प्रक्रिया, जिसमें प्रत्येक एकक आत्म-स्थापन को त्याग कर अपने को दूसरों के साथ समन्वयित करता है—के बीच

विरोध खड़ा करता है। ऐसा होने पर भी, साथ ही साथ, चाहे यह कितना ही असंगत क्यों न हो, वह संघर्ष, चयन और उपयुक्ततम की विजय की समाज के नियमों के रूप में बात करता है।

प्राकृतिक तथा सामाजिक अधिकार का पारस्परिक विरोध, जो स्पेंसर में भी उपस्थित है, डार्विन, हक्सले और रसल वालेस में सर्वप्रधान तत्व है। वे सभी यह अनुभव करते हैं कि विश्व-प्रकृति की जीवन-प्रक्रिया मानव समाज की नैतिक प्रक्रिया के समान नहीं है। डार्विन ने स्वयं प्राकृतिक चयन को, यद्यपि उसे इसका संकेत सामाजिक क्रियाओं के एक लेखक—माल्थस—से मिला था, समाज पर नगण्य रूप में ही लागू किया है और न ही उसने इससे मनुष्य के संघर्ष करने के प्राकृतिक अधिकार को स्वीकृति दी और न राज्य के व्यवस्था मात्र करने के कर्तव्य को। यह वह अवश्य अनुभव करता था कि प्राकृतिक चयन का मानव इतिहास पर एक महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है, क्योंकि इसने प्रत्येक समूह (Tribe) के संसक्तीकरण (Cohesion) के लिए और इस कारण जीवन के लिए आवश्यक उन सामाजिक प्रवृत्तियों को उत्पन्न किया जो कि नैतिक भावना के विकास का आधार थीं, और वह यह भी अनुभव करता था कि आधुनिक समाजों में भी यह एक महत्वपूर्ण प्रभाव है, क्योंकि जीवन-संघर्ष (अथवा, जैसा हक्सले कहता है—जीवन के साधनों के लिए संघर्ष) आलस्य पर एक निर्बंध तथा अनन्त जीवन-संग्राम में सर्वाधिक योग्य की सफलता की प्रत्याभूति के रूप में रहा है। परन्तु उसका विचार था कि मनुष्य की उच्चतम प्रकृति के लिए अन्य अभिकरण अधिक महत्वपूर्ण थे और नैतिक गुणों की उन्नति प्राकृतिक चयन की अपेक्षा स्वभाव, बुद्धि, शिक्षण तथा धर्म के द्वारा अधिक हुई है। पूर्ण रूप में देखने पर, डार्विन ने अपने चिन्तन को प्राकृतिक विज्ञान में ही लगाया और कभी एक सामाजिक दर्शन प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं किया। उसके सिद्धान्त के साथ हुआ यह है कि आगे के दार्शनिकों ने उसे किसी न किसी प्रकार अपनी सहायता के लिये प्रयुक्त किया है; और इस प्रकार वह धर्माधिकारीतंत्र-विरोधी विचारधारा (Anti-clericalism), साम्राज्यवाद, समाजवाद, और सैन्यवाद के समर्थक के रूप में उपस्थित किया गया है।

हक्सले स्पष्टतः समाज-दर्शन को प्राकृतिक विज्ञान से एक पृथक् तथा

वस्तुतः उसकी विरोधी वस्तु बना देता है। बहुत कुछ हॉब्स की भाँति वह आत्म-स्थापन (self-assertion) और आत्म-संतोष (self-satisfaction) के प्राकृतिक अधिकारों से, जिन्हें क्रूर तथा अनन्त संघर्ष के द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता हैं, युक्त विश्व-प्रकृति तथा ऐसे समाजों में समूहबद्ध जिनका ध्येय मानवता की भलाई है और जिन्हें ऐसे सामाजिक अधिकार प्राप्त हैं जो इस भलाई से संबद्ध तथा नियंत्रित है, सामाजिक मनुष्य की नैतिक प्रकृति के विरोध से आरंभ करता है। प्राकृतिक व्यवस्था अपने आप मानवता की भलाई करने की ओर प्रवृत्त नहीं रहती; उसने 'एवलूशन ऐंड एथिक्स' में लिखा है कि 'विश्व प्रकृति सद्गुणों की शिक्षा देने वाला विद्यालय नहीं है, प्रत्युत् वह नैतिक प्रकृति के शत्रु का प्रधान-केन्द्र है।' प्रकृति जिसके दाँत और पंजे रक्तपात से लाल हैं, 'शेर-चीतों के अधिकारों' का क्षेत्र है; वह अपनी सृष्टि को जीवन-संघर्ष में झोंक देती है जिसमें प्राकृतिक-चयन द्वारा नैतिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ट व्यक्तियों को जीवन-विजय नहीं प्राप्त होती—यहाँ तक कि उन्हें भी नहीं जो शारीरिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु केवल उन्हीं को जो किसी समय की दशाओं के साथ सर्वाधिक अनुकूलित होते हैं। दूसरे शब्दों में, उन्हें जो एक दृष्टि से और केवल उसी दृष्टि से अपेक्षाकृत सर्वाधिक उपयुक्त होते हैं। प्रकृति किसी नैतिकता अथवा नैतिक प्रतिमान को नहीं मानती; वह उपकरण का चुनाव किसी निरपेक्ष गुण (absolute worth) के सिद्धान्त के आधार पर नहीं वरन् दशाओं के प्रति अनुकूलन के सापेक्ष आधार पर करती है। और प्रकृति के दृष्टि में उपयुक्ततम विद्यमान दशाओं के निम्न होने पर किन्हीं भी मानवीय मूल्यों की दृष्टि से निम्न होंगे। पुनः प्रकृति किन्हीं ऐसे अधिकारों को नहीं मानती जिन्हें वर्तमान होना चाहिये; उसकी दृष्टि में 'अधिकार' केवल वह शक्तियाँ हैं जो उसके द्वारा उत्पन्न प्रत्येक जीव संघर्ष में अपने आप को महत्व देने के लिए यथार्थ रूप से प्रयोग करता है; प्रकृति तो केवल अपनी विशिष्ट दशाओं में सर्वाधिक सशक्त बल को जीवन-विजय (survival) के अनुदान के द्वारा मान्यता मात्र देती है। उसके 'नियम' केवल क्रूर तथ्यों के विवरण मात्र हैं; उसके अधिकार केवल क्रूर शक्तियाँ ही हैं। इस क्षेत्र में स्वतंत्रता अथवा

समानता के नैतिक अधिकारों को लाना अर्थहीन है। इस प्रकार के क्षेत्र में ऐसे कोई अधिकार वर्तमान नहीं रहते; और नैतिक अधिकारों के किसी विचार को असम्बद्ध (irrelevant) मान कर मन से निकाल दिया जाना आवश्यक है। ऐसे क्षेत्र में जहाँ आपको अपने को अनुकूलित करना अथवा जीवन समाप्त कर देना आवश्यक हो, कोई स्वतंत्रता नहीं होती; ऐसे विभाग में जहाँ उपयुक्ततम की जीवन-विजय की सम्पूर्ण परिकल्पना में असमानता आवश्यक रूप से निहित हैं, कोई समानता नहीं होती।

एक मनुष्य ही किन्हीं बातों को एक नैतिक माप के आधार पर उच्च अथवा निम्न बता सकता है। एक मनुष्य यह कहता है कि श्रेष्ठतर बात ही होना चाहिये; मनुष्य द्वारा निर्मित 'कृत्रिम' नैतिक जगत में ही नैतिकता का अस्तित्व होता है और अधिकार, रक्तपात की शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी अर्थ में, जीवित रहते हैं। मनुष्य प्रकृति के प्रभाव के अधीन रहने वाला जीव है; परन्तु यह उसके गौरवशाली तथा दुखपूर्ण भाग्य में लिखा है कि वह सदा विद्रोही रहेगा। वह प्रकृति का दास है और प्रकृति का स्वामी है, और यही उसकी अनन्त 'ट्रेजेडी' है। वह एक ऐसे जगत को देखता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की क्रिया अन्य सब की हानि कर उसके अपने हित की ओर निर्देशित होती है। वह एक ऐसे जगत की रचना करता है जिसका उद्देश्य मानवता की भलाई है। आत्म-स्थापन के स्थान पर वह आत्म-संयम को आरूढ़ करता है; प्रतिस्पर्द्धा के स्थान पर वह यह चाहता है कि प्रत्येक न केवल अपने साथियों का सम्मान करे वरन् उनकी सहायता भी करे; वह अपना ध्यान 'उपयुक्ततम की विजय' की ओर करने की अपेक्षा अधिक से अधिक लोगों को जीवन-विजय प्राप्त करने के लिए उपयुक्त बनाने की ओर करता है। संघर्ष के विश्व-प्रक्रम को नैतिक दृष्टि से सर्वोत्तम लोगों की जीवन-विजय की ओर निदेशित नैतिक प्रक्रिया के हित में रोक देता है। निःसन्देह, वह उतना आगे नहीं जाता जितना एक औद्यानिक अपने पौधों के साथ व्यवहार में बढ़ जाता है, और न वह सकारात्मक रूप में सर्वोत्तम जन उत्पन्न करने का प्रयास करता है; उसमें सर्वोत्तम जनों का चयन करने के लिए आवश्यक बुद्धिमत्ता नहीं है, और उसे यह भय रहता है कि उसके कृत्रिम समाज को एकीकृत रखने

वाली सहानुभूतिपूर्ण शृंखलाएँ इस प्रकार के प्रयत्न के तनाव को सहन न कर सकेंगी। वह एक अपेक्षाकृत अल्प और नकारात्मक सिद्धि से ही संतुष्ट रहता है। वह अस्तित्व के लिए होने वाले संघर्ष को अवश्य समाप्त कर देगा, परन्तु वह निर्वाह के लिए होने वाले संघर्ष को वैसा ही छोड़ देगा। वह यह आशा करता है कि निर्वाह के साधनों के लिए होने वाला संघर्ष सर्वोत्तम लोगो को प्रस्तुत करेगा। इसी आशा में और इसी उद्देश्य के लिए वह योग्यता-सम्पन्न लोगों के लिए अच्छा जीवन क्रम सुनिश्चित करने का प्रयत्न करता है, जिससे अच्छे लोग अपने उचित स्थान पर आरूढ़ होगे और न केवल इतना ही वरन् बुरे लोग भी गिर कर अपने उचित स्तर पर पहुँच जायँगे।

इस प्रकार 'विकास की नैतिकता' की बात करना हास्यास्पद है, क्योंकि विकास एक प्राकृतिक-नैतिकता-रहित (non-ethical) प्रक्रिया है, हमें इस पद को उल्टा कर देना चाहिए और नैतिकता के विकास की बात करना चाहिए। यहाँ, वस्तुतः, हमारे समक्ष एक उसी प्रकार की कठिनाई आती है जैसी हाब्स की कृतियां में उपस्थित होती है। किस प्रकार 'प्राकृतिक मनुष्य' अपने नैतिकता के 'अप्राकृतिक' जगत का विस्तार कर सकता है? हमें किसी दैवी-साधन (deus ex machina) की आवश्यकता प्रतीत होती है। और रसल वालेस इस आवश्यकता को अनुभव करते हुए, कठिनाई को हल करने के लिए 'अदर्शनीय आत्म-जगत' (The unseen universe of spirit) की कल्पना करने की ओर प्रेरित हुआ है। हक्सले इस कठिनाई का एक अधिक सरल रीति से सामना करता है। नैतिक जगत के आत्म-नियंत्रण का उद्‌गम प्राकृतिक मनुष्य के सायववी तत्वों में है। इस उत्तर से यह कठिनाई रह जाती है कि यह उत्तर प्राकृतिक मनुष्य और सामाजिक मनुष्य के विरोध का, जिस पर इतना अधिक बल दिया गया है, खंडन करता है; और हक्सले की सम्पूर्ण स्थिति की कमज़ोरी यही है। परंतु यहाँ हम कठिनाई को सामने से हटाकर तर्क का अनुकरण करेंगे। हक्सले के अनुसार प्राकृतिक मनुष्य के वे सावयवी तत्व जो समाज की सृष्टि करते हैं; दो हैं—पारिवारिक स्नेह और उससे भी अधिक महत्वपूर्ण सर्वांग अनुकरण (mimicry) की मानवीय प्रवृत्ति। बैजहट और टारडे की भाँति हक्सले एक 'अनुकरणवादी' (imitationist) है। अपने

साथियों का अनुकरण करना हमारी प्रवृत्ति होती है; हम अपने साथियों जैसे होना चाहते हैं : हम अपने साथियों का अनुमोदन प्राप्त करना चाहते हैं। मन का यह पूर्णतः सहज कार्यकरण (reflex operation) ही जिसके द्वारा गिरगिट की भाँति हम दूसरों का रंग ग्रहण करते हैं, समाज की नींव है। ऐसा लगेगा कि यहाँ हक्सले, राज्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या उपस्थित करने का प्रयास कर रहा है। इस प्रकार की व्याख्या का महत्व की बाद में विवेचना की जानी आवश्यक है; परन्तु, किसी भी दशा में, यह स्पष्ट नहीं है कि एक अनुकरण-शील समूह एक नवीन नैतिक जगत का निर्माण किस प्रकार कर सकता है। यथार्थ में, यदि हम हक्सले के जैसे आधार से आरंभ करें तो इस प्रकार के जगत के अस्तित्व की समस्या का हल करना लगभग असंभव ही रहेगा। यह जानना कठिन है कि अनुकरणशील सहानुभूति मानवता की भलाई की ओर निर्देशित एक संगठित समुदाय को कैसे प्रस्तुत कर सकती है, अथवा अनुकरणशील मनुष्य किस प्रकार प्रकृति के प्रति महा-विद्रोही बन सकता है। इस प्रकार के आधार पर अंततः हम राज्य और उसके उद्देश्य को विश्वास के आधार पर मानने और अपने समस्त विचार की जड़ में एक अनिश्चित द्वैधता (unsolved dual-ism) छोड़ने के लिए बाध्य हो जाते हैं। वस्तुतः जब तक हम मनुष्य को आत्म-स्थापन में प्रवृत्त प्राकृतिक सावयव और आत्म-त्यागी सामाजिक जीव इन दो भागों में विभक्त करते रहेंगे, परिणाम द्वैधता होना आवश्यक है। राज्य प्राकृतिक मनुष्य का एक अनिर्वचित निषेध—एक अनिर्वचित 'मत करो', का क्षेत्र,—ही रहेगा जिसमें व्यक्ति अपने को खो देता है और जिसके बाहर ही वह अपने को महत्व प्रदान कर सकता है। हम केवल मनुष्य को एक समष्टि मान कर ही—तभी जब हम उसे अपने सम्पूर्ण रूप में एक ऐसा बुद्धियुक्त प्राणी, जिसकी बुद्धि उसे अपने तथा अन्य बुद्धियुक्त प्राणियों के बीच समान भलाई की ओर निर्देशित करती है, मानें—हम द्वैधता से बच सकते हैं और राज्य में एक समान हित के लिए किए जाने वाले सम्मिलित प्रयत्न के रूप में आत्म-सिद्धि का एक सकारात्मक क्षेत्र देख सकते हैं।

इस प्रकार हक्सले राज्य के अस्तित्व के कारण को अनिर्वचित ही छोड़ देता है; और उसका कार्य—मानवता की भलाई—एक धारणा ही बना रहता

है। राज्य की प्रकृति के स्पष्ट न किए जाने के कारण उसकी शक्तियाँ भी असीमित और अनिश्चित रहतीं हैं। व्यावहारिक प्रयोग से 'समस्या हल हो जाएगी, (solvitur ambulando) हक्सले प्रत्युत्तर में कहता है; हम अनुभूतिमूलक सिद्धान्त का अनुसरण कर सकते हैं और यह कह सकते है कि शासन कोई भी ऐसा कार्य कर सकता है जो किसी विशिष्ट समय में 'मानवता की भलाई' में सहायक हो। प्राकृतिक अधिकार शासन के विरूद्ध किसी काम नहीं आ सकते; उनसे शासन की शक्तियाँ किसी प्रकार निर्बन्धित नहीं होती; शासन सामाजिक ज़गत के उद्यान में, जिसे प्रकृति के मरुस्थल से कृषि-योग्य बनाया गया है, शान्ति का राज्य सुनिश्चित करने के लिए कुछ भी कर सकता है। शान्ति के साथ नागरिक तथा नैतिक अधिकार संयुक्त हैं; और इन अधिकारों के साथ कर्तव्य जुड़े हुए हैं (जब कि प्राकृतिक अधिकारों के साथ कोई कर्तव्य संयुक्त नहीं है); और इन कर्तव्यों के अतिक्रमण को अवश्य ही दंडित किया जाना चाहिये। इस प्रकार हम 'नागरिक' (civil) स्वतंत्रता के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं जिसमें नागरिक तथा नैतिक अधिकार प्रत्याभूतित है। ऐसी प्रत्याभूति प्रदान करना शासन का कार्य है। परन्तु यह प्रत्याभूति केवल शांति के हित में ही प्रदान की जाती है और उनको केवल उसी सीमा तक प्रदान किया जाता है जहाँ तक वह उन हितों के अनुकूल होती है। उसके हित सर्वप्रधान हैं। स्पष्टतः राज्य को सामाजिक शान्ति के हितों को युद्ध के द्वारा सुरक्षित करना चाहिये और इस प्रकार के संरक्षण में आवश्यक रूप से उसके सदस्यों की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप अन्तर्भूत होगा जिसके बारे में कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता और जिसका प्रत्येक मामले की प्रकृति के साथ भिन्न होना आवश्यक है। इस प्रकार 'ऐडमिनिस्ट्रेटिव निहिलिज्म' पर अपने निबन्ध में हक्सले सामाजिक शान्ति के स्थापन के लिए, उसकी आवश्यकता के आधार पर, अनिवार्य शिक्षा की वकालत करने को प्रेरित होता है। यहाँ वह स्पेंसर के एक सिद्धान्त के प्रतिकूल जाता है। और यद्यपि वह व्यक्तिगत रूप में स्पेंसर के प्रति नम्र है, वह स्पेन्सर द्वारा प्रतिपादित सामान्य अराजकतावादी सिद्धान्त पर प्रहार करता है। वह इस बात से इन्कार करता है कि राज्य अन्य सभी 'संयुक्त पूंजी कम्पनियों' से अधिक अदक्ष है; और वह यह कहता है कि सामा-

जिक सावयव का रूपक वस्तुतः 'मस्तिष्क-केन्द्र' की निरंकुशता का समर्थन करता है। 'गवर्नमेंट' पर अपने निबन्ध में वह आबेरॉन हर्बर्ट (Auberon Herbert) की 'वैयक्तिक स्वतन्त्रता' की विचारधारा का विरोध ऐसी तीव्र आलोचना से करता है जो वस्तुतः स्पेन्सर की स्थिति को सुलझा देती है; क्योंकि हर्बर्ट राज्य की स्वास्थ्य और शिक्षा व्यवस्था का विरोध करने में, राज्य के कार्य को व्यवहार और दांडिक न्याय तक निर्बन्धित करने में, तथा शासन को उसकी प्रकृतिशः ही बलात् अपहरण मानने में स्पेन्सर के साथ है। इस विवादग्रस्त विषय में हक्सले का दृष्टिकोण हॉब्स के अपने समकालीन 'प्योरिटन' व्यक्तिवादियों के प्रति दृष्टिकोण से भिन्न नहीं है। और वस्तुतः हॉब्स से उसका निकट सम्बन्ध अनेक प्रकार से स्पष्ट होता है। परन्तु जहाँ हॉब्स में बहुत कुछ स्पेन्सर जैसी ही सिद्धान्तवादी तर्कबुद्धि है, और जहाँ उसकी तर्कबुद्धि उसे शासन का उतना ही उग्र पक्षपाती बना देती है जितना स्पेन्सर अराजकता का पक्षपाती था, हक्सले का सशक्त सामान्य विवेक तथा यथार्थता का सजीव ज्ञान उसे शासन अथवा अराजकता दोनों में से किसी का पैगम्बर बनने से रोकता है। यदि वह राज्य की एक अराजक समाज के रूप में कल्पना नहीं करता—क्योंकि एक अराजक समाज आत्म-व्याघाती पद है—तो वह उसे एक सामाजिक सावयव भी नहीं मानता क्योंकि एक सामाजिक सावयव भी आत्म-व्याघाती पद है। वह यह कहता है कि समाज एक सावयव नहीं है। वह एक कृत्रिम निर्मिति है जिसमें, प्रत्येक संवाम की भाँति एक अन्तर्भूति संविदे का आधार निहित है। एक अनुबन्ध में दो तत्व निहित रहते हैं : एक आकर्षण तत्व—जिसके बिना कोई अनुबंध न होगा; और दूसरा विकर्षण (Repulsion) तत्व—जिसके बिना अनुबन्ध न होकर मिश्रण ही हो सकेगा। मनुष्य में ये दोनों तत्व सामाजिक प्रकृति तथा आत्म-स्थापन की 'असामाजिक विशिष्टता' के रूप में हैं। समाज के मूल में इन दोनों तत्वों के होने के कारण शासन को दोनों के साथ समायोजित किया जाना आवश्यक है, तथा उसे 'समान महत्व की दो विरोधी प्रवृत्तियों को—जिनमें से एक वैयक्तिक स्वतंत्रता को निर्बन्धित करती है और दूसरी बढ़ाती है'—स्वीकार करना चाहिये। उसे किसी प्रकार दोनों को व्यावहारिक कार्यों से संतुलित करना चाहिये और एक ऐसा मध्यमान (mean)

निकालना चाहिये जो सामयिक दशाओं के अनुकूल हो और जिसे सामायिक जनमत स्वीकृत करे अथवा उसकी माँग करे।

इस सम्पूर्ण विषय के निष्कर्ष रूप में एक न्यूनाधिक द्वैधता और उसके साथ एक प्रकार की निराशावादिता सामने रह जाती है। हक्सले आत्म-स्थापन के बारे में स्पष्ट नहीं है; कभी वह एक नैतिक लक्षण प्रतीत होता है और कभी प्राचीन वनजातियों का एक प्राकृतिक लक्षण। पूर्ण रूप में देखने पर वह इनमें से द्वितीय ही प्रतीत होता है। हमारा आन्तरिक तत्व ही हमें विश्व प्रकृति की अव्यवस्थित प्रक्रिया से आबद्ध रखता है। यह हमें अपनी संख्या बढ़ाने की ओर प्रेरित करता है। वंश-विस्तार प्रकृति के नियमों में से एक है क्योंकि यह उस संघर्ष की एक आवश्यक दशा है जो उसका एक 'कानून' है। परन्तु वंश-विस्तार हमारे सामने 'समस्याओं की समस्या' अधि-जनसंख्या (over-population)—जो कि उस स्फ़िक्स के समान है जिसकी पहेली हमें मृत्युदंड से बचने के लिये हल करना आवश्यक है और जिसे हम इस बात के बावजूद भी कभी हल नहीं कर सकते—ला खड़ी करता है। इस प्रकार मनुष्य के लिए किसी प्रकार आनन्द सुरक्षित नहीं है; वरन् उसे 'प्राकृतिक अवस्था के विरुद्ध एक संगठित लोक-राज्य (organised polity) की कृत्रिम-अवस्था (state of art) को बनाए रखने और विकसित करने के लिए सतत संघर्ष' का सामना करने को छोड़ दिया गया है। अपने पूर्वजों से प्राप्त हमारी आनुवंशिक संपत्ति, जो कि प्रारम्भिक पाप का हमारा भाग है, असीमित आत्म-स्थापन की प्रवृत्ति है; हमें आत्म-संयम और आत्म-त्याग के द्वारा सीखने का कष्टपूर्ण पाठ प्राप्त हुआ है। स्पेन्सर की ही भाँति हक्सले में सकारात्मक आत्म-स्थापन एक पशु का लक्षण प्रतीत होता है; और दोनों यह विश्वास करते हैं कि जहाँ तक हम मनुष्य है, और एक ऐसे समाज के सदस्य हैं जिसे हमने मनुष्यों के रूप में बनाया है, हम एक ऐसी नैतिकता से बँधे हुए हैं जो पूर्णतः नकारात्मक है। इस प्रकार के दर्शन का स्थायी रहना कठिन है। हम अपने आप का, तथा राज्य का, जो हमारा ही एक भाग है, और हमारा ही रूप है, औचित्य तभी सिद्ध कर सकते हैं जब हम ग्रीन और बोसांके की भाँति ऐसी किसी बात में विश्वास करें कि 'स्व' और उसके व्यक्तित्व की अभिव्यंजना

समाज में और समाज के द्वारा होती है, और नैतिकता एक सकारात्मक वस्तु है, एक ऐसी वस्तु जिसमें हम अपने पूर्ण व्यक्तित्व को प्रकट करते है, न कि एक ऐसी वस्तु जिसमें हम अपने प्रकृति के आधे भाग को अस्वीकृत कर देते हैं।

'सोशल एवलूशन' (१८६४) में बेंजमिन किड (Benjamin Kidd) ने हक्सले के मार्ग का ही अवलम्बन किया है, परन्तु वह द्वैधतापूर्ण जगत का धर्म (Religion) में और धर्म के द्वारा समाधान खोजता है। किड हमें बतलाता है कि जीवशास्त्री को मानव समाजों द्वारा प्रस्तुत सामूहिक जीवन की क्रियाओं का सामना और स्पष्टीकरण उसी प्रकार और उन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार करना चाहिए जिनके आधार पर वह जीवन की सरलतर क्रियाओं पर विचार करता है। उसे प्राकृतिक चयन के उसी मूल नियम को, उस नियम को जिसमें अपनी आवश्यक दशा के रूप में अधि-गुणन (over-multiplication) निहित है; जो अतिरिक्त जनसंख्या के बीच जीवन-संघर्ष के रूप में कार्यान्वित होता है; और जिसका परिणाम सर्वाधिक अशक्तों के विलुप्तीकरण और सर्वाधिक शक्तिवान तत्वों के चयन के द्वारा समाज के सामूहिक जीवन का शोधन होता है—प्रस्वीकार करना चाहिए। जीवन-नियम एक ऐसा नियम है जो 'सामाजिक सावयव' के हित के लिए कार्यरत रहता है, और 'व्यक्ति' को अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए साधन मात्र के रूप में प्रयुक्त करता है। परंतु व्यक्ति इस त्याग को बिना संघर्ष के स्वीकार नहीं कर लेता। उसका विवेक, जो उसे व्यक्ति बनाता है, विद्रोह करता है। विवेक उसे अपने लिए जीवित रहने, महत्व प्राप्ति का प्रयत्न करने तथा आनन्द भोगने के लिए प्रेरित करता है : विवेक क्रोधपूर्वक कहता है कि 'मेरे लिए सावयवों का क्या महत्व है अथवा 'उनके लिए मेरा क्या महत्व है ?' परंतु अंततः जीवन-नियम विद्रोही विवेक के ऊपर विजयी होता है। जीवन-नियम का एक सहवर्गी (ally) है। वह सहवर्गी धर्म है; और जीवन-नियम ने धर्म की सहायता से युगों से विवेक को पराजित किया है। 'धर्म विश्वास का एक रूप है, जो व्यक्ति के व्यवहारों के उस बड़े वर्ग को जो उसके अपने हितों तथा सामाजिक सावयव के हितों के विरोधी होने के कारण सामने आते हैं, एक अति-विवेकशील स्वीकृति से युक्त करता है।

इस प्रकार किड का मत एक विचित्र सुधार-विरोधवाद (obscurantism) है। जहाँ हक्सले समाज को मानवीय विवेक की, जो प्रकृति की शक्ति को चुनौती दे सकता है, परिणाम मानता था, किड समाजो और सामाजिक सावयवो को एक ऐसे जीवन-नियम का परिणाम मानता था जो हठी किन्तु स्वार्थी विवेक को पराजित कर देता है और अपनी विजय सुनिश्चित करने के लिए धर्म की सेवा प्राप्त करता है जिसका स्पष्टतः विवेक से, सिवा उसे अपने अधीन रखने के, कोई संबंध नहीं है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि आधुनिक समाज की विकासशील शक्ति बुद्धि (intellect) नहीं है (प्रत्युत् बुद्धि तो एक प्रतिक्रियावादी शक्ति है जो समाज को अव्यवस्थित करने का प्रयत्न करती हैं), वरन् ईसाई धर्म के द्वारा उत्पादित धार्मिक-भावना का विशाल भंडार है। 'मानव समाज का विकास मुख्यतः बौद्धिक न होकर धार्मिक है': 'ऐसा एक ही उपाय है जिससे मानवीय विकास का बुद्धिवादी तत्व नियंत्रित किया जा सकता है; वह है धार्मिक व्यवस्थाओ के (religious systems) उपयोग के द्वारा नियंत्रण।

किड की आलोचना करना अनावश्यक है। मानवीय विवेक सम्बन्धी उसकी धारणा तथा 'व्यक्तियों' और 'सामाजिक सावयवों' के सम्बन्धों के बारे में उसका दृष्टिकोण विचार जगत को अनुदाय होने की अपेक्षा विलक्षणताएँ ही हैं। दूसरी ओर 'सोशल एवलूशन की' बकिल (Buckle) की क्रीमियन युद्ध के समय लिखी गई 'हिस्ट्री ऑव सिविलाइजेशन' से, जो कुछ दृष्टियो से एक मिलती-जुलती रचना है, तुलना उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तर भाग मे डार्विन के विचार से प्रभावित राजदर्शन के अनुवर्ती विकास पर यथार्थ प्रकाश डालती है। 'ओरिजिन ऑव स्पेशीज' के पूर्व ही लिखते समय बकिल मानव समाज के विज्ञान को भौतिक विज्ञानो की ही भॉति स्थिर और निश्चित बनाना चाहता था। वह यह अनुभव करता था कि विज्ञान के दोनो वर्गों को एक ही सी सामग्री का एक ही प्रकार से संकलन, परीक्षण तथा निर्वचन करना पड़ता है। इस प्रकार बकिल एक भौतिक-गणितिक (physico mathematical) रूप मे वैज्ञानिक था, और उसने विज्ञान से अन्तर्विषय (content) को अपेक्षा पद्धति (method) ही ग्रहण की है। इस पद्धति के प्रयोग से

वह धन के उत्पादन और वितरण पर जलवायु, भूमि और खाद्य-सामग्री जैसे भौतिक तत्वों का उल्लेख करने को प्रेरित होता है। उदाहरणार्थ, वह यह तर्क देता है कि गर्म जलवायु में कम खाने की ही आवश्यकता होती है; जहाँ कम खाने की आवश्यकता होती है वहाँ जनसंख्या द्रुतगति से बढ़ती है; और जहाँ जनसंख्या द्रुतगति से बढ़ती है वहाँ धन का वितरण आवश्यक रूप से श्रमिकों के हितों के प्रतिकूल होता है और उनकी मजूरी अनिवार्य रूप से कम होती है। इसी सरल भौतिकवाद जैसी कुछ वस्तु उसकी विचारों के उत्पादन और वितरण की विवेचना में लक्षित होती है। वह यह कहता हैं कि यह 'प्रकृति के सामान्य पक्ष' का विषय है; यदि प्रकृति अत्यधिक वैभवयुक्त हो तो विचार घुट जाता है और अनियंत्रित कल्पनाशक्ति अंधविश्वास की ओर दौड़ती है। यदि प्रकृति अपनी भयोत्पादन की शक्ति का मितव्ययता से प्रयोग करती है तो मनुष्य विश्वस्त रहता है और सोचने का साहस करता है। यदि मनुष्य को सोचने का अवसर मिलता है तो उसने संग्राम में विजय प्राप्त कर ही ली, यही समझिए। यह उसकी विचार-क्रिया ही है जो प्रगति का मूलस्रोत है। नैतिकता के महान् सत्यों में कभी अंतर नहीं आता; उनकी प्रकृति स्थिर है। बुद्धि के सत्य प्रगतिशील हैं; और बुद्धि के यही प्रगतिशील सत्य, न कि नैतिकता के स्थिर सत्य, विकास की व्याख्या कर सकते हैं। धार्मिक उत्पीड़न का अंत मानवता के विकास के कारण नहीं, वरन् ज्ञान की वृद्धि के कारण हुआ है। जितना अधिक युद्ध का लोप होगा उतना ही अधिक विचार-युद्ध के एक व्यावसायिक वर्ग तक सीमित होने के कारण, स्वतंत्र होगा; उतना ही अधिक राजनीतिक अर्थशास्त्र का ज्ञान वाणिज्यिक शत्रुता के सिद्धान्तों का अंत करेगा; उतना ही अधिक वाष्प-शक्ति का प्रयोग मनुष्यों में एक दूसरे की जानकारी बढ़ाएगा। बकिल का ज्ञान में विश्वास उसे शासन में अविश्वास की ओर ले जाता है। वह तर्क देता है कि सभ्यता की प्रगति शासनों के कारण नहीं हुई हैं; वह ज्ञान के कारण हुई है। वह यहाँ तक सोचता है कि शासन ज्ञान का और इस कारण प्रगति का शत्रु है। इंग्लैंड के शासन को ऐडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक-अर्थशास्त्र के नवीन ज्ञान का महत्व समझने में लम्बा समय लगा। और जब अंततः शासन को कोई बात करने के लिए राजी कर

लिया जाता है तो वह किसी नवीन वस्तु का निर्माण नहीं करता, वरन् किसी पुरानी वस्तु का अंत मात्र ही करता है। हम उत्पात को दूर करने के लिए उसके आभारी हो सकते हैं, परन्तु शासन ने उसे स्थान ही क्यों दिया? शासन केवल ग़लतियाँ करता है; 'केवल व्यवस्था की सुरक्षा से संबन्धित कुछेक विधानों के अतिरिक्त........प्रायः जो भी कार्य किया गया है, गलत किया गया है। शासन सभ्यता की एक मात्र यही सेवा कर सकता है कि वह व्यवस्था बनाए रखे और इस प्रकार व्यक्ति के स्वतंत्र ज्ञान को जाति को प्रगति की ओर ले जाने का कार्य करने दे—जिसे अनन्य रूप से वही कर सकता है। अन्यथा, एक राष्ट्र की समृद्धि की आवश्यक दशा यह है कि उस के शासन की शक्ति कम हो और वह भी प्रयुक्त न की जाय।'

विज्ञान के समाज पर अनुप्रयोग तथा विधानमंडल के प्रति घृणा भाव में बकिल की स्पेन्सर से समरूपता स्पष्ट है। वह 'क्रिस्टल पैलेस' (Crystal Palace) का युद्ध था, जब सर्वत्र शान्ति थी, व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानता था, और संसार अपने कल्याण के लिए उसके ज्ञान में विश्वास रखता था। किड के लेखन काल में अशान्ति ने स्थान पा लिया था। तब ज्ञान इतना सरल अथवा स्पष्ट नहीं दीखता था। प्रकृति व्यक्ति के बारे में उतनी असावधान सिद्ध हुई थी, जितनी वह प्ररूप (type) के बारे में सावधान थी। पूर्वकालीन सामंजस्य का अंत हो चुका था; और किड के मतानुसार एक नवीन सामंजस्य वर्ग अथवा सामाजिक सावयव को ही साध्य बना देने तथा व्यक्ति का प्ररूप के साथ, प्ररूप को एक अनिर्वचित धर्म को प्रतिष्ठा प्रदान कर, समाधान करके ही प्राप्त किया जा सकता था।[१]

× × ×

---

१ किड के दृष्टिकोण का मूल संभवतः डब्लू० के० क्लिफ़र्ड के 'साइंटिफिक बेसिस आव मॉरल्स' और 'राइट एन्ड राँग' (उसके 'लेक्चर्स एन्ड एसेज भाग २, १०६–७६ में) निबन्धों में पाया जा सकता है। सन् १८७५ में ये दोनों निबन्ध विकासवादी नीतिशास्त्र का निर्माण करने के प्रारंभिक प्रयत्नों का प्रतिनिधित्व करते हैं और क्लिफर्ड के दार्शनिक ज्ञान और दृष्टिकोण की मौलिकता के प्रशंसनीय उदाहरण हैं।

अब तक हमने विज्ञान के द्वारा मानवीय क्रिया को विश्व-प्रकृति की प्रक्रिया का एक भाग माने जाते देखा है—यद्यपि हमने हक्सले को विश्व-नियम के विरुद्ध मानवीय विद्रोह पर बल देते तथा किड को उस विद्रोह को स्वीकार करते हुए परंतु विद्रोही आत्मा को धर्म की नशीली दवा देते पाया है। मानवता के आध्यात्मिक तत्व को या तो स्वीकार ही नहीं किया गया है, अथवा यदि उसे स्वीकार किया गया है तो उसे भौतिक जगत के प्राकृतिक नियम का एक रहस्य-मय अपवाद ही माना गया है। लेस्ली स्टीफ़ेन की पुस्तक 'साइंस ऑव एथिक्स' (१८८२) तथा सेमुएल अलेक्ज़ेंडर की पुस्तक 'मॉरल ऑरडर एंड प्रॉग्रेस (१८८६) में हमें वैज्ञानिक सिद्धान्त का एक अत्यधिक भिन्न अनुप्रयोग मिलता है। उनके लिए मानवीय आत्मा एक केन्द्रीय तथ्य है जिसे विज्ञान न तो उपेक्षा की दृष्टि से ही देख सकता है और न उसे रहस्यमय अपवादों के कारागार में ही बंदी कर सकता है, वरन् जिसकी व्याख्या करने के लिए वह बाध्य है। और इस प्रकार मनुष्य को प्राकृतिक क्रांति की वेदना के बीच भौतिक जगत में एक भौतिक पदार्थ के रूप में बाहर से लाया गया मानने के बजाय, हमें विकास को मानवीय इच्छा के आध्यात्मिक जगत में एक आध्यात्मिक प्रक्रिया के रूप में देखने की शिक्षा दी जाती है। अब यह तर्क दिया जाने लगता है कि मनुष्य की आत्मा अपने स्वयं के एक आध्यात्मिक विकास के अधीन है—एक ऐसे आध्या-त्मिक विकास के जो प्रतियोगी नैतिक आदर्शों के बीच संघर्ष का रूप ले लेता है और जिसकी इस संघर्ष में उपयुक्ततम की जीवन-विजय में परिणति होता है।

जिस प्रकार के विकासवादी नीति-शास्त्र को लेस्ली स्टीन और अलेक्ज़ेंडर ने, और डेविड रिची ने भी ('डार्विनिज्म एंड पॉलिटिक्स, १८६५) में, प्रति-पादित किया है उसके लिए नैतिक जगत में 'यद्भाव्यं' (laissez faire) तथा शक्तिशाली की विजय के कल्पित जैविक सिद्धांतों का अनुप्रयोग आवश्यक नहीं है। इस प्रकार का अनुप्रयोग वस्तुतः बहुत अधिक सामान्य हो गया है। डार्विनवाद को अत्यधिक विभिन्नता वाले दलों ने अपनी कार्यसिद्धि के लिए खींचतान कर प्रयुक्त किया है। सैन्यवादियों ने युद्ध का एक चयनात्मक अभिकरण (selective agency) के रूप में औचित्य सिद्ध करने के लिए जीवन-संघर्ष तथा उपयुक्ततम के चयन के विचारों की दुहाई दी है। व्यक्तिवादियों ने 'यद्भाव्यं' की आभ्यंत-

रिक नीति का—जो 'उपकारी संघर्ष के चयनात्मक कार्यकरण में हस्तक्षेप नहीं करेगी', औचित्य सिद्ध करने के लिए उन्हीं विचारों की दुहाई दी है। वस्तुतः डार्विन के प्राकृतिक जगत संबंधी सिद्धान्त को ग्रहण कर बिना mutare mutanda को स्मरण रक्खे उनको मानवीय संबंधों के आध्यात्मिक जगत में अनुप्रयुक्त करना एक सरल प्रक्रिया है। यह तर्क देना सरल है कि 'प्रकृति अपने बच्चों को प्रतियोगिता में संलग्न करती है; राज्य को भी अपने नागरिकों के साथ ऐसा ही करना चाहिए। प्रकृति सर्वाधिक शक्तिशाली जीव-योनियों को ठीक जीव-योनि मानती है; मानवीय जगत को सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र को ठीक राष्ट्र मानना चाहिए।' परंतु पशु-जगत का एक आवश्यक लक्षण यह है कि वह अचेतन है, जब कि मानवीय जगत का आवश्यक लक्षण यह है कि वह चेतन है। अचेतन पशुजगत में से शारीरिक संघर्ष के द्वारा ही और संघर्ष में विनष्ट जीवन की महान् बरबादी की कीमत पर ही श्रेष्ठतम को प्राप्त किया जा सकता है। परंतु यह धारणा कि चेतन मानवीय जगत में से भी श्रेष्ठतम को उसी पद्धति और उसी कीमत पर प्राप्त किया जा सकता है, अव्यावहारिक है। मनुष्य, यदि वह बिना उसे शारीरिक संघर्ष के जिसके लिए अकारण विनाश आवश्यक हो, अपनी शक्तियों को सर्वश्रेष्ठ उपयोग करने के लिए अपनी चेतना का प्रयोग नहीं करता, तो वह अपनी मानवता के प्रति विश्वासघाती होगा। उसका संघर्ष असाधारण होना चाहिए, क्योंकि वह स्वयं असाधारण है; वह चेतना के क्षेत्र में ही होना चाहिए, क्योंकि वह चेतन है; उसे स्वनिर्धारित होना चाहिए क्योंकि वह (मनुष्य) स्वयं स्वनिर्धारक है। हमें किसी भी कीमत पर उस निम्न कोटि के भाग्यवाद से सावधान रहना चाहिए जो द्रव्य (matter) के द्वारा मनुष्य के भाग्य के पूर्वनिर्धारण, तथा एक रहस्यमय वातावरण के द्वारा मोक्ष के लिए उन्नयन के झूठे सिद्धान्त के रूप में प्रकट होता है। यदि हम काल्विनवाद की इस प्रकृतिवादी हास्यास्पद अनुकृति (naturalistic travesty) का स्थान स्व-निर्णायक मन में विश्वास को दे दें तब और केवल तभी ही हम प्राकृतिक विकास के सिद्धान्तों का मानवीय विकास पर अनुप्रयोग कर सकते हैं। इस प्रकार के अनुप्रयोग में या तो अलेक्ज़ेंडर की भाँति हम परिपृच्छा (inquiry) के लिए नैतिक चेतना के विकास को चुन सकते हैं और इस आध्यात्मिक जगत के नियमों का प्राकृतिक जगत

के नियमों से सादृश्य और तादात्म्य खोज सकते हैं; अथवा हम, जैसा 'डेमोक्रेसी एंड रिएक्शन' में एल० टी० हॉब्हाउस ने कहा है, यह कह सकते हैं कि हमारा संबंध केवल ऊर्ध्वजनिक (orthogenic) विकास से ही है जो 'मन के विस्तार का नाम है' और हम इस विस्तार को पशुओं से मनुष्य और मनुष्य की, अपनी प्रगति में स्वनिर्णायक, एक सामूहिक मानवता के आदर्श में परिणति में खोज सकते हैं। इनमें से किसी भी रीति से हम भौतिकवाद से बच जाते है—चाहे हम अलेक्ज़ेंडर की भाँति ऐसा आध्यात्मिक विकास की पृथक प्रक्रिया की स्वतंत्रता पर बल देकर करें अथवा हॉब्हाउस की भाँति प्राकृतिक विकास की चरम परिणति के रूप में मनुष्य की आत्मा पर बल देकर। इनमें से किसी भी रीति से हम विकास को आध्यात्मिक अधिकार—न कि भौतिक शक्ति—की निरपेक्ष प्रधानता का न केवल प्रत्येक राज्य के आन्तरिक क्षेत्र में प्रत्युत् प्रत्येक राज्य के अपने समवर्तियों के साथ संबंधों में भी समर्थन करने के लिए प्रयुक्त होते देखते हैं। ये दोनों ही रीतियाँ हमें समाजों में मनुष्यों के व्यवहार पर मुख्यतः एक आचारशास्त्रीय विषय के रूप में विचार करने की ओर ले जाती हैं। और सब कुछ कहने के बाद भी यह शंका का विषय ही बना रह सकता है कि क्या आचारशास्त्र और राजनीति के क्षेत्र में, जो स्वयं मन के क्षेत्र में आते हैं, किसी भी प्रकार प्राकृतिक जगत के नियमों को खींच लाने से उनका कुछ लाभ होगा।

× × ×

अब हम मनोविज्ञान की ओर ध्यान देते हैं। यहाँ भी हम मन के सम्बन्ध में एक प्रकार का आग्रह पाते हैं; और राज्य-दर्शन पर मनोविज्ञान के अनुप्रयोग की कोई कुछ भी आलोचना क्यों न करे, इस अनुप्रयोग में यह गुण तो है ही कि कम से कम वह इस पूर्वधारणा से तो आरंभ करता है कि राज्य मन की उपज है और उसकी व्याख्या मन की पदावली में की जानी चाहिए न कि प्राजीवों (Protozoa) की पदावली में। मानवीय क्रिया की पहेलियों पर मनोवैज्ञानिक सूत्र का अनुप्रयोग वस्तुतः हमारे समय की सामान्य रीति बन गई है। यदि हमारे पूर्वज जैविक दृष्टि से विचार करते थे तो हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते हैं। उसी समय से जब जेवन्स ने उपभोक्ता के मन में पैठ कर

चरम मूल्य (final value) के सिद्धान्त का सृजन किया, अर्थशास्त्रियों की प्रवृत्ति अधिकाधिक मनोवैज्ञानिक होने की ओर रही है। बैजहट के 'फ़िज़िक्स और पॉलिटिक्स' लिखने के समय से ही राजनीतिक विचारक सामाजिक-मनोविज्ञानिक (social psychologists) बन गए हैं। उन्होंने सामूहिक जीवन के तथ्यों पर इस पूर्वधारणा की दृष्टि से ही विचार किया है कि वे सामूहिक चेतना के तथ्य हैं, जिनका एक प्राकृतिक विज्ञान के द्वारा भौतिक तथ्यों के वर्णन और विवेचन के लिए प्रयुक्त पद्धति के द्वारा वर्णन और निर्वचन करना ही उनकी समस्या है। तदनुसार जिस प्रकार एक मनोवैज्ञानिक यह समझता है कि वह प्राकृतिक विज्ञान की पद्धतियों के द्वारा एक ऐसे विषय का अध्ययन कर रहा है जिसकी अन्तर्वस्तु 'चेतना की स्थितियाँ' है, उसी प्रकार सामाजिक मनोवैज्ञानिक यह मानता है कि वह उन्हीं पद्धतियो के द्वारा एक ऐसे विषय का अध्ययन कर रहा है जिसकी अन्तर्वस्तु समूह-चेतना की स्थितियाँ हैं। यह बात ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है कि प्राकृतिक विज्ञान की पद्धतियों का प्रयोग करते हुये सामाजिक मनोविज्ञान अपने को प्राकृतिक विज्ञान की एक शाखा मानता है। इस दृष्टिकोण से दो परिणाम निकलते हैं। पहला, यह कि सामाजिक मनोविज्ञान को समूह-चेतना की समस्त सामग्री का अध्ययन करना चाहिये—न केवल बाद की तथा अधिक जटिल सामग्री का, वरन् सरल और प्रारंभिक का भी जो पशुओं में और प्रारंभिक मानवीय समाजों में सामने आती है। और, परिणामतः, इसका यह भी अर्थ निकलता है कि सामाजिक मनोविज्ञान की प्रवृत्ति रसायनशास्त्र जैसे एक प्राकृतिक विज्ञान की भाँति जटिल सामग्री को प्रारंभिक सामग्री की पदावली में हल करने की होना चाहिये। दूसरा यह कि उसके प्राकृतिक विज्ञान होने का यह अर्थ निकलता है कि सामाजिक मनोविज्ञान की सम्पूर्ण सामग्री सामाजिक मनोवैज्ञानिक के लिए समान महत्व की है। एक रसायनशास्त्री के लिए नाइट्रोजन आक्सीजन से कुछ भी अधिक महत्व नहीं रखती। और सामाजिक मनोवैज्ञानिक के लिए एक आरंभिक समुदाय (totem) का महत्व श्रमिक संघ से किसी प्रकार कम नहीं है। वह महत्त्व की दृष्टि से विचार नहीं करता। महत्व नीतिशास्त्र के क्षेत्र में आता है। इसका अर्थ यह है कि अंततः मनोवैज्ञानिक, जब वह राज-

नीति की ओर अपना अवधान करता है, जीवशास्त्री से अधिक आगे नहीं जाता। दोनों ही प्राकृतिक विज्ञान की प्रक्रिया का अनुकरण करने में मूलतः समान हैं। जहाँ तक उनमें से कोई महत्व की बात करता है वह एक प्राकृतिक विज्ञान के छात्र के रूप में अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करता है और एक नीतिशास्त्री बन जाता है। मनोवैज्ञानिक को सुविधा इस कारण है कि मन का अध्ययन करने के कारण उसे एक जीवशास्त्री की अपेक्षा सतत रूप से सीमाओं का अधिक मात्रा में अतिक्रमण करना पड़ता है। उसकी चेतना और समूह चेतना के विभिन्न तथ्यों को क्रमागत करने और उनका मूल्यांकन करने की अधिक प्रवृत्ति होती है। उसकी असुविधा यह है कि उसकी प्रवृति ऐसे तथ्यो को गलत सिरे मे क्रमागत करने की ओर होती है; वह आरंभ न केवल समय की दृष्टि से ही करता है वरन् साध्य की दृष्टि से महत्त्व के आधार पर भी; संक्षेप में, वह सभ्य जीवन की वनचारी सहज-प्रवृत्ति (savage instinct) की दृष्टि से व्याख्या करता है। उसे यह असुविधा भी है कि 'चेतना की स्थिति' का अध्ययन करने के कारण वह वैयक्तिक मन के एकाकी संवेदना-केन्द्र की ओर जहाँ कि यह चेतना रहती है, मुड़ने को बाध्य होता है। विश्व ऐसे एकाकी संवेदना-केन्द्रों का योग बन जाता है; और उन्हें संयुक्त करने के लिए और इस प्रकार समूह की चेतना की स्थिति प्राप्त करने के लिए वह उनके संवेदना-केन्द्र के अनुकरण (imitation) जैसे किसी मौलिक तत्व का आश्रय लेता है। यह समाज की एक विवेकशून्य-पंजर (irrational structure) के रूप में व्याख्या करना है और इस कारण यह किसी प्रकार भी समाज की व्याख्या नहीं कही जा सकती। सामाजिक-मनोविज्ञान प्रथम हमें उच्चतर की निम्नतर से व्याख्या करने के भौतिकवाद, और तत्पश्चात् समाज को अनुकरण के परिणाम के रूप में और उसके नागरिकों में मनमाने सुझाव का सम्मोहित परिणाम देखने के विवेकशून्यता (irrationalism) की ओर ले जाता है।

यद्यपि बैजहट ने अपनी पुस्तक का नाम 'फ़िज़िक्स एन्ड पॉलिटिक्स' और उपनाम 'प्राकृतिक चयन और वंशानुगत-प्राप्ति के सिद्धान्तों के राजनीतिक समाज पर अनुप्रयोग करने के बारे में विचार' रखा है, उसकी पुस्तक का विषय 'मानस-ज्ञान' (psychics) है न कि भौतिक विज्ञान, और उसके विचार

मुख्यतः अनुकरण के सिद्धान्त के राजनीति पर अनुप्रयोग से सम्बन्धित हैं। उसकी पुस्तक यथार्थ में मनोवैज्ञानिक पद्धति का आरंभ करती है; उसमें मनोवैज्ञानिक सादृश्य के प्रयोग के द्वारा इतिहास-पूर्व काल के ज्ञान की सुन्दर कल्पनात्मक पुनर्प्राप्ति हुई है। उसका कथन है कि एक आरंभिक समाज को दृढ़ता प्राप्त करने के लिए सहज क्रिया के—जो कि परंपराओं की उपज है—एक बड़े क्षेत्र का निर्माण करना पड़ता है, उसी प्रकार जैसे बाद के किसी समाज को प्रगति करने के लिए इस क्षेत्र से अपना सम्बन्ध तोड़ लेना पड़ता है। दोनों प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में उसकी व्यवस्था मूलतः मनोवैज्ञानिक है। यह सत्य है कि वह कभी-कभी परंपरा के स्थायित्व का एक ऐसा कारण बताने लगता है जिस पर अब विश्वास नहीं किया जाता—यह हैं अर्जित शक्तियों (acquired faculties) की 'वंशानुक्रम से प्राप्ति'। यह सत्य है कि आरंभिक युद्ध के 'प्राकृतिक चयन' को इस बात की व्याख्या के लिए काम में लाया जाता है कि किस कारण आरम्भिक समाजों को अपने जीवन को विनष्ट न होने देने के लिए अपनी रूढ़ि का निर्माण और संरक्षण करना चाहिए। परन्तु उसकी पुस्तक का अधिक बड़ा और मूल्यवान् तत्व उसका देदीप्यमान मनोवैज्ञानिक तत्त्व है; और वस्तुतः वह परंपरा के निर्माण और स्थायी रूप लेने का का कारण अनुकरण की मनोवैज्ञानिक शक्ति को बताता है। टार्डे के 'ले लॉइ डे ले इमीटेशन' (Les lois de l' Imitation) के वर्षों पूर्व बैजहट टार्डेवादी था। वह यह दिखलाने के लिए कि किस प्रकार चरित्र की एक शैली या प्रकार का जो कि 'भाग्यवश प्रधानता' प्राप्त कर लेती है, किस प्रकार अनुकरण किया जाता है जब कि उसकी विरोधी शैलियों या प्रकारों का समान रूप से तब तक दमन किया जाता है जब तक कि वह सामान्य स्वभाव अथवा समाज की आनुवंशिक नियमावली नहीं बन जातीं, 'दि टाइम्स' के सम्पादकीयों और छात्रावासीय विद्यालयों की आदतों से समान रूप से लिए गए सादृश्यों का प्रयोग करता है। यदि युद्ध में सफलता की इच्छा परंपरा-प्रधान समाजों (customary societies) की प्रेरक शक्ति होती है तो अनुकरण सदैव उनकी परिवर्तनकारी शक्ति (moulding force) होता है। मनुष्यों को सफलता प्राप्त करने के लिए सफल प्ररूप का अनुकरण करना होता है, परंतु

किसी भी प्रकार वे उसका अनुकरण करेंगे। वस्तुतः अनुकरण रोकना और इस प्रकार प्रगति को संभव बनाना ही महान् कठिनाई है। अनुकरण सार्वभौमिक है; वाद-विवाद कुछ समाजों तक सीमित है; और यही कारण है कि प्रगति विश्व के एक छोटे से क्षेत्र तक ही सीमित है। उन समाजों के लिए जिनमें वह परिवेष्ठित है, वाद-विवाद बहुत कुछ करता है। इसका अर्थ यह है कि इन समाजों के लिए कोई भी बात इस कारण सत्य नहीं है कि वह रूढ़िगत है अथवा इस कारण सही नहीं है कि वह वर्तमान है। इसका अर्थ यह है कि मत को सहन करने के स्वभाव का विकास हुआ है; और यह कि 'कुछ करने' की मात्र बर्बर प्रेरणा का प्रतिरोध हुआ है और मनुष्य 'कूदने के पहले' देखते हैं और बात करते हैं और इस कारण कम कूदते हैं और इस प्रकार अधिक सफल होते हैं। इस प्रकार बैजहट सैन्य युग—जिसके साथ कड़ा रूढ़िगत सैनिक अनुशासन तथा द्रुत कार्य करने की प्रेरणा संयुक्त है—तथा वाद-विवाद के के युग में—जिसमें मतों को सहन किया जाता है, कार्य को स्थगित किया है और विचार को प्राथमिकता दी जाती है—भेद करता है जो कि स्पेन्सर की याद दिलाता है।

बैजहट के काल से राजनीति पर मनोविज्ञान का अनुप्रयोग फ्रांसीसी लेखकों—सर्वाधिक ख्याति प्राप्त टार्डे, संभवतः सर्वाधिक विद्वान् डर्खीम, सर्वाधिकलोकप्रिय और सर्वाधिक अल्पज्ञ ले बॉन—का मुख्य लक्षण रहा है। इंग्लैंड में दो समकालीन लेखकों ने इस अनुप्रयोग का प्रयत्न किया है—ग्राहम वालाज़ ने अपनी पुस्तक 'ह्यूमन नेचर इन पॉलिटिक्स' (१९०८) में और मैक्डूगल ने अपनी पुस्तक 'सोशल साइकोलॉजी' (१९०८) में। ग्राहम वालाज़ एक प्रकार के अत्यंत दयार्द्र निराशावाद के साथ आधुनिक समाजों के मनोवैज्ञानिक आधारों पर मुस्कराता प्रतीत होता है। 'बुद्धिवादी हेत्वाभास को दूर करो' उसकी प्रथम चेतावनी है; 'राजनीति केवल एक अल्पांश में ही चेतन विवेक की कृति है; यह मुख्यतः स्वभाव और प्रवृत्ति, सुझाव और अनुकरण की अचेतन प्रक्रियाओं का विषय है। दूसरे शब्दों में हमें पीछे के द्वार से ही प्रवेश करना चाहिए: सामने का मार्ग तो कभी-कभी ही खुला रहता है। इस कारण ग्राहम वालाज़ एक संवेदनावादी दर्शन (sensationalist philosophy) से आरंभ करता है,

यद्यपि वह ह्यूम जैसे संवेदनावादियों के विपरीत निरंकुशतावादी राजदर्शन से बच कर निकल जाने में सफल होता है। 'मनुष्य, अन्य पशुओं की भाँति, इन्द्रिय—प्रभावों के अनन्त प्रवाह में जीवनयापन करता है।' यह संवेदनावाद बाद के स्कालेस्टिकों के जैसे नामवाद (nominalism) से संयुक्त कर दिया गया है। जैसा कि हारनैक (Harnack) का कथन है, इन स्कालेस्टिकों ने 'खोखली अमूर्त बातों की तुलना में मूर्त के महत्व को खोज लिया था और इस ज्ञान को उन्होंने अन्युत्तम रीति, से अभिव्यक्त किया था; उदाहरणार्थ मनोविज्ञान में।' इन्द्रिय संवेदनाओं के सतन प्रवाह से हम विशेष बल देने के लिए उसे सामने आने पर ग्रहण करते हैं, जो अपने पूर्व की संवेदना के सदृश होता है, परंतु तभी जब वह भी महत्वपूर्ण होता है अथवा, दूसरे शब्दों में, वह प्रभावों के ऐसे समूह को सुझाता है जिनकी वह सूत्र अथवा कुंजी है। इसी कारण नाम उत्पन्न होते हैं जो सादृश्य बतलाते हैं और साथ ही महत्व रखते हैं—उदाहरणार्थ दलों के नाम लिबरल और कन्ज़र्वेटिव; इसी कारण ही प्रतीक उत्पन्न होते हैं जो श्रव्य होने की अपेक्षा दृश्य ही अधिक होते हैं और बहुमत की जो 'द्रष्टा' (visuaist) की अपेक्षा 'श्रोता' (audile) ही होता है प्रभावित करते हैं, उदाहरणार्थ लाल और नीले दलीय चिन्ह। इन नामों या प्रतीकों के बौद्धिक उद्गम हो सकते हैं; साक्रेटीज़ द्वारा निर्धारित धर्म (justice) का वैसा ही उद्मम था। प्रचलित हो जाने पर, वे बुद्धिजीवियों को बौद्धिक वर्ग के विचारों को सुझा सकते हैं; दार्शनिक के लिए 'मेरा देश' शब्द एक सजीव सामाजिक सावयव की युक्तियुक्त धारणा का अर्थ रख सकते हैं। परंतु हममें से अधिकांश को जो वे सुझाते हैं और स्वाभाविक रीति से सुझाते हैं वह एक उद्वेग (emotion) है—एक उद्वेग उस नाम से स्वभावतया संयुक्त प्रभावों के समूह के अर्थ में। 'देश' और दल ऐसे ही नाम हैं; और इस प्रकार संस्थाएँ उतनी अधिक धारणाएँ नहीं है जितनी वे उद्वेगयुक्त और उद्वेग जाग्रत करने वाले नाम हैं। यहाँ राजनीतिज्ञ की कला को स्थान मिलता है। वह नामों की सृष्टि करता है—उसी प्रकार जैसे मेज़िनी ने जादुई नाम 'इटैलीया' की सृष्टि की थी; और वह उस समय तक जनता की सुझाव ग्रहण करने की सामर्थ्य (suggestibility) का लाभ उठा सकता है जब तक वह नाम को एक महान् उद्वेगात्मक प्रतीक बन

देता है। यहाँ हम आधुनिक निर्वाचनों की मनोवैज्ञानिक सतह पर पहुँच जाते हैं। वे मनोवैज्ञानिक उत्सव (orgies) होते हैं अथवा उनकी प्रवृत्ति वैसा बनने की ओर होती है; वे 'मंत्र-मुग्धि' के प्रयोग होते हैं, दलीय नाम और प्रतीक, दलीय निशान, विज्ञापन और गीत सभी निर्वाचकों की सुझाव ग्रहण करने की सामर्थ्य को लक्षित कर प्रवाहित किए जाते हैं।

'सुझाव' (Suggestion) का वही सिद्धान्त जिसका ग्राहम वालाज़ ने राजनीति पर प्रयोग किया था, शिक्षा-शास्त्र पर भी प्रयुक्त किया गया है; और चेतन अथवा अचेतन रूप में अपने विद्यार्थियों को बौद्धिक और नैतिक पाठ सुझाते हुए शिक्षक की कल्पना की गई है। इसका अर्थशास्त्र पर भी प्रयोग किया गया है, विज्ञापक को हम, उसी प्रकार जैसे हमने शिक्षक की कल्पना की है, एक जादुई नाम के अन्तर्गत अपने द्वारा विज्ञापित सामान के लिए अतिशयोक्तिपूर्ण महत्व का सुझाव देते हुए—यद्यपि ऐसा वह अत्यधिक चेतन रूप में करता है—मान सकते हैं। वस्तुतः राजनीतिक मूल्यों के जादुई नामों के अन्तर्गत विज्ञापन और आर्थिक मूल्यों के विज्ञापन में एक घनिष्ठ सादृश्य स्थापित किया जा सकता है। राजनीति की अनुभूतिमूलक कला मुख्यतः उपचेतन अविवेकशील निष्कर्ष (inference) के इच्छित उपयोग के द्वारा मत के निर्माण का ही नाम है। यदि ऐसा है तो स्पष्टतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या प्रजातंत्र अथवा प्रतिनिधित्व का कोई कारण अथवा उसके बारे में कोई आशा हो सकती है। क्यों न हम सर्वाधिक बुद्धिमानों को जनता की सुझाव-योग्यता का अधिकाधिक उपयोग करने की छूट दे दें। ग्राहम वालाज़ का उत्तर है कि सर्वाधिक बुद्धिमान स्वयं ही सुझाव के शिकार होते हैं: क्योंकि 'बिना सहमति के शासन एक जटिल और कुरूप प्रक्रिया होती है'; और सर्वाधिक इस कारण कि अधिक कड़े निर्वाचन नियम औह शिक्षा का अधिक प्रसार अधिक माधुर्य और प्रकाश उत्पन्न कर सकता है। इसके अतिरिक्त नामों की इस संकेत शीलता (suggestiveness) को भी किसी प्रकार अच्छाई में परिणति हो सकती है; और वालाज़ ने अंतिम अध्याय में उस काल के बारे में कल्पना की है जब मानवता शब्द उद्वेग से युक्त हो जाएगा और 'हमारी प्रजाति के सम्पूर्ण अस्तित्व का विचार' 'यूनानी नगरों के दृश्यमान मंदिरों और प्राचीरों' जैसा ही उद्वेगात्मक प्रभाव उत्पन्न करेगा।

यह एक ऐसी पुस्तक की जो कि स्वयं ही अत्यधिक 'सुझाव देने वाली' है, संक्षिप्त तथा आंशिक—और संभवत: एकपक्षीय भी रूप—रेखा मात्र है। इसकी कई प्रकार से आलोचना की जा सकती है। इसके संवेदनात्मक आधारों के बारे में कुछ कहा जा सकता है; कुछ इसके नामवादी (nominalist) दर्शन के बारे में, कुछ उच्चतर की निम्नतर की पदावली में व्याख्या करने की उस प्रवृत्ति के बारे में जो सभ्य जीवन का स्पष्टीकरण प्रागैतिहासिक कालों में जीवन की दशाओं के द्वारा करने की ओर ले जाती है और पुनः-पुनः मनुष्य को 'अन्य जीवों' के साथ संयुक्त करती है। हम यह कह सकते हैं कि विवेक चेतन निष्कर्ष (Conscious inference) न होने पर भी विवेक ही है और राजनीतिक समाज को इस कारण विवेकशून्य बताना कि वह चेतन विवेक का स्पष्ट संगठन नहीं है, हेत्वाभास (fallacy) ही है। परंतु आलोचना करने के स्थान पर उन सत्यों पर बल देना अधिक उत्तम होगा जिनका ग्राहम वालाज़ ने संकेत दिया है। पहली बात यह है कि उसने सहज क्रिया (reflex action) के उस स्वाभाविक क्षेत्र—आदत और प्रवृत्ति, सुझाव और अनुकरण—का विश्लेषण किया है, जो वर्तमान है और जिसका विश्लेषण आवश्यक है, यद्यपि वह, जैसा कि हमने पहले देखा है, एक ऐसी बुद्धि के साथ संयुक्त रूप में अथवा उसके अधीन रूप में विद्यमान है जो अपनी स्वतंत्रता नहीं खोती, वरन् इस प्रकार के संयोजन और सेवा के द्वारा जो उस विशुद्धता को सुनिश्चित करती है जो उसकी स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है। उसने यह दिखाया है कि इस स्वाभाविक क्षेत्र की अपनी कठिनाइयाँ हैं और साथ ही अपने लाभ हैं—यदि इसे सावधानीपूर्वक नियंत्रित न किया जाय तो यह उस बुद्धि पर हावी हो सकता है जिसके अधीन यह कार्य करता है। वालाज़ ने यह संकेत दिया है कि यदि हम मन के कार्यकरण की संपूर्णता को समझना चाहते हैं, तो हमें उसे एक यांत्रिक सिद्धांत मात्र नहीं बना देना चाहिए; हमें उसे बेन्थम के अनुयायियों की भाँति एक गणना-यंत्र नहीं मान लेना चाहिए जो सुखों और दुखों के एकमेव मानदंड पर समस्त मनुष्यों के लिए एक ही रीति से कार्य करता है। हमें 'मानवीय प्ररूप' (human type) में मन को उसकी सम्पूर्णता में देखना चाहिए। हमें 'प्ररूप' से अगणित रूपांतरों में उसकी विभिन्नता को देखना चाहिए। और इसके

लिए हमें सांख्यकी (statistics) की संख्यात्मक पद्धति का प्रयोग करना चाहिए। इस अंतिम बात के बारे में वस्तुतः यह तर्क दिया जा सकता है कि ग्राहम वालाज़ राजदर्शन से व्यावहारिक राजनयज्ञ की राजनीतिक कला की ओर अग्रसर हो रहे हैं और यह कि यदि व्यवहार को रूपांतरों को ध्यान में रखना होता है तो दर्शन 'विशुद्ध' उदाहरण का अध्ययन करता है।

परन्तु कम से कम 'प्ररूप' (type) की संपूर्णता को स्वीकार किया जाना तो आवश्यक ही है; और इस बात को मैक्डूगल 'सोशल साइकोलॉजी' में ज़ोरदार शब्दों में सामने लाता है। मनोविज्ञान की परिभाषा का विस्तार करते हुए और उसे व्यवहार अथवा आचरण का गतिशील विज्ञान न कि चेतना की स्थितियों का गतिहीन शास्त्र बनाते हुए जो क्रियारत चेतना के प्रश्न पर विचार करता है, वह भी यही कहता है कि आर्थिक दर्शन की भाँति ही राजदर्शन को भी, यदि उसे मन और उसके कार्यकरण की एक ऐसी धारणा सामने रखनी है जो लाभकर होने के लिए पूर्ण और पर्याप्त यथार्थ हो तो उसे मनोविज्ञान की सहायता की आवश्यकता है। कठिनाई यह है कि मैक्डूगल ने समाज में कार्य करने वाली प्रवृत्तियों के प्रजनन का पूर्ण ब्यौरा तो दिया है, परंतु यह कठिनाई से ही दिखाया है कि वे समाज में किस प्रकार प्रवाहित होती हैं। वह एक ऐसी यात्रा के लिए जिसे वह कभी आरंभ नहीं करता बहुत अधिक तैयारी करता सा प्रतीत होता है। बुद्धिवादी पर्याप्त तैयारी चाहे न करें, परंतु वे यात्रा करते हैं और यहाँ तक कि राज्य का पर्याप्त परीक्षण भी कर लेते हैं।

× × ×

सामाजिक मनोविज्ञान हमें समाजशास्त्र के निकट पहुँचा देता है। स्थूल रूप से, समाजशास्त्र जीवशास्त्र और सामाजिक मनोविज्ञान के संश्लेषण का प्रयत्न करता है यद्यपि वह अन्य अध्ययनों यथा मानवोत्पत्तिशास्त्र, यहाँ तक कि न्याय शास्त्र और अर्थशास्त्र से भी सम्बन्धित है। वस्तुतः वह एक अति विस्तृत अध्ययन है; वह अपने साम्राज्य में सामाजिक विज्ञानों के पूर्ण महाद्वीप को सम्मिलित कर लेने का प्रयत्न करता है। कॉम्टे उसके नाम का जनक था; और इस नाम को जो अर्थ वह देना चाहता था: वह था 'सामाजिक भौतिकशास्त्र'

का—अर्थात् समाज के प्राकृतिक कारणों और प्राकृतिक नियमों का सकारात्मक अध्ययन (सकारात्मक धार्मिक अथवा तत्वज्ञानिक पूर्वधारणाओं से विच्छिन्न होने के अर्थ में) स्पेन्सर इस शब्द का प्रयोग और इस विषय का अध्ययन करने वाला दूसरा व्यक्ति था। कॉम्टे की भाँति समाजशास्त्र सम्बन्धी इस धारणा से आरम्भ करते हुए कि वह सामाजिक भौतिक-शास्त्र अथवा 'स्थिति विज्ञान' का ही एक वर्ग है, वह एक अगले दृष्टिकोण तक पहुँचता है जो इसे सामाजिक जीवशास्त्र का विषय बना देता है, और उसके आगे एक और बाद के दृष्टिकोण तक जो समाजशास्त्र को सामाजिक मनोविज्ञान के अध्ययन का रूप दे देता है। परन्तु पूर्ण रूप में हम गिडिंग्ज की भाँति कह सकते हैं कि स्पेन्सर का समाजशास्त्र......उसके द्वारा जीवशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक सामग्री के व्यापक प्रयोग के होने पर भी, पर्याप्त सीमा तक समाज का एक भौतिक दर्शन है। इस प्रकार उसका स्वरूप कॉम्टे के समाजशास्त्र जैसा है परन्तु यह काम्टेवाद से कई महत्वपूर्ण बातों में भिन्न है। इसका व्यावहारिक परिणाम समाज का वैज्ञानिक विनियमन नहीं है, वरन् इस प्रकार के विनियमन का बिल्कुल विपरीत है। इस कारण कि विधियाँ हैं और इन विधियों के कार्यकरण के बारे में विश्वास किया जा सकता है, स्पेन्सर का विचार है कि राजनयज्ञ (statesman) को उन्हें स्वतंत्र छोड़ देना चाहिये। पुनः, कॉम्टे समाजशास्त्र को मानवीय क्रिया का एकमेव विज्ञान मानता था। समाज के जीवन को एक सावयवी रूप में अन्योन्याश्रित समष्टि मानने के कारण उसने राजनीतिक अर्थशास्त्र जैसे भावी विशिष्ट अथवा विभागीय विज्ञानों को निष्कासित कर दिया था। स्पेन्सर समाजशास्त्र को एक एकसूत्रता लाने वाला विज्ञान मानने और ऐसे पृथक विज्ञानों के लिए जिन्हें यह एकसूत्रता प्रदान करता है स्थान छोड़ने को प्रस्तुत है। यह महान् संश्लेषणात्मक दर्शन के अन्तर्गत एक संश्लेषण है : यह समन्वयित विज्ञानों के एक महान् विभाग पर विकास के सार्वभौमिक सत्य का विशिष्ट अनुप्रयोग है। यह विभाग अध्ययन का पृथक विषय बन जाता है क्योंकि इस पर इस प्रकार का अनुप्रयोग किया जा सकता है।

गिडिंग्ज, जिसे हम आधुनिक समाजशास्त्र का एक प्रतिनिधि मान सकते

है, के अनुसार ('सोशियालॉजी', १८६६) विज्ञान को मनुष्य की संरचना के आत्मगत और वस्तुगत दोनो पक्षों पर बल देना चाहिये। इसे सामाजिक इच्छा-शक्ति (social volition) तथा शारीरिक विकास दोनो का अध्ययन करना चाहिए। इसे अपने क्षेत्र में सामाजिक मनोविज्ञान तथा सामाजिक जीवशास्त्र दोनो को लेना चाहिये। गिडिंग्ज यह अनुभव करता है कि विज्ञान की कमजोरी मनोविज्ञान-विभाग में है। जीवशास्त्र समाजशास्त्र को एक सिद्धांत—विकास का सिद्धांत—प्रदान करता है। मनोविज्ञान की प्रवृत्ति मनुष्य को उसके सामाजिक सम्बन्धो में प्रेरणा देने वाले समस्त प्रेरकों के टुच्कर उल्लेख के अतिरिक्त अन्य कुछ न प्रदान करने की रही है। आवश्यकता एक सिद्धांत की है; और गिडिंग्ज, टार्डे के सामान्यीकरणों का अनुकरण परन्तु विस्तार करते हुए, मौलिक और प्रारम्भिक आत्मगत तथ्य को 'प्रकार की चेतना' (consciousness of kind) में पाता है। इस प्रकार समाजशास्त्र को विकास के दो सिद्धान्तो के कार्यकरण तथा मानवीय समाजों में प्रकार चेतना के कार्यकरण को खोजना तथा सम्बन्धित करना पड़ता है। वह जीवशास्त्र और मनोविज्ञान के उन भागों को लेता है जो मनुष्यों के समाजों से सम्बन्धित है; और वह अपने आप को, इस सामग्री को मानवीय समाजो के तथ्यो से सहसम्बन्धित कर, एक विज्ञान का रूप दे देता है। इस प्रकार विचारने पर यह राजनीतिक दर्शन से जो केवल उसके विभागों में से एक है, अधिक व्यापक है। राजनीतिक दर्शन केवल राजनीतिक संवासों पर जो एक संविधान के द्वारा एकीकृत हैं और एक शासन के अधीन कार्य कर रहे हैं, विचार करता है; समाजशास्त्र समस्त संवासों पर विचार करता है। राजनीतिक दर्शन इस बात को आधार-तथ्य मानता है कि मनुष्य एक राजनीतिक जीव है; यह इस बात की व्याख्या नहीं करता, जिसे करने का समाजशास्त्र प्रयत्न करता है, कि वह किस प्रकार एक राजनीतिक प्राणी बना।

एक राजनीतिक विचारक इस सम्बन्ध को उल्टा करने का प्रयत्न कर सकता है। वह यह दावा कर सकता है कि वह उच्चतम और विशिष्टतम संवास को अध्ययन के लिए चुनता है और ऐसा करने में वह उसके अन्य संवासों से सम्बन्ध को कभी नहीं भूलता। वह यह कह सकता है कि यदि

समाजशास्त्रियों का विषय व्युत्पत्ति है तो उसका विषय कारण और मूल्य की अधिक गहन समस्याएँ हैं। परन्तु यदि समाजशास्त्र उत्तम परिणाम प्रस्तुत करता है तो नामों और अध्ययन की सीमा रेखाओं के बारे में झगड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। और यदि वह जिन रेखाओं पर चलता प्रतीत होता है उन्हीं का अनुकरण करता रहता है तो वह अच्छे परिणाम प्रस्तुत करेगा यही संभावना है। समाजशास्त्री आदतों, प्रवृत्तियों, संवेगो से आरंभ करेगा परन्तु किसी भी दशा में वह संवास को बौद्धिक कारण पर आधारित मानने वाली धारणा पर ही समाप्त करगा। राजनीतिक विचारक दूसरे सिरे से यानी विवेकशील संवास से आरंभ करता है; परन्तु वह यह स्वीकार करता है कि प्रवृत्ति का उप-विवेकशील क्षेत्र वर्तमान है और उसका ध्यान रखा जाना चाहिए। दोनों पद्धतियों का अंतर गम्भीर नहीं है।

टिप्पणी—जगह के अभाव के कारण संतति-शास्त्र (Eugenics) विषय का परीक्षण नहीं किया जा सका है। इस विषय पर तथा वस्तुतः जीव-शास्त्र के राजनीति शास्त्र से संबंध पर सामान्य रूप से पाठकों को डब्ल्यू. बेट्सन (W. Bateson) की पुस्तिका 'बायोलाजिकल फ़ैक्ट एंड दि स्ट्रक्चर ऑव सोसाइटी' के तीस संसृष्ठ पृष्ठ पढ़ना चाहिए। विशेष रूप से महत्वपूर्ण वे पृष्ठ (२४-३४) हैं जिनमें बेट्सन ने सामाजिक सावयव की जीवशास्त्रीय धारणा को स्वीकार करते हुए उसके समाजवाद और प्रजातंत्र के आदर्शों पर प्रभाव की विवेचना की है। वह तर्क देता है कि इस धारणा की यह माँग है कि समाज ऐसे स्थायी वर्गों का संयुक्त रूप हो जो अपने कृत्यों के बारे में संतुष्ट हों। इस दृष्टिकोण का प्लेटो की शिक्षा के साथ और जैसा कि बेट्सन हमें बताता है, 'एस्टेट्स' की मध्ययुगीन कल्पना से इसका सान्निध्य है। यह जनतंत्र की आलोचना और समाजवाद के प्रति अपेक्षाकृत अनुकूल दृष्टिकोण में प्रवाहित होता है—जो कि ऐसे आदर्श हैं जिन्हें असंगत बताया जाता है। दूसरी ओर, बेट्सन समाजवाद की भी इस आधार पर आलोचना करता है कि यह उन असमान्य रूपान्तरों अथवा 'पारिवर्तनिक नवीनताओं' (mutational novelties) के उदित होने में बाधक होगा जो समाज की प्रगति के लिए आवश्यक हैं।

अध्याय ६

विधिवेत्तागण

(The Lawyers)

सन् १८५६ में डार्विन की पुस्तक 'ओरिजिन ऑव स्पेसीज़' प्रकाशित हुई और सन् १८६१ में सर हेनरी मेन की 'ऐंशेंट लॉ'। हमें इससे सह-स्थिति के के अतिरिक्त अन्य किसी बात की संभावना करने की आवश्यकता नहीं है; परन्तु कम से कम डार्विन के द्वारा जीवशास्त्र पर इतिहास के अनुप्रयोग और मेन के विधि पर इतिहास के अनुप्रयोग इन दोनों की सह-स्थिति पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है। मेन ने इस संबंध को देखा और अपने जीवन के उत्तर भाग में उसने डार्विन के शस्त्रागार से नवीन शस्त्र ग्रहण करने का द्रुत प्रयत्न किया। अपनी पुस्तक 'अर्ली लॉ ऐंड कस्टम' में वह आरंभिक समाज की उत्पत्ति के पैतृक सिद्धान्त के समर्थन के लिए डार्विन का उल्लेख करता है।' पॉपुलर गवर्नमेंट, में वह इस बात को प्रजातंत्र के विरोध अभियोग का अंग बना लेता है कि स्पष्टतः बहुसंख्यक जनता जीवन-संघर्ष के सिद्धान्त को—'उस उपकारी व्यक्तिगत युद्ध को जो हर व्यक्ति को किसी दूसरे के ऊपर स्थान प्राप्त करने का प्रयत्न करने और उपयुक्ततम की जीवन-विजय के नियम के द्वारा वहाँ आसीन रहने को प्रेरित करना है'—नहीं पसंद करती। अंततः अभिजात्यवर्गों के लिए तथा विशेष रूप से इंग्लैंड के द्वितीय सदन के लिए उसका अनुकूल भाव मानसिक गुणों के आनुवंशिक हस्तांतरण के विश्वास पर—चाहे यह विश्वास डार्विन की देन हो या लेमार्क की—आश्रित है।

परंतु मेन की ऐतिहासिक पद्धति की अपने क्षेत्र में एक निश्चित परंपरा है। मान्टेस्क्यू द्वारा 'एस्प्रिट डि ल्वाइ' (Espirit des Lois, १७४८) में किए गए अग्रगामी कार्य को विस्मृत न करते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि यह पद्धति फ्रांसीसी क्रांति की शिशु है—ऐसा शिशु, जैसे कि बालक प्रायः होते हैं, जो

अपने जनकों की रीतियों की सशक्त प्रतिक्रिया के रूप में था। प्राकृतिक अधिकारों के क्रांतिकारी दावे और समाज की आदर्श व्यवस्था के ऐसे क्रांतिकारी विश्वास को जो कि हर समय और काल के लिए सत्य हो, चिन्तन के प्राकृतिक विकास में जमी हुई और निहित रूढ़ि के स्थान के दावे और वातावरण तथा सापेक्षता के सिद्धान्तों में विश्वास में परिणति होना आवश्यक था। पद्धति की अपेक्षा एक भावना के रूप में अधिक, यह प्रवृत्ति बर्क के गरिमामय रोमाँसवाद (romanticism) में पहले ही प्रकट हुई थी। इसने महाद्वीपीय योरोप के 'रोमांटिक' साहित्य को प्रेरणा प्रदान की तथा सन् १८१५ के बाद की राजनीति की गति में इसकी गंध आती है। फ्रांस में यह चैट्यूब्रियाँ (Chatteaubriand) और मांटेलेम्बर्ट (Montalambert), डी मैस्ट्रे (De Maistre), और लेमेनाइस (Lammenais) के द्वारा की गई कैथोलिक मत की प्रशंसा और उनके मध्ययुगीन तत्व का आधार रही है। और यह विचित्र रीतियों से सेंट साइमन, जो कि एक साथ ही मध्ययुगीन और स्वप्नलोकीय था, तथा आगस्टे कॉम्टे, जो प्रारंभिक वर्षों में सेंट साइमन का शिष्य था और बाद के वर्षों में भी उसके शिष्यत्व के लक्षणों से युक्त था, दोनों की शिक्षाओं में प्रकाश में आती है यहाँ तक कि उसकी स्वयं की 'पाज़िटिविज्म' की शिक्षा, वह रोमांसहीन भले ही प्रतीत हो, काँम्टे की विचारधारा को इतिहास-प्रेम की विचार धारा की दिशा में आगे ले जाती है। यदि हमें धार्मिक और तत्वज्ञान् संबंधी पूर्वकल्पनाओं को छोड़ना, और यदि वस्तुओं को उसी रूप में ग्रहण करना, जैसी वे हैं, आवश्यक है, तो यह परिणाम निकलता है कि हमें प्राकृतिक अधिकारों को परित्याग कर देना चाहिए और हमें इतिहास को उसी रूप में ग्रहण करना आवश्यक है जैसा हम उसे पाते हैं। हमें ऐतिहासिक तथ्यों के प्रत्येक समूह को स्वीकार कर लेना चाहिए; हमें प्रत्येक समूह को उसके अनुवर्ती तथ्यों के समूह से संयुक्त कर और उसकी अपनी सामाजिक अस्तित्व की विशिष्ट अवस्था में निहित दशाओं से निकाल कर, उसे नियमितता अथवा वैज्ञानिक नियम के क्षेत्र में लाने के अर्थ में, उसकी व्याख्या करनी चाहिए। इस प्रक्रिया में हम आवश्यक रूप से सापेक्षता और वातावरण को उचित महत्व देंगे; दूसरे शब्दों में, हम यह मान लेंगे कि प्रत्येक सामाजिक अवस्था उतनी ही पूर्ण है

जितनी पूर्ण होने की वे दशाएँ और वातावरण, जिनकी वह उपज है, उसे अनुमति देंगे। यह चिन्तन की एक ऐसी रेखा है जिस पर मिल स्वयं, चाहे ऐसा कॉम्टे के प्रभावन्तर्गत हो अथवा कॉलरिज के, चलने के लिए प्रस्तुत था। वह अपनी पुस्तक 'लॉजिक' में लिखता है कि समाज के सामान्य विज्ञान की मूल समस्या 'उन नियमों को खोजना है जिनके अनुसार समाज की कोई अवस्था उस राज्य को प्रस्तुत करती है जो उसका उत्तराधिकारी बनता है और उसका स्थान लेता है।'[१]

परंतु ऐतिहासिक पद्धति, जिस रूप में वह मेन के द्वारा प्रस्तुत की गई है, सर्वाधिक प्रेरणा जर्मनी से ही ग्रहण करती है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से यह पद्धति जर्मनी में निश्चित रूप से प्रयोग में लाई जाने लगी थी और यह विधि (law) के ही क्षेत्र में प्रयुक्त की गई थी जिसमें बाद में मेन ने उसे प्रयुक्त किया है। जबकि फ्रांस में ऐतिहासिक भावना प्रतिक्रिया से संयुक्त रही थी और उसका आदर्श वाक्य 'मध्य युग को वापस चलो' रहा था (एक ऐसा आदर्शवाक्य जो भिन्न-भिन्न रूपों में सदैव प्रचलित होता रहा है—कभी भक्तिपूर्ण पोपवाद के रूप में और कभी गिल्ड समाजवाद के रूप में), जर्मनी में यह भावना देशभक्ति के साथ संयुक्त रही थी और इसका आदर्शवाक्य 'ऐतिहासिक राष्ट्र और उसकी ऐतिहासिक विधि' रहा था। इकार्न (Eichhorn) ने विधि सम्बन्धी ऐतिहासिक दृष्टिकोण की रीति को प्रचलित किया। सेवाइनी (Savigny) ने उसकी शिक्षा को आगे बढ़ाया। उसने हमें यह बताया कि 'विधि' जनाधिकार (folk-right) का अवयव है; यह जन-जीवन की अन्य समस्त अभिव्यक्तियों की भाँति ही बढ़ती और विकसित होती है; इसका

---

१ कॉम्टे का मत कि औद्योगिक शासन उसी प्रकार सैनिक शासन का स्थान लेता है जैसे 'सकारात्मक' चिन्तन आध्यात्मिक चिन्तन का महत्वपूर्ण है। संभवतः सेंट साइमन से ग्रहण किए जाने के कारण यह स्पेन्सर के द्वारा औद्योगिक और सैनिक समाज के बीच और मेन द्वारा अनुबन्ध और जन्मजात स्थिति के बीच खड़े किए गए विरोध को प्रभावित करता है और कम से कम उससे सादृश्य तो रखता ही है।

निर्माण परम्परा और जन-भावना के द्वारा, मौन शक्तियो के कार्यकरण के माध्यम से—न कि किसी विधायक के मनमानी इच्छा से, होता है।

इस दृष्टि से लिखते समय सेवाइनी एक नवीन जर्मन संहिता (German code) के विचार का विरोध कर रहा था। 'ऐंशेंट लॉ' में इसी जैसी दृष्टि से लिखते समय मेन एक साथ ही ऐसे दो सम्प्रदायों का विरोध कर रहा था जो स्वयं एक दूसरे के विरोधी थे—ये थे रूसो और बेन्थम के सम्प्रदाय। उसने अपने शस्त्रों की दिशा मूल सिद्धान्तो की ओर कर दी थी—चाहे वह 'सामान्य इच्छा' के हों या 'सर्वाधिक सुख' के। और मानव समाज के अंतिम कारणों की निगमनात्मक पूर्वकल्पना (a prioti assumption) का परित्याग कर, विधि की ऐतिहासिक सामग्री के प्रकाश में सामाजिक घटनाओं के बारे में एक यथार्थवादी दृष्टिकोण का अनुसरण करने का उसका दृढ़ निश्चय था। वह समाज का उसकी वैधानिक संरचना की दृष्टि से विश्लेषण करना चाहता था; वह ऐसी पद्धति का प्रयोग करना चाहती था जो एक साथ ही, विकास के क्रम के अनुसार व्यवस्थित क्रमागत सामग्री पर आधारित होने के अर्थ में ऐतिहासिक, तथा विकास की एक ही अवस्था में जीवन यापन करते हुए विभिन्न स्थानों की जनता के रिवाज़ो से निकाले गए निष्कर्ष होने के अर्थ में तुलनात्मक हो। मेन की पद्धति का महत्व उसके विकास के विचार के पूर्ण ज्ञान—उसके पीढ़ियों के बारे में इस गहन भाव कि वे एक दूसरे से स्वाभाविक धर्मनिष्ठा के द्वारा जुड़ी हुई हैं—में निहित है।

जैसा कि सर फ्रेडरिक पोलक का कथन है, यदि विकास का सिद्धान्त प्राकृतिक तथ्यो पर ऐतिहासिक पद्धति के अनुप्रयोग के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, तो ऐतिहासिक पद्धति, जैसा कि उसी ने बाद में कहा है, मानवीय संस्थाओं पर विकास के सिद्धान्त का अनुप्रयोग ही है। ऐसे अनुप्रयोग का—यदि वह इस पुराने पाठ को कि संविधान कवियों की भाँति है (nascuntur non fiunt) सशक्त बनाता है, जो कि उसे करना चाहिए; यदि वह इस पुरानी चेतावनी को कि वर्तमान की जड़ें सूदूर भूत में जमी रहती हैं, दुहराता है, जैसा कि उसे करना चाहिए—अपना ठीक-ठीक औचित्य है।

इसकी अपनी सीमाएँ भी हैं। पहली बात यह है कि यह कहना कठिन

है कि मानवीय विकास की कोई एक रेखा है। उसकी कई रेखाएँ हैं—कुछ वह जो यकायक रुक जाती हैं, कुछ वह जो पीछे को मुड़ जाती है, और कुछ वह जो एक दूसरे को काटती हैं; और इनकी चौड़े राजमार्ग की अपेक्षा एक विस्तृत सार्वजनिक स्थल पर फैले पथों के जाल के रूप में कल्पना करना अधिक उचित होगा। मेन का अपना राजमार्ग जन्म-जात स्थिति (status) से अनुबन्ध (contract) की ओर जाता है। मनुष्य उन स्थितियो से आरंभ करते हैं जो उनकी उस समूह की सदस्यता के द्वारा अनिवार्य रूप से निर्धारित होती है, जिनमें वे अपने को पाते हैं; उनका लक्ष्य वे स्थितियाँ हैं जो उनके द्वारा स्वीकृत अनुबन्ध के द्वारा स्वतंत्रतापूर्वक निर्धारित होती है। यह मान लेने पर भी कि सन् १८६१ में जब प्रतिस्पर्द्धा और स्वतंत्र अनुबन्ध की धूम थी, अनुबन्ध की ओर ले जाने वाली प्रक्रिया स्पष्ट प्रतीत होती थी, आज वह उतनी ही स्पष्ट नहीं है। और न ही मेन की जन्मजात-स्थिति से आरंभ होने वाली प्रक्रिया, जो कि इस धारणा के साथ संयुक्त है कि संगठित समाज का आरंभ पैतृक परिवारिक-समूह (Patriarchal family group) से हुआ, एक ऐसी प्रक्रिया है जिसे हम सार्वभौमिक मान लें। परन्तु यदि ऐतिहासिक नियम निश्चित और सार्वदेशिक भी हों, तो भी उनके महत्व की एक सीमा है जिसे मेन सदैव स्वीकार नहीं करता। इतिहास 'स्फिंक्स' की पहेलियों को हल नहीं कर सकता। वह एक प्रक्रिया को खोज निकल सकता है; वह परिणाम के महत्व का मूल्यांकन नहीं कर सकता। यह कितना ही गरिमामय हो, इतिहास ही रहता है। वह इसी बात का लेखा होता है कि क्या था और वह वैसा क्यों हुआ। वह क्या होना चाहिए इस बात की दृष्टि अथवा ऐसा क्यों होना चाहिए इस बात की व्याख्या तक नहीं पहुँच सकता, यद्यपि वह उसकी प्राप्ति में दार्शनिक की, मानवीय आदर्शों का एक सर्वेक्षण तथा उन संस्थाओं की जिनके द्वारा मनुष्यों ने उन आदर्शों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है एक रूपरेखा प्रदान कर, सहायता कर सकता है। यदि यह सत्य है तो इसका यह अर्थ निकलता है कि यह कहना कि इतिहास तथा ऐतिहासिक पद्धति इसका खंडन करती है, राज्य के अस्तित्व के कारण तथा उसके महत्व की दार्शनिक व्याख्या, ऐसी व्याख्या जैसी रूसो ने की है, का कोई उत्तर नहीं है।

मेन यह कह कर कि 'इतिहास दिखलाता है' कि समाज वैयक्तिक अधिकारों से नहीं वरन् समूह-गत स्थिति से और स्वतंत्र अनुबन्धों से नहीं वरन् पैतृक शक्ति से आरंभ हुआ, प्राकृतिक अधिकारों और सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त को असत्य सिद्ध नहीं कर देता। 'इतिहास' चरम प्रश्नों के बारे में यदि कुछ 'दिखलाता है' तो बहुत कम; और किसी भी दशा में प्राकृतिक अधिकार और सामाजिक अनुबन्ध के प्रतिपादक ऐतिहासिक उद्गम के बारे में चिन्तित न थे। वे राजनीतिक समाज की क्रमागत पूर्वघटनाओं के बारे में नहीं, वरन् तर्कपूर्ण पूर्वधारणाओं के बारे में विचार कर रहे थे। उनका आशय था कि वे समाज की व्याख्या तभी कर सकते हैं जब वे वैयक्तिक अधिकारों से युक्त अनुबन्ध करने वाले व्यक्तियों को मान कर चलें—वैसे ही जैसे हम में से अधिकांश यह कहेंगे कि हम मानवीय जीवन के सम्पूर्ण जगत की तभी व्याख्या कर सकते हैं जब हम एक ईश्वर की पूर्वकल्पना से आरंभ करें। यदि इतिहासवेत्ता ऐसी आदिम जातियों के हजार दृष्टांत एकत्र कर लें जो ईश्वर को नहीं जानते थे तो भी यह बाद वाली पूर्वधारणा असत्य नहीं हो जायगी। इसी प्रकार प्रथम पूर्वधारणा आदिम पैतृक शक्ति के हजार दृष्टांतों से भी असत्य नहीं हो जाती। वह केवल इसी बात के प्रमाण से असत्य हो सकती है कि या तो यह उस बात को व्याख्या नहीं कर पाती जिसकी यह व्याख्या करना चाहती है, अथवा यह कि इसकी किसी अन्य प्रकार से व्याख्या की जा सकती है और ऐसा प्रमाण, चाहे उसे उपस्थित करना वैसे संभव हो, इतिहास से उपलब्ध करना संभव नहीं है।

यदि हम 'पॉपुलर गवर्नमेंट' की ओर ध्यान देते हैं तो हमें ऐतिहासिक पद्धति की चरम परिणति बहुत कुछ विषादपूर्ण रूढ़िवाद (Conservatism) में होती दिखाई देती है। डाइसी का कथन है कि यह केवल आकस्मिक घटना मात्र नहीं है कि मेन, जिसने 'ऐन्शेंट ला' में विश्लेषणात्मक न्यायशास्त्र के प्राधिकार पर प्रहार किया था, का 'पॉपुलर गवर्नमेन्ट में' उद्देश्य प्रजातंत्र में बेन्थमवादी विश्वास पर प्रहार करना रहा। इतिहास ने मेन को विकासोन्मुख स्वतंत्रता का को कोई मार्गदर्शक सूत्र प्रदान नहीं किया—वैसा सूत्र जैसा उसने ऐक्टन को प्रदान किया था; और अनुबंध की ओर उन्मुख प्रक्रिया यहाँ स्वतन्त्रता

की ओर उन्मुख प्रक्रिया नहीं प्रतीत होती। इतिहास प्रजातंत्र की असामान्यता और नाशमानता कों ही सिद्ध करता है। मेन के विचारानुसार इतिहास का, जैसा कि हममें से बहुतों को भी प्रतीत होता है, उदार संवेगों को जड़ बनाने का अपना एक मार्ग है। समस्त बातें पहले ही हो चुकी हैं; उनके बारे में पहले अधिक कुछ नहीं हुआ; और उनके बारे में अब अधिक आशा भी नहीं की जा सकती। इस मनोस्थिति को सन् १८४८ के सांविधानिक संकट से उत्पन्न शंकाओं ने—उन शंकाओं ने जिन्होंने मेन के मन में सांविधानिक परिवर्तनों पर किसी अवरोध की आवश्यकता दृढ़तापूर्वक अंकित कर दी—बढ़ावा दिया। संभवतः भारत संबंधी उसके अनुभव और ज्ञान का भी उसे रूढ़िवादी बनाने में कुछ प्रभाव रहा हो। वस्तुतः पिछले पचास वर्षों के राजनीतिक चिन्तन पर भारत में सेवा के प्रभाव तथा भारत में सेवा के द्वारा प्रेरित मानसिक स्वभाव की खोज करना एक रोचक समस्या होगी। सर जेम्स स्टीफ़ेन ने अपनी पुस्तक 'लिबर्टी, ईक्वालिटी, फ्रैटर्निटी' (१८७३) के समर्पण में यह स्वीकार किया है कि उसके 'भारतीय अनुभव ने इस पुस्तक में दिए गए विचारों की सशक्त रूप में पुष्टि की है।' मेन पर भारत का प्रभाव उतना ही विशिष्ट प्रतीत होता है।

परन्तु मेन के रूढ़िवाद का प्रमुख तत्व संभवतः विधिवेत्ता की व्यावसायिक प्रवृत्ति ही है। विधिवेत्ता एक दक्षताहीन विधानमंडल के द्वारा किए जाने वाले वैधानिक परिवर्तनों का सरलतापूर्वक स्वागत नहीं करता। वह अपने व्यवसाय की परम्परागत बुद्धिमत्ता को अधिक श्रेष्ठ मानता है। प्रगति का नकाब ओढ़े रहने वाले परिवर्तन, और परिवर्तन के लिए सर्वाधिक अनुकूल—कम से कम उसके समर्थकों का यही मत है—शासन के रूप प्रजातंत्र के प्रति मेन की विरक्ति का यही गहनतम कारण है। 'पॉपुलर गवर्नमेंट' का सामान्य तर्क एक प्रकार के बौद्धिक बुद्धिवाद-विरोध (intellectual anti-intellectualism) से आरम्भ होता है। रेनाँ (Renan) और टार्डे (Tarde) जैसे फ्रांसीसी लेखकों की भांति यह स्वयंसिद्ध मान कर कि आभिजात्यवर्ग ही समस्त यथार्थ प्रगति का जनक है, और यह विश्वास रखते हुए कि अधिकांश जनता समस्त उपयोगी नवीनता की शत्रु रही है, मेन यह कहता है कि प्रजातंत्र, चाहे अपने सैन्यावस्था (military phase) में वह परिवर्तन का कितना ही प्रेमी क्यों न

हो, अपने विजयोत्तर काल में चीन सरीखे गतिहीन राज्य का रूप ले लेगा। परन्तु यथार्थ में वह इस विजय की आशा नहीं करता। प्रजातंत्र केवल 'शासन का एक रूप' मात्र है (उसके समर्थक उत्तर देंगे कि यह शासन का रूप नहीं है वरन् भावना का एक रूप है, मन की एक ऐसी स्थिति है जो एक बार प्राप्त कर लिए जाने पर कभी विनष्ट नहीं किया जा सकता); और यह एक ऐसा रूप है जिसके संबंध में कोई निर्णय इसके परिणामों की कुशलता के आधार पर किया जाना चाहिए (जिसका उसके समर्थक पुनः यह उत्तर देंगे कि चाहे राजनीति के क्षेत्र में हो या शिक्षा के, भावना के किसी रूप का प्रतिमान 'परिणामों' की कुशलता नहीं वरन् भावना की अपनी शक्ति ही है)। उन परिणामो की दृष्टि से जो इतिहास में सामने आते हैं, प्रजातंत्र नाशमान है। परन्तु अपने कार्यकरण की दृष्टि से, जैसा कि हम उसे आज देखते हैं, यह शासन का एक ऐसा रूप है जो दो बुरी पद्धतियों की सहायता से ही वर्तमान रह सकता है—दल का संगठन जो निर्वाचकों के व्यक्तिगत अथवा वर्गगत नैतिक पतन का कारण बनता है, तथा स्वतंत्रता और समानता जैसी मात्र सामान्य बातों की थोथी सामग्री के द्वारा मन का पोषण। इसकी परिणति अच्छी बातों के सामान्य भंडार के रिक्तीकरण में होने की ही संभावना है। यह रिक्तीकरण समतामूलक पुनर्विभाजन के नाम पर होने वाले बलवों तथा राष्ट्रद्रोह के द्वारा होता है। स्पष्टतः, 'फ्रेशे रॉमुली' की छाया में रहने अंग्रेज़ों के लिए इस गर्त से बचने का उपाय 'ब्रेको' का प्रबंध करना ही है। और मेन संयुक्त राज्य की ओर मुड़ता है और संयुक्त राज्य की भाँति हमारे द्वारा भी, सांविधानिक और वैधानिक परिवर्तन में अंतर है तथा सांविधानिक परिवर्तन के लिए विशेष गंभीरता और विशेष स्वीकृति आवश्यक होती है, यह बात मान लेने की आवश्यकता सामने रखता है। अमेरिका से वह एक अन्य पाठ भी ग्रहण करता है। वह विशुद्ध प्रजातंत्र पर अवरोध के रूप में कार्य करने वाले एक ऐतिहासिक सिद्धान्त के निश्चित किए जाने के महत्व का ज्ञान प्राप्त करता है; और इस प्रकार सीनेट के साथ ही, जो संयुक्त राज्य में उस सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करती है, वह उसके अंग्रेज़ी प्रतिनिधि के रूप में लार्ड सभा को रखना चाहता है। वह लार्ड सभा संभवतः रचना की दृष्टि से सुधारी हुई होगी परंतु उसमें बहुत अधिक

सुधार नहीं होगा। और कम से कम उसकी शक्तियों में जरा भी कमी न होगी चाहे वृद्धि भले ही हो।

यह मेन का राजदर्शन है, जो प्रसंगवश रूसोवाद की इस कारण निन्दा पर कि वह ऐतिहासिक दृष्टि से आधार रहित है तथा इस कारण दूषित है कि जिस प्रकार रूसो ने कल्पना की है उस प्रकार कभी कोई समुदाय नहीं बना था, आश्रित है। यथार्थ में, अत्यधिक और प्रभावशाली सामान्यीकरण स्थापित करने की प्रतिभा से युक्त मेन की ही कैसेन्ड्रा (Cassandra) के आवरण के पीछे से बोलने वाला विषादयुक्त स्वर था जिसने सन् १८६७ में मताधिकार के विस्तार के समय से समूहबद्ध भावनाओं को व्यक्त किया। अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के बारे में चिन्तित, तथा अन्य सब बातों से अधिक मत स्वातंत्र्य के लिए उद्विग्न, स्वयं मिल ने इस चेतावनी के स्वर में अपना स्वर मिलाया था। 'इंग्लिश कॉस्टीट्यूशन' (१८६७) का सहानुभूति और गंभीर विश्लेषण करने वाला बैजहट अँधेरे में लगाई जाने वाली कूद के बारे में अशान्त था और इंग्लैंड के नवीन स्वामियों की शिक्षा के बारे में उद्विग्न था। उदारतावादी राजनीतिज्ञ और रोम के आरंभिक इतिहास के उपाख्यानों के आलोचक कार्नवाल ल्यूइस (Cornewall Lewis) ने 'एसे ऑन दि गवर्नमेंट ऑव डिपेन्डेंसीज' तथा 'डाइलॉग आन दि वेस्ट फॉर्म ऑव गवर्नमेंट' सरीखी कृतियों में सिद्धांत के प्रति एक व्यावहारिक और आलोचक बुद्धि के संशयात्मक दृष्टिकोण और एक प्रशासक के लिए स्वाभाविक इस विश्वास कि 'जो सर्वाधिक अच्छी रीति से प्रशासित हो वही सर्वोत्तम है' को प्रदर्शित किया था। सबसे अधिक, स्टीफ़ेन की पुस्तक 'लिबर्टी, ईक्वालिटी, फ्रैटर्निटी' (१८७३) ने उपयोगितावादी सम्प्रदाय को जनतन्त्रात्मक प्रवृत्तियों की एक समान रूप से गंभीर और तीक्ष्ण समीक्षा, का कार्य किया है। एक विधिवेत्ता होने और आँग्ल दंड विधि के इतिहासकार होने के कारण, मानवीय जीवन और क्रिया की धार्मिक नींव में अपने दृढ़ विश्वास की वजह से तथा भारतीय अनुभवों से प्रभावित होने के कारण स्टीफ़ेन उपयोगिता के सिद्धान्त के विरुद्ध प्राधिकार (Authority) का सिद्धान्त खड़ा करने के लिए प्रेरित हुआ। अपने मानवीय आधारों में प्राधिकार का अर्थ होता है कुछ लोगों का बहुत से लोगों के ऊपर दबाव, चाहे

यह दबाव बल के द्वारा प्रयुक्त किया जाय अथवा रजामंदी से। यहाँ तक कि संसदीय शासन भी दबाव का एक रूप है; 'हम सर तोड़ने के स्थान सर गिन कर शक्ति परखना स्वीकार करते हैं।' ऐसे दबाव का सभ्यता के साथ विकास ही होता है। 'राष्ट्रपति लिंकन ने बल की इतनी अधिक मात्रा का प्रयोग कर अपने उद्देश्य की पूर्ति की कि उससे चार्लीमन (Charlemagne) और उसके समस्त सरदारों और रईसों को अंडे के छिलकों की भाँति कुचला जा सकता था।' परन्तु दबाव और बल के अपने स्वयं के गंभीर और चरम आधार हैं। प्रत्येक शासन का एक नैतिक आधार होना चाहिए; और नैतिकता और धर्म का सम्बन्ध इतना घनिष्ट है कि इस आधार को अंतिम विश्लेषण में धार्मिक माना जा सकता है। सांसारिक और आध्यात्मिक में भेद करने से इन्कार करते हुए, (क्योंकि मानव जीवन एक और अविभाज्य है) स्टीफ़ेन एक धार्मिक आधार पर अवस्थित शासन के द्वारा जीवन के एकमेव व अविभाज्य नियंत्रण के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करता है। ऐसे किसी आधार पर अवस्थित शासन दबाव का प्रयोग करेगा, यदि वह संतुष्ठ होगा कि प्रथम, वह उद्देश्य जिनके लिए दबाव प्रयुक्त किया जा रहा है सामान्यतया और अंतिम रूप से धार्मिक आधारों पर अच्छे माने जाते हैं; द्वितीय यह कि दबाव उन उद्देश्यों की पूर्ति कर सकता हो; और अंततः यह कि वह उन्हें बिना अत्यधिक व्यय के पूर्ण कर सकता हो। ऐसा दबाव अंशतः व्यवहार और दंड दोनों प्रकार के विधि-बल के द्वारा प्रयुक्त होगा और अंशतः जनमत के बल-प्रभाव के द्वारा। इस प्रकार मन का वह उत्तरदायी गुण (responsive quality) जिसकी प्रत्येक समाज अपने सदस्यों से माँग करता है और प्राप्त करता है, अनुशासन है—अनुशासन अपने व्यापकतम अर्थ में; अनुशासन एक शक्ति बढ़ाने वाले बल के रूप में जो प्रत्येक मनुष्य को अधिकतम शक्ति प्रदान करता है। बुद्धिमान राजनीतिज्ञ को इस अनुशासन के बारे में विचार करना चाहिए जिसके द्वारा हम अस्तित्व के गहन और अनिवार्य सत्यों के साथ एक-लय होते हैं न कि प्रगति अथवा स्वतंत्रता के बारे में। प्रगति एक मिश्रित वस्तु है जो अंशतः अच्छी है और अंशतः बुरी। इसने कम से कम एक बुरा प्रभाव निश्चित रूप से डाला है; इसने पुरुषत्व की प्राचीन शक्ति का

ह्रास किया है। और बात यहीं समाप्त नही होती। प्रगति ने अपने 'जन्मजात स्थिति' से अनुबंध की ओर गमन में सम्पत्ति की अत्यधिक असमानता की उत्पत्ति में, जिसे स्वतंत्र अनुबंध जन्म देता है, सहायता दी है। स्टीफ़ेन के दर्शन में स्वतंत्रता की भी प्रगति से कुछ ही अच्छी दशा रही है। स्वतंत्रता, जिसका जनतंत्र कहलाने वाले शासन के स्वरूप से कोई संबंध नहीं है, क्योंकि वह स्वरूप असह्य रूप से अनिवार्य हो सकता है, एक निषेध है, अथवा जलप्रवाहक में एक छेद के समान है। और मानव स्वभाव रूपी जलराशि का अध्ययन करना तथा मानवीय क्रिया के गहन स्रोतों को जानना छंदों की प्रकृति के बारे में अन्वेषण करने से कहीं श्रेष्ठ है। जहां तक जनतंत्र अथवा सर्वमताधिकार का संबंध है, यह एक ऐसी संस्था है जिसका प्रयोजन प्रत्येक कार्य के लिए सामान्य स्वीकृति प्राप्त करना और मानवीय मामलों के संचालन में बहुत से लोगों की रुचि उत्पन्न करना है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो इसका स्थान ले सके। परन्तु ऐसी व्यवस्था का कार्य कुशलता की दृष्टि से मूल्य अत्यधिक होता है, और इस व्यवस्था का अर्थ अंततः कुछेक ऐसे चातुर्ययुक्त लोगों का शासन होता है जो अपने पक्ष में मत-संग्रह करने में सर्वाधिक सफल होते हैं।

स्टीफ़ेन की पुस्तक उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के रूढ़िवादी चिन्तन की श्रेष्ठतम व्याख्या है। वह एक बृहद् विवाद पूर्ण ग्रन्थ (polemic) है जो कि अपने व्यंग्-सूत्रों से कहीं कहीं बहुत अधिक पूर्ण है परंतु जो सर्वत्र मानव समाज के धार्मिक आधार के उस विश्वास से सिक्त है जो बर्क के काल से आज तक रूढ़िवाद की शक्ति रहा है। वह आंग्ल समाज के शिक्षित और शासक वर्गों के बीच प्रचलित प्रधान विचारों का स्पष्ट और कट्टरतापूर्ण विवरण है। परन्तु स्टीफ़ेन-रूपी एकमेव देदीप्यमान तारा एक नक्षत्र-समूह (constellation) का निर्माण नहीं करता, और जहाँ उसने मेन को प्रभावित किया, उसने स्वयं मेन के प्रभाव का लाभ नहीं उठाया। यह सत्य है कि मेन का प्रभाव उसके रूढ़िवादी सिद्धान्तों का प्रभाव नहीं था वरन् उसकी नवीन पद्धतियों का प्रभाव था। इन पद्धतियों का अध्ययन के दो नवीन विषयों—तुलनात्मक राजनीति और मानवशास्त्र (anthropology) के विकास में बहुत हाथ रहा है। सीले और फ्रीमैन ने, जो केम्ब्रिज और ऑक्सफ़ोर्ड में इतिहास के प्राध्यापक थे, बहुत कुछ

ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति पर राजनीतिक संस्थाओं का सर्वेक्षण करने का प्रयास किया है। और इनमें से एक की 'इन्ट्रॉडक्शन टु पॉलिटिकल साइंस' (१८९६) तथा दूसरे की 'कम्परेटिव पॉलिटिक्स' (१८७३) इस प्रयास के लगभग निःसार फल हैं।[१] मानवोत्पत्ति विज्ञान, जो मेन का बहुत ऋणी है, अपेक्षाकृत अधिक उन्नत हुआ है। उसके वैधानिक साक्ष्य के आधार पर आदिम समाज को चित्रित करने के प्रयत्न ने अनुकरण अथवा प्रतिक्रिया के द्वारा अनेक विद्यार्थियों को उत्साहित किया है। मैक्लेनान (Mclennan) बन्धुओं ने आदिम समाज संबन्धी उसकी धारणा पर अपनी पुस्तक 'पेट्रिआर्कल थियरी' (१८८५) में प्रहार किया; और राबर्टसन स्मिथ की (विशेषतः 'दि रेलीजन ऑव दि सेमाइट्स' १८८९) तथा वेस्टरमार्क की कृतियों (विशेषतया 'दि हिस्ट्री ऑव ह्यूमन मैरिज' १८९१) ने मेन द्वारा सर्वप्रथम निर्देशित समस्याओं पर नवीन प्रकाश डाला है।

× × ×

मेन ने प्रारंभिक विधि के अध्ययन से राजनीति पर नया प्रकाश डालने का प्रयत्न किया था; डाइसी ने समकालीन इंग्लैंड के संविधान और विधि के अध्ययन से आंग्ल-जीवन में प्रधानता-प्राप्त राजनीतिक सिद्धांतों का पूर्णतर ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास किया। 'ला ऑव दि कान्स्टीट्यूशन' (१८८५) में वह आंग्ल-संविधान का विश्लेषण करता है और अमेरिका के साथ तुलना करके और फ्रांस के साथ भेद दिखला कर वह यह स्पष्ट करता है कि उसके सर्वाधिक मूल सिद्धांतों में से एक 'विधि का शासन' (Rule of law) है। इंग्लैंड में शासन को कोई स्वेच्छाचारी शक्ति प्राप्त नहीं है; सभी मनुष्य सभी बातों में सामान्य न्यायालयों द्वारा प्रशासित साधारण विधि के अधीन हैं। और उस विधि में स्वयं सांविधानिक विधि (law of the constitution) भी निहित है जिसका कोई पृथक् अथवा स्पष्ट अस्तित्व नहीं है, वरन् जो कि देश की सामान्य विधि का एक अंग और वस्तुतः उसी का एक परिणाम है। इस दृष्टि से

---

१ इस क्षेत्र में सर्वाधिक ठोस और महत्वपूर्ण कार्य लार्ड ब्राइस का रहा है जिसकी पुस्तक 'स्टडीज़ इन हिस्ट्री एंड ज्यूरिसप्रूडेंस' विशेष रूप से गहन विश्लेषण और निर्देशात्मक तुलना से पूर्ण है।

इंग्लैंड फ्रांस से भिन्न है जहाँ प्रशासनीय विधि (droit administratif) की पृथक् व्यवस्था है; और दूसरी ओर कम से कम एक मौलिक पक्ष में वह अमेरिका का सगोत्र है जहाँ इंग्लैंड की भांति प्रशासनीय विधि का कोई पृथक् समूह नहीं है। जिस प्रकार ला ऑव कांस्टीट्यूशन' में डाइसी ने इंग्लैंड के संविधान का उसके मौलिक सिद्धान्त जानने के लिए विश्लेषण किया है उसी प्रकार 'ला एंड ओपीनियन इन इंग्लैंड' (१६०५) में उसने इंग्लैंड के उन्नीसवीं शताब्दी के विधानों का, उसकी क्रमिक स्थितियों की तुलना द्वारा राजनीति और नीतिशास्त्र के उन सिद्धांतों का स्पष्टीकरण करने के लिए जिन्होंने प्रत्येक अवस्था में उसका मार्गदर्शन किया है, विश्लेषण किया है। उसने ऐसी तीन अवस्थाएँ पाई हैं—पुराने टोरीवाद का काल, १८०० से १८३० तक; बेन्थमवाद का काल, १८२५ से १८७० तक; और समष्टिवाद (Collectivism) का काल, १८६५ से १६०० तक। उसकी पद्धति विश्लेषणात्मक है न कि कट्टरतावादी (dogmatic)। परन्तु यदि उसने अपने किसी दृढ़ सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है तो वह बेन्थमवाद है। बेन्थमवादी होने के कारण, जनतंत्र के प्रति उस अविश्वास का जो मेन और स्टीफ़ेन में परिलक्षित होता है, उसमें कठिनाई से ही चिह्न मिलता है। वह यह कहता है कि जनतंत्र कोई ऐसी एकरूप वस्तु नहीं है जो प्रत्येक राज्य में जहाँ वह अपनाई जाती है समरूप परिणाम प्रस्तुत करती हो। इसके विपरीत इसका प्रभाव प्रत्येक राज्य के राष्ट्रीय स्वभाव के अनुसार भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न होता है। और इंग्लैंड में 'असभ्यता मिश्रित जनतंत्र' के उस विशिष्ट स्वरूप ने, जो हमारे राष्ट्रीय स्वभाव के अनुरूप है, परिवर्तन में अनुचित रूप से जल्दबाजी नहीं की है और न 'प्रगतिवादी दल' को अधिक बढ़ावा दिया है।

डाइसी के प्रभाव ने हमारा नवीन दिशाओं की ओर मार्गदर्शन करने की अपेक्षा मुख्यतः हमें हमारी वर्तमान स्थिति से ही अवगत कराया है। एफ़० डब्लू० मेटलैंड (F. W. Maitland) का बाद के वर्षों का प्रभाव अधिकांशतः भिन्न प्रकार का रहा है। समूहों की प्रकृति और उनकी उचित वैधानिक स्थिति के बारे में जर्मन चिन्तन से प्रेरित होकर मेटलैंड ने आंग्ल विद्यार्थियों को शोध कीं इस रेखा पर चलने के लिए प्रेरित किया है। महान न्यायशास्त्री गियरके

(Gierke) के प्रभावान्तर्गत मेटलैंड समूह के 'वास्तविक व्यक्तित्व' real personality) के सिद्धान्त को अंगीकृत करने की ओर प्रेरित हुआ। 'पॉलिटिकल थियरीज़ ऑव दि मिडिल एजिज़' (१६००) की अपनी प्रस्तावना में तथा अपनी पुस्तक 'कलेक्टेड पेपर्स' की तीसरी जिल्द के कई निबंधों में उसने इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया है और उसके कुछ निष्कर्षों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। अपेक्षाकृत अधिक निकट काल में जे० एन० फ़िगिस ने विशेषकर 'चर्चिज़ इन दि मॉडर्न स्टेट' (१६१३) में, उसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, और धार्मिक समूहों के अधिकारों के समर्थन के लिए उसकी सहायता ली है।

इस नवीन सिद्धान्त की धारा कुछ इस प्रकार रही है। किसी स्थिर उद्देश्य के लिए स्थायी रूप से संगठित किसी स्थायी समूह को केवल ऐसे मनुष्यों का योग मात्र नहीं माना जा सकता जिनके संघ को किन्हीं अधिकारों और कर्तव्यों को प्राप्त करने के लिए वैधानिक पुष्टीकरण की आवश्यकता हो। स्थायी समूह स्वयं व्यक्ति, समूह-व्यक्ति, होते हैं जिनकी अपनी समूह-इच्छा होती है और अपना एक स्थायी स्वरूप होता है। और वे अपने आप ही राज्य की किसी 'विधायक' क्रिया के बिना ही समूह-व्यक्ति बने हैं। संक्षेप में, समूह-व्यक्ति वास्तविक व्यक्ति हैं। और क्योंकि वे समूह-व्यक्ति हैं और व्यक्तियों के इच्छा और स्वभाव जैसे लक्षणों से युक्त हैं, वे राज्य के द्वारा निर्मित नहीं हो सकते। कोई भी वाह्य शक्ति एक वास्तविक व्यक्ति का निर्माण नहीं कर सकती; एक वास्तविक व्यक्ति का विकास स्वयमेव से होता है। इस मत के एक भाग के विषय में शंकाएँ रखना और फिर भी इसके मुख्य सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना और उसे प्रस्तुत करना संभव है। मानवीय प्राणी के अतिरिक्त अन्य किसी के वास्तविक व्यक्तित्व के बारे में बात करना शंकापूर्ण और संभवतः अनिश्चित बात करना है। जब निन्नानबे सदस्यों का एक स्थायी समूह अपने सभा-स्थल पर विचार कर रहा है और समूह की नीति निश्चित करने में संलग्न है तो यह शंका करना उचित ही है कि क्या वहाँ एक सौवाँ व्यक्ति अचानक आ उपस्थित होता है। इस शंका के समाधान के लिए ऐसे आध्यात्मिक प्रश्नों का निश्चय करना होगा जो इस तर्क की परिधि के बाहर हैं। परन्तु हम यह मान लेने के अधिकारी हैं कि

स्थायी रूप से संगठित समूह न्यायिक-व्यक्तित्व (Juristic personalities) तो हैं ही। अर्थात् वे उत्तरदायित्व ग्रहण करने में समर्थ हैं; वे मुक़दमा चला सकते हैं और उन पर मुकदमा चलाया जा सकता है। इस प्रकार का न्यायिक व्यक्तित्व वास्तविक व्यक्तित्व से एक पृथक् धारणा है। न्यायिक व्यक्तित्व वैधानिक प्रकृति वाली कुछ प्रकार की क्रियाओं का, यथा भू-स्वामित्व, न्यायालयों में मुक़दमा चलाना आदि का ऐसा स्रोत है जिसका किसी एक प्राणी में अवस्थित होना आवश्यक नहीं है। वास्तविक व्यक्तित्व सामान्य रूप से क्रिया का स्रोत है अथवा यों कहा जाय, सब प्रकार की क्रियाओं का स्रोत है। यह संभव है कि एक वास्तविक व्यक्ति एक न्यायिक व्यक्ति न हो; उदाहरणार्थ, स्त्रियाँ रोमन विधि के इतिहास में एक लंबे काल तक न्यायिक व्यक्ति नहीं थीं। दूसरी ओर, यह कल्पना की जा सकती है कि न्यायिक व्यक्ति, उदाहरणार्थ एक स्थायी समूह, एक वास्तविक व्यक्ति न हो। परंतु किसी भी दशा में, यदि हम समूह को न्यायिक-व्यक्ति की श्रेणी में भी ले आएं तो भी हम मेटलैंड के सिद्धान्त को मान सकते हैं और यह कह सकते हैं कि ऐसे व्यक्तित्व का विकास होता है निर्माण नहीं। दूसरे शब्दों में, ये न्यायिक व्यक्ति सम्मिलन (incorporation) अथवा 'रचना' को किसी वैधानिक क्रिया के पूर्व ही वर्तमान रह सकते हैं और वर्तमान हैं भी—उसी प्रकार जैसे विधि विधि-निर्माण को किसी वैधानिक क्रिया के पूर्व ही वर्तमान रह सकती है और वर्तमान रहती है। गियरके के अनुसार विधि इस समान विश्वास का परिणाम है कि एक वस्तु है, न कि वह होगी; और इसी प्रकार हम यह कह सकते हैं कि न्यायिक व्यक्तित्व इस सामान्य विश्वास का परिणाम है कि सामूहिक (corporate) व्यक्ति अभी भी वर्तमान हैं न कि यह कि उन्हें वर्तमान रहने दिया जायगा। और जिस प्रकार अधिनियमित विधि (statute law) एक ऐसी बात का स्वीकार किया जाना होता है जो वर्तमान रहती है उसी प्रकार वैधानिक निगमन (incorporation) भी किसी वर्तमान वस्तु की प्रस्वीकृति हो सकती है।

यह स्पष्ट है कि यदि इस स्थिति को स्वीकार कर लिया जाय तो राज्य के -सिद्धान्त पर मार्मिक प्रभाव पड़ता है। क्योंकि समूहों पर बल देना मात्र ही, चाहे उनके उद्भव के बारे में हमारा अंतिम सिद्धान्त कुछ भी हो,

राज्य के सिद्धान्त को प्रभावित करता है। हम राज्य को समान जीवन के लिए व्यक्तियों के संवास के रूप में कम, और पहले से सामान्य जीवन वाले अनेक समूहों में एकीकृत व्यक्तियों के एक अधिक उच्च और व्यापक समान उद्देश्य के लिए संगठित संवास के रूप में अधिक देखते हैं। दूसरे, हम केवल राज्य संबंधी अपनी सामान्य धारणा को केवल एक नया अर्थ ही नहीं देंगे; हमारी प्रवृत्ति राज्य और संवासो के संबंधो के सिद्धान्त को भी परिवर्तित करने की होगी। यदि हम कहते हैं कि एक न्यायिक व्यक्ति का जन्म एक सामान्य विश्वास से होता है और यह कि वह एक ऐसी सामाजिक प्रस्वीकृति में और उसके द्वारा जीवित रह सकता है जो एक संवास को 'निर्माण' की किसी वैधानिक क्रिया के पूर्व और उससे पृथक रूप में एक व्यक्ति मानती है, तो हम अपने संवासों को एक साथ ही एक दृष्टि से मर्यादित और दूसरी दृष्टियों से बंधन-मुक्त करेंगे। हम उन्हें इस अर्थ में मर्यादित करेंगे कि हम उन्हें, चाहे निर्माण की कोई वैधानिक क्रिया हुई हो या नहीं, व्यक्तियों के उत्तरदायित्वो के अन्तर्गत आने वाले व्यक्ति मानेंगे। यदि न्यायिक व्यक्तित्व निर्माण की किसी क्रिया पर निर्भर नहीं करता तो एक न्यायिक व्यक्ति बिना निर्माण की ही उत्तरदायित्वों का भागी हो सकता है; और वह उन उत्तरदायित्वों को यह कह कर नहीं टाल सकता कि वह एक वैधानिक (de jure) व्यक्ति नहीं बनाया गया है,—जबकि उसी समय वह यथार्थ (de facto) व्यक्ति के रूप में कार्य करता है। टैफ़ वेल निर्णय के सिद्धान्त ने ही श्रमिक संघो (Trade Unions) को उनके सामूहिक कार्यों के लिए उत्तरदायी ठहराया। दूसरी ओर यही सिद्धान्त संवासो को बंधन-मुक्त भी करेगा। हम यह कहेंगे कि व्यक्ति के रूप में सामाजिक मान्यता के अधीन जीवित रहने वाले और कार्य करने वाले संवास इस मान्यता के कारण यथार्थ में व्यक्ति हैं। हम आस्बोर्न निर्णय में लार्ड हेल्सबरी के कथन की भाँति यह नहीं कहेंगे कि श्रमिक संघ निगमन (incorporation) के अधिकार-पत्र के द्वारा ही अथवा एक विधान की मर्यादाओं के अन्तर्गत ही वर्तमान रह सकते हैं। परन्तु हमारा मत ऐसे संवासो को राज्य के नियंत्रण से मुक्त नहीं करेगा। राज्य को, जीवन की एक सामान्य और व्यापक योजना के रूप में, आवश्यक रूप से संवासों के अपने प्रति, तथा उनके अपने सदस्यों के प्रति, संबंधों को

समायोजित करना चाहिए—अपने प्रति, अपनी योजना की एकता को बनाये रखने के लिए; अन्य संवासों के प्रति, विधि के समक्ष संवासों की समानता को सुरक्षित रखने के लिए, और उनके अपने सदस्यों के प्रति, व्यक्ति की समूह की संभाव्य निरंकुशता से रक्षा करने के लिए। इस प्रकार (१) राज्य माफ़िया (Mafia) जैसे संवासों के अस्तित्व को भी; जो सामाजिक जीवन और सार्वजनिक नीति के शत्रु हैं, सहन नहीं करेगा। ऐसे संवास, क्योंकि वे किसी सामान्य विश्वास अथवा सामाजिक मान्यता पर आधारित नहीं है, व्यक्ति नहीं हैं, और उनको दबाना व्यक्तियों का दबाया जाना नहीं है। इसी प्रकार और इसी आधार पर, राज्य मान्यता-प्राप्त संवासों की ऐसी कार्यपद्धतियों को सहन नहीं करेगा जो उसके उद्देश्यों का मूलतः खंडन करती हैं। (२) राज्य संवासों की समानता के सिद्धान्त पर अधिकाधिक आगे पग बढ़ाएगा; वह एक संवास की किसी विशिष्ट अथवा आपवादिक स्थिति को, जो दूसरे संवासों को प्राप्त नहीं है, सहन नहीं करेगा। (३) राज्य प्रत्येक संवास से यह माँग करेगा कि उसका कार्य का एक निश्चित आधार हो, और यह कि वह आधार इस अर्थ में एकात्मक हो कि उसके द्वारा भिन्न प्रकार के कार्य संयुक्त न हों। यदि राज्य उन्हें एक निश्चित आधार प्रस्तुत करने के लिए बाध्य नहीं करता तो संवास के सदस्य यह नहीं जानेंगे कि वे किस बात के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हैं। यदि वह एक एकात्मक आधार की माँग नहीं करता तो उन सदस्यों को जो केवल एक ऐसे कार्य के लिए संवास में सम्मिलित होते हैं जिसे वे अनुमोदित करते हैं, किसी ऐसे कार्य के लिए बाध्य किए जाने पर जिसका वे अनुमोदन नहीं करते शिकायत करने का उचित कारण होगा। इन सिद्धांतों का श्रमिक संघों पर अनुप्रयोग कर हम यह देख सकते हैं कि उनमें क्या-क्या बातें अन्तर्निहित हैं। सर्वप्रथम, राज्य को यह निर्णय करना होगा कि क्या श्रमिक संघों के कोषों का पार्लमेंट के प्रतिज्ञाबद्ध सदस्यों की सहायता के लिए प्रयोग इंग्लैंड की सार्वजनिक नीति के अनुरूप है, अथवा क्या राजनीतिक प्रतिज्ञाओं के कराये जाने से संसदीय प्रतिनिधित्व के उद्देश्यों का अतिक्रमण होता है। दूसरे, राज्य को यह निश्चय करना होगा कि क्या श्रमिक संघों द्वारा माँगी जाने वाली और 'ट्रेड्स डिस्प्यूट्स ऐक्ट' १६०६, के द्वारा प्रदत्त कुछ विशेष प्रकार की वैधानिक क्रियाओं से स्वतंत्रता, संवासों की

समानता के सिद्धान्त के अनुरूप है। अंततः, राज्य को यह निर्धारित करना होगा कि क्या एक श्रमिक संघ जो राजनीतिक क्रिया तथा राजनीतिक क्रिया के लिए धन-संग्रह की आर्थिक क्रिया तथा आर्थिक क्रिया के लिए धन-संग्रह से संयुक्त करता है, विभिन्न प्रकार की क्रियाओं को संयुक्त तो नहीं कर रहा है और एक एकात्मक आधार बनाए रखने में असफल तो नहीं हो रहा है। और क्या ऐसी प्रक्रिया के द्वारा वह ऐसे सदस्यों पर जो एक प्रकार की क्रिया का अनुमोदन करते हैं और दूसरी का नहीं, बलप्रयोग तो नहीं करता है।

ये विचार हमें यह देखने को प्रेरित कर सकते हैं कि हमें समूह-व्यक्तियों के हित में अपने दावों को बहुत नहीं बढ़ाना चाहिए। संवासों के 'निहित अधिकारों' के किसी अमर्यादित सिद्धान्त के द्वारा उतनी ही हानि होने की संभावना है जितनी व्यक्ति के प्राकृतिक अथवा निहित अधिकारों के अमर्यादित सिद्धान्त ने कभी की थी। कोई भी अधिकार इतने निहित नहीं है कि उन्हें अन्य अधिकारों के प्रति समायोजित न किया जाय; और समायोजन की प्रक्रिया से वे सामाजिक दृष्टि से संशोधित और समाज द्वारा नियंत्रित अधिकार बन जाते है। हमें निहित अधिकारों के किसी तर्क से, चाहे वह श्रमिक संघों के हों या चर्चों के, सावधान रहना चाहिए, जब तक कि ऐसा तर्क समायोजन की आवश्यकताओं को उचित ध्यान देकर प्रस्तुत नहीं किया जाता। परंतु इस उपबंध के साथ हम यह कह सकते हैं कि संवास के अधिकारों पर निकट पूर्वकाल में दिया गया समस्त ज़ोर चिन्तन की ऐसी रेखाएँ सुझाता है जो महत्वपूर्ण हैं और जिनके फलदायक सिद्ध होने की आशा है।

बेन्थमवादी व्यक्तिवाद ने राज्य पर एककों के यौगिक के रूप में बहुत अधिक जोर दिया और उसके अवयव समूहों का बहुत कम ध्यान रखा। वह चर्चों के प्रति अधिक उदार नहीं था; और यदि उसके प्रभाव ने श्रमिक संघों के उद्धार में सहायता दी तो यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्लेस (Place) जैसा बेन्थमवादी श्रमिक संघों को ऐसी अस्थायी आवश्यकता मान सका जिसका वैयक्तिक प्रतियोगिता के लिए मार्ग तैयार करना पूर्वनिर्दिष्ट था। हम इस दृष्टिकोण को बिसारना आरंभ कर रहे हैं। यदि आज हम व्यक्तिवादी हैं तो हम सामूहिक व्यक्तिवादी (Corporate individualists) हैं। हमारे 'व्यक्ति' समूह बनते

जा रहे हैं। अब 'दि मैन वर्सस दि स्टेट' नहीं लिखा जाता : 'दि ग्रुप वर्सस दि स्टेट' लिखा जाता है। आजकल संघवाद की बहुत चर्चा है। इस चर्चा का आधार यह भावना है कि अकेली संप्रभुता से युक्त एकात्मक राज्य एक भ्रामक धारणा है जिसकी जीवन के तथ्यों के प्रति सत्यता नगण्य सी है। हम यह अनुभव करते हैं कि प्रत्येक राज्य बहुत कुछ एक संघीय समाज जैसा है और उसकी सीमाओं में अपने सदस्यों के ऊपर भिन्न नियंत्रण प्रयुक्त करने वाले विभिन्न राष्ट्रीय समूह विभिन्न चर्च, विभिन्न आर्थिक संगठन, होते हैं। यह सघवादी भावना आश्चर्य-जनक रूप मे व्यापक है। समाजवाद के नवीनतम रूप ने एक केन्द्र से व्यवस्थित एकात्मक समष्टिवाद के मार्ग का परित्याग कर दिया है। वह 'गिल्ड' के नामान्तर्गत समूह का पोषण करता है। उत्पादन के साधनों के अंतिम स्वामी के रूप में राज्य को स्वीकार करते हुए भी, वह एक ही कार्य में लगे श्रमिकों के गिल्ड के लिए उन साधनों पर प्रन्यासियों (trustees) के रूप में नियंत्रण रखने के अधिकार की माँग करता है; जहाँ यह राज्य को सस्कृति की उन्नति का कार्य छोड़ देता है, वहाँ यह गिल्ड के लिए आर्थिक जीवन पर नियंत्रण की माँग भी करता है। इस नए समाजवाद में श्रमिक संघों का अपने जीवन को अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए स्वतंत्र रूप से विकसित करने वाले स्वतंत्र समूह होने का दावा—वह दावा जो टैफ़ वेल निर्णय (Taff Vale judgment) के विरुद्ध प्रतिक्रिया के काल में प्रस्तुत किया गया था और सन् १९०६ से संसदीय विधियों के द्वारा अधिकांशतः स्वीकृत किया गया है—अपना चरम बिंदु apogee) पाता है। वही आंदोलन जो नवीन समाजवाद में आर्थिक रूप में सामने आता है, नवीन उदारतावाद में राजनीतिक रूप में सामने आता है। इस उदारतावाद का मूलकेन्द्र एक ऐसा नवीन संघवाद प्रतीत होगा जो परंपरागत संघवाद की भाँति कुछ छोटे राज्यों के एक बड़ी समष्टि में, विलयन की ओर निर्देशित नहीं है वरन् बड़े राज्य के छोटे राष्ट्रीय समूहों में जिन्हें विकेन्द्रीकरण के द्वारा बड़ी बड़ी शक्तियाँ प्रदान की जायेंगी, विघटन की ओर है। कम से कम आइरलैण्ड, वेल्स और कुछ सीमा तक स्काटलैण्ड में उदारतावाद की नीति यही निष्कर्ष सुझाती प्रतीत होगी। इसी बीच एक ऐसा आंदोलन, जो संभवतः 'एकेडेमिक' (academic) है और अधिक व्यापक नहीं है, धार्मिक समूहों के अधिकारों

का समर्थन करने की दिशा में बढ़ता दिखाई देता है; और संभवतः हम फ़िगिस में उस नीति का धार्मिक क्षेत्र में समर्थक खोज सकते हैं जो आर्थिक क्षेत्र में गिल्ड समाजवाद के रूप में सामने आई और राजनीतिक क्षेत्र में नवीन उदारतावाद के रूप में।

इन आंदोलनों का कारण किसी एक अकेले प्रभाव को बताना हास्यास्पद होगा। 'गिल्ड समाजवाद' अथवा श्रमिक-संघवाद (syndicalism), संघवाद अथवा होमरूल, चर्चों के अधिकार अथवा चर्चों के उन्मूलन के लिए यह अंध-खोज, विचार की एक सामान्य प्रवृत्ति का भाग है जो संभवतः सर्वप्रथम फ्रांस में आर्थिक क्षेत्र में अभिव्यक्त हुई परन्तु जो अब इंग्लैंड तक में तथा अन्य विस्तृत क्षेत्रों में फैल गई है। विचार की इस प्रवृत्ति से वह वैधानिक सिद्धान्त जिससे हमने आरंभ किया था—समूह के व्यक्तित्व और अधिकारों का सिद्धान्त—घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है; परन्तु वैधानिक सिद्धान्त इस सामान्य धारा की एक लहर मात्र है। ऐसा लगता है जैसे हम ऐसे काल में जीवन व्यतीत कर रहे हों जिसमें हमसे राज्य सम्बन्धी अपनी पूर्व-धारणाओं को प्रत्येक दिशा में परिवर्तित करने को कहा जा रहा है। हम राज्य को गिल्ड, राष्ट्रीय समूह और चर्च की प्रगति के सम्मुख अपने पग वापस लेने का आमंत्रण पाते देखते हैं। फिर भी, ये समूह जिन अधिकारों का भी दावा करें या उन्हें प्राप्त करें, राज्य एक आवश्यक समायोजक शक्ति रहेगा ही; और यहाँ तक कि यह भी संभव है कि यदि समूहों का बलवान होना निर्दिष्ट है तो राज्य भी जो कुछ खोएगा कदाचित् उससे भी अधिक प्राप्त करेगा, क्योंकि वह समायोजन की गुरुतर और गंभीरतर समस्याओं का सामना करने के लिए बाध्य होगा।

अध्याय ७

साहित्यकारों की राजनीतिक विचारधारा

सन् १८४८ के पश्चात् अंग्रेज़ी साहित्य के सभी महान् स्वर 'यद्भाव्यं नीति' (laissez faire) की अराजकता के विपरीत उठे थे। 'मान्चेस्टर के शासन' का स्थान बुद्धि के शासन को देने के लिए मैथ्यू आर्नाल्ड भी उतना ही उत्सुक था जितना टॉमस कार्लाइल। और डिकेन्स राजनीतिक अर्थशास्त्र का उतना ही तीक्ष्ण निंदक था जितना रस्किन। कलाकार के लिए व्यक्तिवाद का पूर्ण सिद्धान्त कठोर और कुरूप था—जो यूक्लिड के सूत्रों के समान कठोर सूत्रों पर ज़ोर देने के कारण अप्रिय प्रतीत होता था, जो अपनी उपयोगिता सम्बन्धी गणना में प्रतिकारक (repellant) था; और मानवीय भावनाओं और आकांक्षाओं के प्रति अपने दृष्टिकोण में सहानुभूतिहीन था। सन् १८२६ में ही राजकवि (Poet laureate) साउदे ने अपने परोपकारी—समष्टिवाद (philanthropic collectivism) का उपदेश दिया था और उसकी पुस्तक 'कॉलोक्वीज़' (Colloquies) ने 'यद्भाव्यं' के प्रति एक प्रकार का घृणाभाव प्रदर्शित किया जिसने बाद में लॉर्ड शेफ्ट्सबरी को प्रभावित किया। साउदे की साहित्यिक परंपरा किंग्सले, मिसेज़ गैस्कल, डिकेन्स और चार्ल्स रीड के उपन्यासों में अविच्छिन्न रूप से चलती रही; और वह कार्लाइल के निन्दापूर्ण वाक्यों में और आर्नाल्ड के कोमल व्यंग में, नए रूप में ही क्यों न हो, प्रकट हुई।

सन् १८४८ के अनेक वर्ष पूर्व कार्लाइल बेन्थमवाद से बहुत दूर जा चुका था। 'चार्टिज़्म' (१८३६) और 'पास्ट एंड प्रेज़ेन्ट' (१८४३) में ही उसके विशिष्ट सिद्धान्त सामने आते हैं। 'अपनी जेबों के बटन बंद कर सीधे खड़े रहना' सच्चा दर्शन नहीं है। श्रमिक वर्गों को जिस बात की आवश्यकता है वह है यथार्थ मार्गदर्शन और शासन। सब बातों से अधिक मार्गदर्शन की आवश्य-

कता होने के कारण, कार्लाइल जनतंत्र की निंदा करता है जिसे वह एक 'स्व-नाशक व्यापार' (self-cancelling business) के रूप में एक ऐसा शासन जिसने केवल शासन का निषेध ही प्राप्त किया है, 'यद्भाव्य' से एकरूप मानता था। प्रातिनिधिक संस्थाएँ, स्वतंत्र और व्यापक निर्वाचक-समुदाय, संक्षेप में जनतंत्र के समस्त उपकरण, उसकी दृष्टि में व्यर्थ बकवास और मतदान पेटियों से अधिक महत्व नहीं रखते थे—वे सब 'केवल थोथापन' और शून्य से अधिक कुछ न थे। सच्चे शासन को प्राप्त करने के लिए मनुष्यों को ऐसे व्यक्तियों के पास जाना चाहिए जो शासन करने के योग्य हों—उन थोड़े से मौन रहने वाले लोगों को और जो अपनी बुद्धिमत्ता में डूबे अकेले खड़े रहते हैं और जो प्रकृति के द्वारा नियुक्त वीर-राजा (Hero-kings) होते हैं। 'प्रत्येक समुदाय में एक व्यक्ति सर्वाधिक उपयुक्त, सर्वाधिक बुद्धिमान, सर्वाधिक वीर और सर्वश्रेष्ठ होता है: उसे हम यदि खोज सकते और अपना राजा बना सकते, तो यथार्थ में सब कुछ ठीक होता।' कार्लाइल उसकी खोज के लिए किसी पद्धति अथवा यंत्र को सामने नहीं रखता : हम केवल अपने हृदयों के ऐसे आमूल सुधार के द्वारा जो हमें एक 'हीरो' को पहचानने के लिए पर्याप्त साहसी बना दे, उपयुक्त राजा पा सकते हैं। कार्लाइल का विश्वास है कि ऐसे शासक आवश्यक रूप से बुद्धिमान् व्यक्ति होते हैं जिन्हें समस्त आवरणों को भेद कर वस्तुओं के आंतरिक सत्य को जान लेने में समर्थ दृष्टि प्राप्त रहती है। परन्तु इसी कारण वे ऐसी नैतिक भावना से निदेशित होने वाले कर्तव्यपरायण व्यक्ति होते हैं जो केवल अंतर्दृष्टि की गहराई के द्वारा ही प्राप्त होती है। बुद्धिमान, और अपनी बुद्धिमत्ता के साथ ही सद्गुणयुक्त, होने के कारण उन्हे हीं निम्नतर व्यक्तियों का मार्गदर्शन और शिक्षण करना चाहिए, जिन्हें आज्ञापालन में ही अपना प्रमुख और सर्वोच्च सुख प्राप्त होगा।

संसदीय सुधार से घृणा करते हुए और व्हिगों से इस कारण घृणा करते हुए कि वे उस 'मरे हुए घोड़े' पर सतत रूप से चढ़े चक्कर लगाते हैं, कार्लाइल टोरी गुट में जा मिला। 'टोरियों को मंत्रिमंडल बनाने दो यदि वे ऐसा चाहें; कम से कम मंत्रिमंडल को कोई सजीव व तु तो होने दो।' यहाँ तक कि वह समाजवाद की ओर भी कुछ दूरी तक गया। 'कार्य के लिए

पारिश्रमिक के अधिकाधिक उत्तम निर्धारण में भी मानव समाज की प्रगति निहित है।' मार्गदर्शन, विनियमन तथा क़वायद उसके आदर्श बन गए : उसकी रचनाओं में सैनिक रूपक बार-बार सामने आते हैं। यहाँ तक कि वह इस सैन्य-सिद्धान्त तक भी पहुँच गया कि शक्ति ही औचित्य (right) की माप है। यदि कोई मनुष्य योग्य हो, चतुर हो, इच्छा का दृढ़ हो, अपने साथियों के बीच अपना कर्तव्य करने के निश्चय पर दृढ़ हो, तो उसे अपनी शक्ति की मात्रा के अनुसार ही शासन करना चाहिए, और अपने साथियों पर उसका अधिकार उसकी शक्ति के अनुसार ही होता है। 'सशक्त वस्तु ही न्याय्य वस्तु है' : अधिकार 'सही रूप में संयुक्त शक्तियाँ' ही हैं। यह बात नहीं थी कि कार्लाइल शक्ति-पूजक था। इसके विपरीत वह आध्यात्मिक जगत में न्याय के शासन के संबंध में इतना अधिक आश्वस्त है कि वह इसके अतिरिक्त कुछ सोच ही नहीं सकता कि सर्व प्रकार का शासन स्वभावतया उचित ही होगा। वह इस बात के बारे में कि औचित्य ही शक्ति है इतना आश्वस्त है कि वह यह कहते हुए नहीं हिचकता कि शक्ति ही औचित्य है। ईश्वर ने विश्व को इस प्रकार एक न्याय्य उत्तरोत्तर-व्यवस्था (just hierarchy) में क्रमबद्ध किया है कि वे सभी मनुष्य जो ईश्वर के अनुग्रह और उसकी कृपास्वरूप न कि मात्र रूढ़ि अथवा निर्वाचन-यंत्र के द्वारा, शासक बनाए जाते हैं, अपने समस्त कार्यों में उचित पक्ष की ओर रहते हैं। फ्रेडरिक महान् अथवा क्रॉमवेल की शक्ति ईश्वरीय भेंट है। क्योंकि ऐसा है, इस कारण उसे उनके लिए औचित्यता के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं माना जा सकता।

'लेटर डे पैम्फ़लेट्स' (१८५०) और 'शूटिंग निआगरा (१८६७) लिखने तक के समय कार्लाइल चिन्तन की उन्हीं रेखाओं पर अधिक उग्रतापूर्वक और अधिक मुक्त रूप में चल रहा था। यथार्थ और उस आंतरिक सत्य के लिए जो वाह्य स्वरूप की पृष्ठभूमि में रहता है, प्रचंड पिपासा से परिपूर्ण, वह उन समस्त रूपों और परंपराओं के बीच जो जनतांत्रिक शासन में प्रचुरता से रहती हैं, अधीरता से उपद्रव मचा देता है और क्रोधपूर्वक वस्तुओं के मर्मस्थल के दृढ़ सिद्धान्त—शासन की दृष्टि से उपयुक्ततम को शासन ग्रहण करना चाहिए—की ओर अग्रसर होता है। यह कहना व्यर्थ है कि सर्वाधिक सीधा लगने वाला मार्ग

सदैव ही उद्देश्य पूर्ति नहीं करता; यह कहना व्यर्थ है कि निर्वाचन की हमारी जटिल पद्धतियाँ, वे कितनी ही टेढ़ी-मेढ़ी क्यों न हों, उपयुक्ततम शासक को खोज निकालने का सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक मार्ग हैं। कार्लाइल सीधे चलने के लिए दृढ़-निश्चय है। सीधे जाने की अपनी जल्दी में वह केवल खाई में गिरने में सफल होता है। अपनी पुस्तक 'सार्टर रिसार्टस' (Sartor Resartus) में उसने एक बार तीतरों को गोली का निशाना बनाने वाले ब्रिटिश आभिजात्यवर्ग की निंदा की थी। 'शूटिंग निआगरा' (Shooting Niagara) में वह ब्रिटिश अभिजात्यवर्ग में 'असंख्य मूर्खों का नेतृत्व ग्रहण करने के लिए कुछ बुद्धिमान व्यक्ति' देखने को तत्पर प्रतीत होता है। वह उनकी रीतियों की, जो आंतरिक राजसिक क्षमता की वाह्य अनुसूचक होती हैं, प्रशंसा करता है; और मध्य युगों के प्रति उस प्रेमभाव के साथ जिसे उसने 'चार्टिज्म' में ही प्रदर्शित किया था (उदाहरणार्थ, जब उसने यह लिखा कि 'पुराना अभिजात्यवर्ग निम्नतर वर्गों का शासक और मार्गदर्शक था) और उससे भी अधिक 'पास्ट एंड प्रेजेंट' में, वह बहुत कुछ डिज़राइली और तरुण इंग्लैंड दल की रेखाओं पर एक नए सामंतवाद की रूप-रेखा तैयार करता है। आभिजात्यवर्ग, उसका प्रत्येक सदस्य अपने राज्य-क्षेत्र और भूभाग में, राजा और व्यवस्था का निर्माता बन सकता है। वे विद्यालयों की स्थापना कर सकते हैं, केवल बातूनी, नहीं जो मनुष्यों को केवल लिखना और बात करना सिखाते है, वरन् व्यावहारिक प्रकार के जो मनुष्यों को व्यवहार करना और जीवन में अपना कार्य करना सिखाएँगे; वे अपने क्षेत्रवासियों को व्यवस्था और 'संयुक्त एकलय युक्त क्रिया' के सौन्दर्य की शारीरिक और नैतिक रूप से शिक्षा दे सकते हैं; वे उन्हें सैनिक व्यायाम की भी शिक्षा दे सकते हैं और उग्रतावादी अराजकता के विरुद्ध व्यवस्था के लिए लड़ने वाली एक सामंतीय सेना तक का भी निर्माण कर सकते हैं। न केवल अपने क्षेत्रवासियों को प्राविधिक शिक्षा और सैन्य सेवा का पाठ पढ़ाने वाले भू स्वामी आभिजात्य वर्ग के ही द्वारा, वरन् 'व्यावहारिक वीरों' (Practical Heroes) अर्थात् उद्योगों के प्रधानों के द्वारा भी मुक्ति मिलना संभव है। 'अन्तर्विवाह और अन्य प्रकारों से' औद्योगिक शासक पदवी-युक्त आभिजात्यवर्ग से संबंध में आएगा; और इसी बीच अपने क्षेत्र के अन्तर्गत वह शिक्षण और क़वायद की उन्हीं

रेखाओं पर कार्य करना आरंभ कर सकता है। क़वायद की अधिक सुविधा के लिए उसके आदमियों को उससे एक स्थायी संबंध के द्वारा बाँधा जा सकता है। 'अस्थिर अनुबंध' का स्थायी अनुबंध का रूप लेना ही चाहिए : मजूरी के साप्ताहिक अनुबंध को स्थायी सेवकत्व में, यदि उसकी व्यवस्था करना संभव हो, परिवर्तन किया जाना आवश्यक है। इस प्रकार व्यवस्थित और शिक्षित सम्पूर्ण समाज के शीर्ष पर तीन आभिजात्यवर्ग के व्यक्ति और तीन औद्योगिक प्रधान, संभाव्य निःस्वार्थ परामर्शदाताओं के रूप में तीन कल्पना-वीरों (heroes of speculation) के अथवा चिन्तन के पैग़म्बरों के साथ रह सकते हैं। इसी बीच इंग्लैंड के उपनिवेश जो वर्तमान काल में स्वशासन की छलना मात्र के कोहरे में डूबे हुए हैं, अंग्रेज कुलीन व्यक्तियों अथवा राजकुमारों के द्वारा, जो उपनिवेशीय उप-राजाओं के रूप में शासन करें और आनुवांशिक-पदवी युक्त नवीन राजकुलों की स्थापना करें, शासित और व्यवस्थित होते रह सकते हैं।

'लययुक्त मानवीय साहचर्य के मौन सम्मोहन में, इस व्यावहारिक भावना में कि हम सब एक दूसरे के अनुरूप बने हैं,' एकीकृत एक अनुशासित समाज; एक ऐसा समाज जो अपने योग्यतम और सर्वश्रेष्ठ के द्वारा ऊपर से शासित हो—यह कार्लाइल का आदर्श है। वह स्वतंत्रता जिसके बारे में जॉन स्टुअर्ट मिल ने सन् १८५९ के अपने 'एसे' में लिखा था, उसकी घृणा की पात्र है। 'मताधिकार के लिए दैवी आदेश ("सर्व पुरुष मताधिकार"—नहीं, नहीं, घोड़े, कुत्ते आदि, के लिए भी जिन पर अभी विचार नहीं किया गया है); सार्वदेशिक 'गौरवपूर्ण स्वतंत्रता' (बहुत बड़े बहुमत वाले शैतान-पुत्रों के लिए, ऐसा प्रतीत होगा);............"मनुष्यों की समानता", कोई भी मनुष्य किसी अन्य के बराबर, क्वैशी निगर (Quashy Niggar) साक्रेटीज़ अथवा शेक्सपियर के,—इन सब विश्वासों के विरुद्ध वह अपनी घृणा व्यक्त करता है। स्वतंत्र व्यापार के लिए ("सस्ते और अपवित्र के बीच 'स्वतंत्र-दौड़', जैसा वह उसे सम्बोधित करना पसंद करता है) के लिए उसकी घृणा कुछ कम नहीं है। घोड़े की पुरानी जोतों को, जो कष्ट देने के स्थान पर अब सुखदायक बन गई हैं, काट फेंकने की व्यक्तिवादी नीति किस काम की है जब घोड़े पर चढ़ने के लिए कोई मनुष्य 'हीरो' अथवा राजा के पर्याप्त तत्व से युक्त नहीं है।

इस समस्त दृष्टिकोण में, उसकी अभिव्यक्ति सम्बन्धी अनियमितता को पृथक् कर देने पर, विचित्र रूप से प्लेटो का अनुकरण मिलता है। व्यवस्थित लयबद्धता का प्रेम प्लेटो की शिक्षा के अनुरूप ही है। जनतंत्र को एक अस्थायी और निरर्थक वस्तु मानने वाली आलोचना भी प्लेटो जैसी ही है। कार्लाइल का 'हीरो' (Hero) प्लेटो का दार्शनिक राजा ही है। जनतंत्र के विरोधी होते हुए भी प्लेटो और कार्लाइल दोनो ही ऐसे उग्र-सुधारवादी हैं जो समाज का आमूल उन्मूलन कर उसे नवीन आधार पर जमाने के लिए व्यग्र हैं; और यदि प्लेटो द्वारा चुना गया आधार अधिक निश्चयात्मक रूप में समाजवादी है, तो कार्लाइल भी प्रतियोगिता के प्रति अपने दृष्टिकोण और अनुबंध के स्थायित्व की अपनी आकांक्षा में समाजवादी प्रवृत्ति प्रकट करता है। यह समरूपता आकस्मिक नहीं है; इसका अपना मौलिक आधार है। विश्व की आध्यात्मिक यथार्थता के सम्बन्ध में अपने सर्वाधिक सजीव दृष्टिकोण के कारण, आधुनिक विचारकों में कार्लाइल प्लेटो के सर्वाधिक समरूप है। जिस प्रकार प्लेटो 'जार्जियाज़' (Gorgias) में उन छलनाओं और प्रतिरूपों की निंदा करता है जो सत्य का स्थान ले लेते हैं, उसी प्रकार कार्लाइल 'सार्टर रिसार्टस' में उन वस्त्रों और मिथ्या दिखावों की निंदा करता है जो प्रकाश को छिपा लेते हैं। और ठीक उसी प्रकार जैसे प्लेटो वक्तृत्व कला की, जिसे राजनीति का सार माना जाता है, निंदा करता है, कार्लाइल शासन-पद्धति का ढोंग करने वाली व्यर्थ बकवास और बकवास-गृहों (talking-shops) की निंदा करता है। दोनों ही घटना-प्रधान जगत (phenomenal world) से उस दैवी कल्पना (divine idea) की ओर द्रुतगति से बढ़ जाते हैं जो ही एकमात्र सत्य वस्तु है; दोनों ही ऐसे 'हीरो' के द्वारा जिसने प्रबुद्धता प्राप्त कर ली है राजनीति के क्षेत्र में उस कल्पना (Idea) की सिद्धि की आशा करते हैं। यह सत्य है कि प्लेटो अपने 'हीरो' को अध्ययन के एक कठोर क्रम से युक्त करना आवश्यक समझता है और 'प्रतिभा के अभिजात्यतंत्र' के सच्चे रूप की खोज के लिए उस अध्ययन पर विश्वास करता है। कार्लाइल, जो अपेक्षाकृत तर्कवादी (dialectician) कम है और अन्तर्ज्ञानवादी (intuitionist) अधिक, एक ऐसे हीरो का स्वप्न देखता प्रतीत होता है जो जन्मकाल से ही दैवी अन्तर्ज्ञान से युक्त हो और

संकटों के द्वारा अथवा समाज के अंतर्ज्ञान द्वारा खोज निकाला जाय। यहाँ प्लेटो और कार्लाइल की दिशाएँ पृथक् हो जाती हैं; परन्तु उन दोनों में ही एक गरिमामय अधैर्य का भाव है, जो आनन्दपूर्वक समस्त संकटों पर एक साथ सामने से प्रहार कर आदर्श को प्राप्त करने को तत्पर है। एक ऐसी कल्पना (Idea) से संतुष्ट न होकर जो समाज में किसी प्रकार अन्तर्भूत है और अपनी इच्छानुसार रीति से उसे परिवर्तित कर रही है, वे उस कल्पना (Idea) को खोज निकालने और समाज को चेतन रूप में उसके आदर्श के अनुसार निर्मित करने के पक्ष में हैं। उस जनतांत्रिक प्रक्रिया से संतुष्ट न होकर, जिससे समाज अपने शासन के लिए अपने में से सर्वोत्तम लोगों को अपने चुनाव के अनुसार खोज निकालने का प्रयत्न करता है, वे सर्वोत्तम लोगों को एक प्रकार की आकस्मिक क्रांति (coupd'etat) के द्वारा सिंहासनारूढ़ करना चाहते हैं। दोनों में से कोई भी चक्कियों की मन्दगति की पिसाई में विश्वास नहीं करता; उनमें से कोई भी सामूहिक बुद्धि के मन्दगति वाले परंतु सुनिश्चित कार्यकरण में भरोसा नहीं करता। दोनों ही जनतंत्र के विरोधियों के रूप में सामने आते हैं; दोनों की ही प्रवृत्ति यह बात भूल जाने की ओर है कि केवल वही समाज नाश से बचता है जो अपनी मुक्ति स्वयं प्राप्त करता है। यह सत्य है कि उनमें से कोई भी जनतंत्र के इस मौलिक उद्देश्य की निंदा नहीं करता कि प्रत्येक व्यक्ति को राज्य में ही परिपूर्णता प्राप्त करनी चाहिए; यही तो उनका स्वयं का मूलभूत उद्देश्य है। परंतु दोनों ही उस एकमात्र साधन की उपेक्षा करते हैं जिससे उस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है; क्योंकि दोनों हो यह स्वीकार करने में असफल रहे हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी परिपूर्णता की प्राप्ति में आवाज़ होनी चाहिए। जनतंत्र में विश्वास रखने वाला कोई भी व्यक्ति प्लेटो और कार्लाइल के इस महान दावे का खंडन नहीं करेगा कि योग्यतम और सर्वश्रेष्ठ लोगों के आभिजात्य वर्ग को ही शासन करना चाहिए; परंतु जनतंत्र में विश्वास रखने वाले अधिकांश व्यक्ति इस बात में शंका करेंगे कि क्या ऐसे आभिजात्य-वर्ग को सब के स्वतंत्र चुनाव के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से पाया जा सकता है।

× × ×

रस्किन में कलाकार का सौन्दर्य-प्रेम और नीतिज्ञ की सामाजिक-न्याय की कामना दोनों ही संयुक्त थीं। मॉरिस की भाँति वह भी कला के मार्ग से होकर सामाजिक समस्याओं के अध्ययन तक पहुँचा। मॉरिस यह अनुभव करता था कि सौन्दर्य को एक साथ ही अधिक गहन और अधिक व्यापक रूप में विकीर्ण करने के लिए सामाजिक जीवन में आमूल परिवर्तन किया जाना चाहिए। रस्किन अनुभव करता था कि कला को, जो कि अंतिम रूप में राष्ट्रीय स्वभाव की अभिव्यक्ति होती है, अपनी पूर्णता के लिए राष्ट्रीय स्वभाव के परिशोधन की आवश्यकता होती है, और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामाजिक जीवन की उन समस्त संस्थाओं का जो राष्ट्रीय स्वभाव को निर्धारित करने में योग देती हैं, पुनर्निर्माण आवश्यक है। मॉरिस ने यह शिक्षा दी थी कि केवल स्वतंत्र और आनन्दित श्रमिको के लिए ही अच्छा कर्मकौशल संभव है, और केवल एक समाजवादी राज्य में ही स्वतंत्र और आनन्दित श्रमिकों का अस्तित्व हो सकता है, रस्किन ने यह सिखाया कि कला तभी ही शुभ और सुन्दर हो सकती है जब वह सामाजिक और राजनीतिक जीवन के एक ऐसे जगत में विकसित होती है जो स्वयं भी शुभ और सौन्दर्यपूर्ण हो। 'कला कला के लिए ही नहीं, वरन् जीवन से संबंधित कला; कला व्यक्ति और राष्ट्रीय स्वभाव की अभिव्यक्ति के रूप में; उद्यमरहित जीवन अपराध है परन्तु कला के बिना उद्यम क्रूरता है; सामाजिक-न्याय के द्वारा शासित जगत में सौन्दर्य; ये ही विचार रस्किन की पुस्तकों में अन्तर्निहित हैं'। परंतु रस्किन एक कलाकार ही नहीं था; वह एक विचारक भी था जो 'जगत-शिक्षक' टॉमस कार्लाइल के चरणों में बैठा था, और जिसने प्लेटो के दर्शन का, जिससे उसके शिक्षक का उपदेश भी, जैसा कि हमने देखा है, अत्यधिक समरूप था, पूर्ण तृप्तिपूर्वक आस्वादन किया था। कार्लाइल की भाँति रस्किन ने भी एक भौतिकता प्रधान युग में आत्मा की सर्वोच्चता का उपदेश दिया; कार्लाइल की भाँति उसने बुद्धिमान शासकों को खोजने और उन पर विश्वास करने की सर्वोच्च आवश्यकता की शिक्षा दी, यद्यपि, कार्लाइल की भाँति ही, उसने उन्हें खोजने के लिए कुछ संकेत भी उपलब्ध किए। सबसे अधिक, उसे अपने प्लेटो और अन्य यूनानी विचारकों के अध्ययन से उस विचारधारा का प्रवर्तक बनने की प्रेरणा मिली जिसे हम अर्थशास्त्र की यूनानी विचारधारा

कह सकते हैं। जैसा कि प्लेटो, जीनोफ़ोन और अरस्तू की कृतियों को पढ़ने से बोध होता है, यूनानियों के विचारानुसार अर्थशास्त्र अध्ययन का कोई पृथक और स्वतंत्र विषय नहीं है। इसके प्रतिकूल यह राजनीति की उस महान कला की एक अधीन शाखा है जिसका संबंध राजनीतिक समाज के नैतिक उत्थान से है। उनके विचारानुसार, अर्थशास्त्र पर पृथक् रूप में विचार नहीं किया जा सकता। इस पर आचारशास्त्र (Ethics) से संबद्ध रूप में ही विचार किया जाना चाहिए क्योंकि सम्पत्ति एक साध्य के रूप में, जिसका व्यक्ति इच्छानुसार उपयोग कर सकता है, इसकी विषय-वस्तु नहीं है, वरन् वह उन 'उपकरणों के एक समूह' के रूप में इसकी विषय-वस्तु है जिनका समाज के प्रत्येक सदस्य के द्वारा अच्छा और सुन्दर सामाजिक जीवन व्यतीत करने के लिए प्रयोग किया जाना चाहिए। अर्थशास्त्र का यही वह दृष्टिकोण है जिसे उन्नीसवीं शताब्दी में रस्किन ने प्रतिपादित किया था। वह भी प्रसन्नतापूर्वक सम्पत्ति को जीवन के अधीन बनाने को तत्पर था—इस कारण और भी अधिक उत्साहपूर्वक तथा और भी अधिक पूर्ण रूप में कि वह यह अनुभव करता था कि जब सम्पत्ति जीवन की स्वामिनी बन जाती है और उसकी सेविका नहीं रहती तो जीवन में तनिक भी सौन्दर्य रहना संभव नहीं है।

सन् १८५७ में ही रस्किन में, अर्थशास्त्रीय रूढ़िवादिता के गढ़, मान्चेस्टर, में जाकर भाषणों की एक ऐसी माला प्रस्तुत करने का साहस था, जिसमें उसने सम्पत्ति को प्रधानता देने वाली विचार धारा और प्रति स्पर्धा की पूजा पर प्रहार किया था। सर्व प्रथम् 'दि पॉलिटिकल इकॉनामी ऑव आर्ट' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित, परन्तु बाद में 'ए ज्वॉय फ़ार ऐवर' के नवीन शीर्षक के अन्तर्गत पुनर्मुद्रित, इन भाषणों में रस्किन के कुछ आधारभूत सिद्धान्त मिलते हैं। वे प्रतिस्पर्द्धा के स्थान पर सहयोग ('उदाहरणार्थ, घर में'—वही उदाहरण जो प्लेटो ने दिया था) तथा राजकीय शिक्षा प्रबंध, राजकीय नौकरियों तथा वृद्धावस्था के लिए श्रमिकों के वास्ते राजकीय सुविधाओं का प्रतिपादन करते हैं। 'शासन और सहयोग-जीवन के नियम हैं, और अराजकता तथा प्रतिस्पर्द्धा मृत्यु के जीवन के नियम का पालन करने के लिए श्रमिकों को सैनिकों जैसा बन जाना आवश्यक है। उनकी सैनिकों जैसी ही शिक्षा होनी चाहिए और उन्हीं जैसा मार्ग दर्शन।

उन दिनों लोग 'हलधर सैनिकों तथा तलवार धारी सैनिकों' की समान रूप से बात किया करेंगे। इस प्रकार के उपदेश ने 'यद्भाव्यं' सिद्धान्त पर चलने वाले जगत को कँपा दिया; और आलोचकों ने रस्किन पर वही आरोप लगाए जो मैकॉले ने साउदे (Southey) के विरुद्ध लगाए थे। उन्होंने कहा कि वह राज्य को 'हर कार्य में हस्तक्षेप करने वाला...प्रत्येक ग्राम के लिए एक दानशील महिला सरीखा, तथा प्रत्येक घर के लिए एक 'पॉल प्राई' जैसा बना देना चाहता है।' अपने आलोचकों से भयभीत न होकर, सन् १८६० में रस्किन ने 'अन्टू दिस लास्ट' Unto this Last) शीर्षक के अन्तर्गत राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्रथम सिद्धांतों पर अपना एक नया निबंध प्रकाशित किया। इसमें जो कि संभवतः सामाजिक विषयों पर उसकी सर्वोत्तम तथा निश्चित रूप से उसकी श्रेष्ठतम पुस्तक है—रस्किन ने अर्थशास्त्रियों के 'आर्थिक मनुष्य' की धारणा का मूलोच्छेद करने तथा इस सिद्धान्त को स्थापित करने का प्रयत्न किया है कि ऐसा मनुष्य जिस पर विज्ञान विचार कर सकता है सम्पूर्ण मनुष्य—अर्थात् मनुष्य अपने समस्त सामाजिक संबंधों और अनुरागों के सहित—है, उसने राजनीतिक अर्थशास्त्र को नैतिक बनाने और उसे राजनीतिशास्त्र को उसके अच्छी नागरिकता का निर्माण करने के उच्च और चरम उद्देश्य में निष्ठावान सेवा करने वाले अधीन विज्ञान के रूप में उचित स्थान दिलाने का प्रयत्न किया है। इस उद्देश्य को ध्यान में रख कर वह राज्य से एक बार पुनः अपने कार्य-क्षेत्र को अधिक व्यापक बनाने की अपील करता है। वह उससे अपने नागरिकों को स्वास्थ्य व आचार और व्यवहार के नियमों तथा अच्छी शिल्पकारिता की शिक्षा देने, बेकारों को अनिवार्य रूप से काम पर लगाने, तथा वृद्धों और अनाथों के लिए आराम के साधनों और गृहों की व्यवस्था करने को कहता है। उसे यद्भाव्य की नीति समाप्त कर विवेकपूर्ण पैतृकवाद को अपनाना चाहिए। बुद्धिमान व्यापारी को यह बात माननी चाहिए कि उसे अपने कर्मचारियों के जीवन के बारे में 'स्पष्टतः पैतृक शक्ति और उत्तरदायित्व' प्रदान की गई है; बुद्धमान विचारक को 'कुछ मनुष्यों की दूसरे मनुष्यों की तुलना में और कभी-कभी केवल 'एक की ही अन्य सब की तुलना में शाश्वत श्रेष्ठता' की शिक्षा देने तथा इस बात की कि ऐसे व्यक्तियों अथवा व्यक्ति को अपने उत्तम ज्ञान और

अधिक विवेकपूर्ण इच्छा के अनुसार अपने से हीन व्यक्तियों का मार्ग-दर्शन तथा नेतृत्व करने एवं समय पड़ने पर उन पर बल प्रयोग करने और उन्हें दासवत् बनाने में भी हित हो सकता है, दिखाने का प्रयत्न करना चाहिए।

यदि वह, जैसा कि फ्रेडरिक हैरिसन का कथन है, 'सार्टर रिसार्टस (Sartor Resartus) के बाद की साहित्य की सर्वाधिक मौलिक और रचनात्मक कृति' न भी हो, तो भी 'अन्टू दिस लास्ट', जैसा कि स्वयं रस्किन का विश्वास था, उसकी श्रेष्ठतम उपलब्धि को प्रस्तुत करती है। अपनी अन्य और बाद की कृतियों में उसने अधिकांशतः अपनी विचारधारा में विवरण ही जोड़ा है। सन् १८६३ में प्रकाशित 'मनेरा पलवेरिस' (Munera Pulveris) में उसने रूढ़ि-प्रेमी अर्थशास्त्रियों की सम्पत्ति सम्बन्धी धारणा पर प्रहार किया है। पार्लमेंट सम्बन्धी द्वितीय सुधार विधेयक के वर्ष सन् १८६७ में प्रकाशित 'टाइम एंड टाइड' (Time and Tide) में उसने राजनीतिक सुधार की अपेक्षा सामाजिक सुधार की प्राथमिकता का समर्थन किया है और कार्लाइल की सी भावना के साथ यह कहता है कि निर्वाचन-क्षेत्रों और मत-पेटिकाओं से अधिक महत्त्व का विषय इंग्लैंड की दशा है। कार्लाइल के प्रभाव के अधीन तथा अपने गुरु के द्वारा 'पास्ट एंड प्रेज़ेंट' नामक पुस्तक में दिखाए गए क्रोध को अंशतः लिए हुए सन् १८७१ और १८७८ के मध्य श्रमिकों के नाम लिखे गए अपने पत्रों की एक माला 'फ़ोर्स क्लेविजेरा' (Fors Clavigera) में रस्किन ने अपने युग की दशा की आलोचना की और 'उन दशाओं को दिखाने का प्रयत्न किया जिनमें ही एकमात्र रूप से महान कला' (जो कि स्वयं ही शिल्पी के सुखद जीवन का परिणाम होती है) भविष्य में 'संभव होगी।' इसी काल में 'सेंट जार्जेज़ गिल्ड' (St. George's Guild) नामक संस्था की स्थापना हुई—जिसका 'मास्टर' रस्किन था। इस संस्था के सदस्यों को आठ शपथें लेनी पड़ती थीं जिनमें रस्किन की विचारधारा परिवेष्ठित थी। उसकी ऐसे श्रमिकों को बसाने के लिए जो निर्धारित पारिश्रमिक पाएँ और जिन्हें जीवन की श्रेष्ठ दशाएँ उपलब्ध हों, 'भूमि अर्जित करने की व्यावहारिक नीति थी (जो कि व्यवहार में असफल सी ही रही)। इस बात पर ध्यान देने से आश्चर्य ही होता है कि इन आयोजित बस्तियों का जो कि 'कड़ी

सैनिक व्यवस्था के लाभों' को व्यवहार रूप देने वाले भू-स्वामी आभिजात्यवर्ग के नियंत्रण में रहतीं, 'शूटिंग निआगरा' नामक पुस्तक में कार्लाइल के द्वारा दी गई शिक्षा से कितना साम्य है।

रस्किन कार्लाइल से अधिक समाजवादी नहीं था। वह आर्थिक जीवन के उस जनतान्त्रिक नियंत्रण में विश्वास नहीं करता था जो कि समाजवादी विचारधारा का अति महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। वह भूमि के राष्ट्रीयकरण में नहीं वरन् भू-स्वामियों को इस बात पर राज़ी करने में विश्वास करता था कि उन्हें अपनी भूमि को इस प्रकार उपयोग में लाना चाहिए जिससे श्रेष्ठ और सुन्दर मानवीय जीवन की सृष्टि हो। इतना होने पर भी, कई प्रकार से उसने समाजवाद के लिए भूमि तैयार की। अपनी शैली के आकर्षण और अपनी कृतियों की लोकप्रियता से उसने समस्त वर्गों में व्यापक रूप से परंपरागत व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र के प्रति अविश्वास का भाव फैलाया। उसने हज़ारों पाठको को आर्थिक प्रेरणा-शक्ति के उस अमूर्त रूप की, जिस पर वह आधारित थी, आलोचना करना और आर्थिक अध्ययन के किसी प्रयत्न में सामाजिक अनुराग और आर्थिक प्रेरणा से पूर्ण सम्पूर्ण मनुष्य से आरंभ करने की आवश्यकता पर विश्वास करना सिखाया। उसने पुनः मनुष्यों का ध्यान सम्पत्ति के संचयन से उसके उपयोग की ओर मोड़ा। उसने यह उपदेश दिया कि सम्पत्ति का अर्जन नहीं उसका व्यय करना महत्त्वपूर्ण है; और यह कि राज्य का उद्देश्य इस बात के लिए मार्ग प्रशस्त करना नहीं है कि आर्थिक मनुष्य को उत्पादन का स्वतंत्र अवसर मिले, वरन् यह कि वह दशाओं को इस प्रकार समायोजित करे कि सम्पूर्ण मनुष्य सौन्दर्यपूर्ण जीवन के निर्माण के लिए अपने उपकरणों को प्रयोग कर सके। इस प्रकार के उपदेश ने विशुद्ध अर्थशास्त्र की विचारधाराओं को प्रभावित किया है। इसने जेवंस (Jevons) के समय से अर्थशास्त्रियों को उत्पत्ति के सिद्धांत से उपभोग के सिद्धांत की ओर मुड़ने में सहायता दी है। यह बचत पर अधिक ज़ोर देने की पुरानी प्रणाली में सुधार करने और व्यय को अधिक महत्त्वपूर्ण बनाने में सहायक हुई है। और इसने अर्घ (value) सम्बन्धी इस धारणा का कि वह मुख्यतः उत्पादन-व्यय के आधार पर निर्धारित होता है सुधार करने तथा मूल्य के निर्माण में उपयोगिता के प्रभाव को अधिक

स्थान देने में सहायता दी है। न ही यह बात है कि रस्किन के विचारों ने केवल अर्थशास्त्र को ही प्रभावित किया हो; उन्होंने राजनीतिशास्त्र के सिद्धांत और व्यवहार को भी प्रभावित किया है। जब रस्किन ने लिखना आरंभ किया था तब 'यद्भाव्यं' (laissez faire) राजनीतिशास्त्र का भी उतना ही मान्य सिद्धान्त था जितना अर्थशास्त्र का। उसकी कृतियों ने इस सिद्धान्त के दोनों क्षेत्रों में प्रयोग को क्षति पहुँचाई। उसने बालकों की शिक्षा, वयस्कों के रोज़गार और वृद्धों की सुविधा के लिए राज्य के हस्तक्षेप को अधिक व्यापक बनाने की वकालत की; और उसकी कृतियों की लोकप्रियता ने उसे संभवतः अन्य किसी लेखक से अधिक, लोगों में राज्य के प्रति परंपरागत अविश्वास को दूर करने और जैसा कि सन् १८७० के बाद लोगों ने अधिकाधिक रूप में किया है, अपने सदस्यों के लिए समाज की क्रियाशीलता का स्वागत करने की प्रवृत्ति जाग्रत करने में सहायता देने की क्षमता प्रदान की। यदि रस्किन इंग्लैंड के समाजवाद का पिता नहीं था तो वह अनेक अंग्रेज समाजवादियों का प्रतिपालक अवश्य ही था।

तथापि, वह एक समाजवादी होने की अपेक्षा प्लेटोवादी ही है। कार्ल मार्क्स के 'कैपिटल' की अपेक्षा ज़ीनोफ़ोन के 'इकॉनॉमिस्ट' में उसकी अधिक अभिरुचि थी। अपने यूनानी गुरुओं की ही भाँति, उसने भी विनिमय की पूर्ण प्रक्रिया को निरर्थक घोषित करने की भूल की, यद्यपि ऐसा करने के लिए उसके पास उन जैसा औचित्य न था। अपनी सशक्तता और दुर्बलता में उसकी राजनीतिक शिक्षा अनिवार्य रूप से प्लेटो की शिक्षा पर आधारित है उसमें हमें शिक्षा के लिए प्लेटो का उत्साह और प्लेटो के शिक्षा सम्बन्धी सिद्धांत का पर्याप्त भाग मिलता है। उसने यह कहा और इंग्लैंड को इस बात का विश्वास दिलाने में योग दिया कि शिक्षा का उद्देश्य और प्रयोजन व्यवहार (behaviour) है, ज्ञान नहीं; वह चरित्र है न कि मात्र बुद्धिशीलता; संक्षेप में वह 'शरीर और आत्मा का पूर्ण प्रयोग और उनका राजवत् नियंत्रण' है। प्लेटो की भाँति उसने कला के प्रभाव के एक बहुत विस्तृत क्षेत्र को स्वीकार किया। सौन्दर्ययुक्त प्रकृति के अध्ययन की आवश्यकता, विद्यालयकक्ष में बालक के चारों ओर सुन्दर चित्रों और कलाकृत्रियों को लगाने की आवश्यकता, 'शिक्षा के दो

प्रधान उपकरणों,' संगीत और नृत्य, के प्रशिक्षण की आवश्यकता,—ये सब उसकी रचनाओं में बार बार आनेवाले प्रसंग हैं। जब वह कलाओं और शिल्पों के व्यावहारिक और प्राविधिक प्रशिक्षण पर ज़ोर देता है तथा जब वह 'मनुष्यों के एक दूसरे के प्रति कर्तव्यों तथा सम्बन्धो के विज्ञान'—जिसे हम आजकल नागरिकशास्त्र कहते हैं, की शिक्षा की माँग करता है (उसका विचार था कि उसका सर्वोत्तम अध्ययन ज़ेनोफ़ोन की पुस्तक 'इकॉनॉमिस्ट' में किया जा सकता है) तो वह अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक प्रतीत होता है, परन्तु इसके कारण उसके प्लेटो के अनुकरण में कमी नहीं आती। परन्तु व्यापक अर्थ में शिक्षा के प्रति उत्साह के कारण रस्किन के हृदय में जनतंत्र के प्रति प्लेटो से अधिक विश्वास उत्पन्न नहीं होता। मिल की भाँति वह यह नहीं कह पाता कि मताधिकार से और उसके द्वारा नागरिक विचार और इच्छा की अतुलनीय शिक्षा पाते हैं। सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्ति का शासन ही उसका आदर्श है; और स्पष्टतः जनसमूह न तो स्वयं बुद्धिमान् होता है और न बुद्धिमान् को चुन लेने की योग्यता ही रखता है। बुद्धिमान् व्यक्ति को किस प्रकार खोजा जाय, यह बात अपने गुरु की ही भाँति रस्किन न तो बताता है और न वह यह बताने में समर्थ ही था। अंत की ओर 'जहाँ सौन्दर्य और श्रम के उदार नियमों पर न्याय-सूर्य चमकता है,' अतिशीघ्रता से जाते हुए वह उसकी प्राप्ति के उपायों को या तो अनिर्वचित छोड़ देता है अथवा सेंट जार्ज गिल्ड के संगठन की रूपरेखा जैसे कल्पनामय छायांकनों में, जो 'मास्टर्स', 'मार्शल्स', 'लैंडलार्ड्स' और 'कम्पेनियन्स' से पूर्ण हैं, उनकी रूपरेखा अंकित कर छोड़ देता है। परन्तु कार्लाइल और रस्किन जैसे पैग़म्बरों का यह सबसे बड़ा दोष है कि वे जनतंत्र के मार्गोपायों से घृणा करते हुए प्रतिक्रियावादियों के साथ एक प्रकार की सुधार-विरोधी मैत्री में फँस जाते हैं। जब ग्लासगो विश्वविद्यालय के छात्रों ने उसे एक निर्वाचन-भाषण देने के लिए कहा तो उसके इस कथन से कि "तुम लोगों का राजनीति से उतना ही सम्बन्ध है जितना चूहे पकड़ने से...... परंतु मै उदारतावाद को उसी प्रकार घृणा करता हूँ जिस प्रकार बीलज़ेबब (Beelzebub), को और मै कार्लाइल के साथ ईश्वर और सम्राज्ञी का समर्थक हूँ और इग्लैंड में हम दो व्यक्ति ही ऐसे हैं जो ऐसा करते हैं," कोई सहायता

नहीं मिली। पूर्ण रूप में देखने पर कार्लाइल का प्रभाव प्राधिकारवाद (authoritarianism) के पक्ष में ही था; और मैथ्यू आर्नाल्ड (Matthew Arnold) की शिक्षा भी उसी दिशा में थी। परंतु जहाँ कार्लाइल प्राधिकार की सहायता दैवी न्याय को प्राप्त करने के लिए चाहता था, आर्नाल्ड ने व्यक्तिवादी युग की अव्यवस्था के विरुद्ध संस्कृति के माधुर्य और प्रकाश की रक्षा के लिए प्राधिकार की सहायता ली। 'कल्चर एंड अनार्की' (१८६६), में नीतिशास्त्री की अपेक्षा कलाकार का ही 'मान्चेस्टरशाही' के विरुद्ध विद्रोह प्रकट हुआ है; और इस अर्थ में आर्नाल्ड रस्किन और मॉरिस का साथी है। परंतु वह इंग्लैंड की राजनीति के एक केन्द्रीय तथ्य पर—अर्थात् राज्य, यानी 'राष्ट्र के सामूहिक और निगमित रूप में जब वह अपने नागरिकों पर सबके उच्चतर विवेक के नाम पर शासन के रूप में नियंत्रण रखता है' सम्बन्धी कोई धारणा निर्माण करने में असमर्थता पर—अधिक निश्चयात्मक रीति से निर्देश करता है। इस असमर्थता का कारण अंशतः 'डिसेंट' की शताब्दियों का प्रभाव और अंशतः 'यद्भाव्यं' के अर्थशास्त्र का प्रभाव था। सद्-विवेक (right reason) को सिंहासनारूढ़ करने के लिए आर्नाल्ड न तो बर्बरों के आभिजात्यवर्ग के शासन का पक्ष लेता है, न असंस्कृत मध्य वर्ग के लोगों के शासन का और न जनसमूह के, वरन् वह एक ऐसे प्राधिकारी का पक्ष लेता है जो हमारे संस्कृति से पूर्ण बनाए गए आत्मनो (selves) का प्रतिनिधित्व करता है। वह इस बात का निश्चय नहीं करता कि इस प्रकार का प्राधिकारी कहाँ पाया जा सकता है; वह इस प्रकार के प्राधिकारी को संभव बनाने के लिए संस्कृति के द्वारा आत्मपूर्णता प्राप्त करने के कर्तव्य पर विशेष ज़ोर देता है। परन्तु जब वह साहित्य के क्षेत्र में 'अकाडमी' सरीखे एक प्राधिकारी केन्द्र का पक्ष लेता है, जब वह यह कहता है कि प्रातिनिधिक शासन सद्विवेक के शासन की स्थापना के बजाय जनसमूह को नीचतापूर्ण कार्य करने में सहायता देता है, जब वह प्रशा में शिक्षा के लिए पूर्ण एकतंत्र शासन के द्वारा किए गए कार्य की प्रशंसा करता है, तो उसका झुकाव स्पष्ट दीख जाता है। अच्छी प्रकृति अथवा सद्विवेक के नाम पर वह एक ऐसा प्राधिकारी खोजता है जो किसी भी वर्ग के बुरे स्वभाव को प्रश्रय न दे और इस कारण जिसको, यह,

कहा जा सकता है, अप्रातिनिधिक होना ही चाहिए। और यह जानना कठिन है कि पूर्ण एकतंत्र के अतिरिक्त ऐसा प्राधिकारी अन्य कहाँ पाया जा सकता है। आर्नाल्ड ने तुरन्त इस बात का खंडन किया होता कि वह ऐसी कोई वस्तु चाहता था; उसने इस विचार के प्रति मृदुल और अनिश्चित अर्थ वाले व्यंग से उत्तर दिया होता; और इतना होने पर भी यह उसकी शिक्षा का एक युक्तियुक्त पक्ष है।

× × ×

कार्लाइल, रस्किन और आर्नाल्ड की कृतियों में लक्षित होने वाला प्राधिकारवाद इंग्लैंड के 'पजिटिविस्ट्स' (Positivists) में भी, जो कि कॉम्टे (Comte) के अनुयायी थे, लक्षित होता है। इंग्लैंड में 'पाजिटिविज्म' का इतिहास १८४८ से आरंभ होता है जब कि ऑक्सफ़ोर्ड के वाढम कॉलेज के 'फ़ैलो' रिचार्ड कान्ग्रीव ने पेरिस की यात्रा की और कॉम्टे के प्रभाव को ग्रहण किया। उसी कॉलेज के तीन अन्य सदस्य, एडवर्ड बीज़ली (Edward Beesly), जॉन हेनरी और फ्रेडरिक हैरिसन, भी कॉन्ग्रीव के उदाहरण और कॉम्टे की शिक्षा के अनुवर्ती बने। परंतु इंग्लैंड का 'पाजिटिविज्म' बहुत कुछ एक रहस्यमय विचारधारा ही रहा है; और यह एक राजनीतिक विचारधारा के प्रतिपादन की अपेक्षा मानव-धर्म में विश्वास के प्रतिपादन की ओर ही अधिक निदेशित रहा है। इसके अनुयायियों ने राजनीति की शिक्षा यदि दी भी है तो वे केवल अपने गुरु के सिद्धांतों की विवेचना करने तक ही सीमित रहे हैं। यद्यपि कॉम्टे ने समस्त तत्वज्ञान संबंधी सिद्धांतों (metaphysical principles) को अस्वीकार कर दिया, और अतीत व वर्तमान से निगमन के द्वारा प्राप्त अस्तिवाची सिद्धान्तों के अतिरिक्त अन्य किसी सिद्धान्त को नहीं माना और यहाँ वह प्लेटो से भिन्न दिशा में जाता है, परंतु फिर भी राज्य के पुनर्निर्माण और पुनर्निर्मित राज्य के वैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रकाश में मार्गदर्शन संबंधी अपने विश्वास में वह प्लेटो को अनुयायी ही था। पुनः, बहुत कुछ प्लेटो की ही तरह, यद्यपि वह प्लेटो की अपेक्षा मध्यकालीन चर्च से अधिक प्रभावित हुआ था, उसने आध्यात्मिक और लौकिक सत्ता तथा आध्यात्मिक और लौकिक वर्ग में भेद स्थापित किया। उसका आदर्श राज्य एक ऐसा राज्य होता जिसमें आध्यात्मिक वर्ग,

जो कि विज्ञान का ज्ञाता, विवेक को अभिव्यक्त करने वाला और बल के स्थान पर स्वीकृति से कार्य करने वाला वर्ग होता, वैज्ञानिक सिद्धांतों के प्रकाश में प्रत्येक मामले में मार्गदर्शन करता।

अपनी युवावस्था में कॉम्टे सेंट साइमन के साथ घनिष्ठ रूप से संबंधित रहा था, और सेंट साइमन से ही उसने यह विश्वास ग्रहण किया कि दर्शनशास्त्र का ध्येय सामाजिक होना चाहिए और उसका कार्य समाज-सुधार। आध्यात्मिक और लौकिक सत्ता में भेद स्थापित करने में भी वह सेंट साइमन का अत्यधिक ऋणी था। सेंट साइमन की गणना समाजवाद के प्रवर्तकों और श्रमिक दल के प्रतिपादकों में होती है; और यद्यपि काँम्टे ने स्वयं सेंट साइमन का इस दिशा में नगण्य सा ही अनुकरण किया, उसका स्वय का एक सिद्धान्त यह था कि पुरानी सैनिक शासन-व्यवस्था एक नवीन उद्योग-प्रधान शासन व्यवस्था के लिए स्थान छोड़ देगी। इस कारण यह बात आश्चर्यजनक नहीं है कि सन् १८६४ में कॉम्टे के एक अंग्रेज शिष्य, "बीज्ली; ने उस सभा की अध्यक्षता की जिसमें मार्क्स ने 'उद्घाटन भाषण' दिया और 'इन्टरनेशनल' की स्थापना हुई, अथवा यह कि उसने सन् १८८० के बाद एक ब्रिटिश सोशलिस्ट दल की स्थापना में हिण्डमन (Hyndman) का साथ दिया। अन्य अंग्रेज पाजिटिविस्टों से कुछ भिन्न मार्ग पर चलने वाले कॉन्ग्रीव ने एक दूसरी ही दिशा को अपनाया। अरस्तू की पुस्तक 'पॉलिटिक्स' के अपने संस्करण (१८५५) के साथ संबद्ध अपने एक निबंध में उसने चरम आदर्श के लिए मार्ग प्रशस्त करने के उद्देश्य से एक अस्थायी उपाय के रूप में जनमत-संग्रह पर आधारित एक अधिनायक के शासन का प्रतिपादन किया है। उसने तर्क दिया है कि बढ़ते हुए सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला तथा साथ ही पतनोन्मुख आभिजात्यवर्ग का पोषण करता हुआ ऐसा अधिनायक दोनों के बीच मध्यस्थता करेगा; वाद-विवाद को बढ़ावा देकर तथा प्रगति का मार्ग प्रशस्त करता हुआ वह उद्योगवाद के द्वारा अपेक्षित और विकसित नवीन संगठन की दिशा में परिवर्तन-कार्य को सरल बनाएगा। प्राधिकार (authority) के प्रति यह भाव, शीर्ष से बुद्धिमत्तापूर्ण निदेशन की आवश्यकता की यह भावना, कॉम्टे की विचारधारा का एक मूल सिद्धान्त होने के साथ ही, इंग्लैंड के 'पाजिटिविज्म' के मूल सिद्धान्तों में से एक है।

अन्य किसी साहित्यकार ने इंग्लैंड की राजनीति को उतना अधिक प्रभावित नहीं किया, जितना कार्लाइल और रस्किन ने। परंतु जिस काल का हम अध्ययन कर रहे हैं उसकी सम्पूर्ण ऐतिहासिक परंपरा मुख्यतः उसी दिशा में रही है जिसको हमने उनकी कृतियों में खोजने का प्रयास किया है। जब साहित्य सामाजिक और राजनीतिक जीवन की ओर मुड़ा है तो उसने इंग्लैंड की दिशा की आलोचना और एक प्राधिकारवादी राज्य (authoritative state) के द्वारा सामाजिक पुनर्निर्माण के सुझाव का रूप ही लिया है। डिकेन्स, जो कि आरंभिक काल में उग्र सुधारवादी चिन्तन का प्रतिनिधि था, सन् १८५४ में 'हार्ड टाइम्स' के माध्यम से व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र पर प्रहार कर रहा था जिसकी रस्किन ने बहुत प्रशंसा की थी। फ्राउडे (Froude) ने कार्लाइल की परंपरा को बनाए रक्खा और सशक्त पुरुषों को ही समाज का रक्षक घोषित किया। 'एसेज़ ऑन पॉलिटिकल एंड सोशल साइंस' (१८५३) के लेखक डब्लू० आर० ग्रेग (W. R. Greg) से लेकर 'डेमोक्रेसी एंड लिबर्टी' (१८६८) के लेखक डब्लू० ई० एच० लेकी (W. E. H. Lecky) तक समस्त सामयिक-लेखकों (Publicists) का मुख्य उद्देश्य व्यवस्था और आभिजात्यतन्त्र ही था न कि प्रगति और प्रजातंत्र। ग्रेग के विषय में लॉर्ड मार्ले का कथन, जिसे वह 'शासन के पांडित्याभिमानी अथवा दुराराध्य सम्प्रदाय के साहित्यिक प्रतिनिधियों में से एक' बतलाता है, अन्य बहुतों के लिए भी उपयुक्त है। 'अन्य अनेक साहित्यिक विचारकों की भाँति राजनीति संबंधी उसका आदर्श शिक्षा, सद्गुण तथा सार्वजनिक भावना, न कि जाति के आधार पर स्थापित आभिजात्यतंत्र था......जो कि प्लेटो से लेकर टर्गाट तक समस्त श्रेष्ठ विचारकों का स्वप्न रहा है।' इस बात पर कि क्या स्वयं लॉर्ड मार्ले को, जिनका नाम आज भी देदीप्यमान और श्रद्धास्पद है, राजनीति का एक साहित्यिक विचारक कहा जाय अथवा एक ऐसा राजनीतिज्ञ जो एक महान् साहित्यिक विचारक भी था, हमें विवेचना करने की आवश्यकता नहीं है। इतना तो निश्चय ही स्पष्ट है कि लार्ड ब्राइस की भाँति 'कम्प्रोमाइज' का लेखक भी साहित्यिक चिंतन की शक्ति को प्रजातंत्र में दृढ़ विश्वास के साथ संयुक्त करने में सफल हो सका था।

हमारे अपने समय के साहित्यिक पैग़म्बर संभवतः प्राधिकार के सेवकों की

अपेक्षा उसके प्रति विद्रोही ही अधिक लगेंगे। बेलॉक, शॉ, और वैल्स को सामाजिक व्यवस्था के रक्षक कहना कठिन ही है। उन्होंने पुस्तिकाओं अथवा निबंधों, नाटकों अथवा उपन्यासों के द्वारा जिन सिद्धांतों का निहित रूप से समर्थन किया है, उन पर विचार करना उचित रूप में अगले अध्याय का विषय है। यहाँ एक बात कह देना अनुचित न होगा। शॉ और वैल्स दोनों ही समाजवाद के इतिहास में महत्त्वपूर्ण व्यक्ति रहे हैं। कार्लाइल और रस्किन समाजवादी नहीं थे, परन्तु उन्होंने अन्य समस्त अंग्रेज़ विचारकों से समाजवाद का मार्ग प्रशस्त करने वाले विचारों को प्रसारित करने के लिए अधिक कार्य किया है। विल थॉर्न (Will.Thorne) जैसे समाजवादी के लिए भी सन् १६०६ के अपने निर्वाचन-भाषण में कार्लाइल के उद्धरण प्रस्तुत करने में कठिनाई नहीं हुई, सन् १६०६ की 'पार्लमेंट' के लेबर दल के सदस्यों ने, जिनमें से अनेक समाजवादी थे, यह स्वीकार किया कि उन्हें रस्किन की एक पुस्तक में ही अपने जीवन का प्रधान साहित्यिक प्रभाव प्राप्त हुआ। यह बात ऐतिहासिक संबद्धता के अनुरूप ही प्रतीत होती है कि हमारे काल के कुछ सर्वप्रधान साहित्यिक व्यक्ति निश्चित रूप से समाजवादी हों। जो लोग अपनी कृतियों में चिन्तन के 'ल्यूसीडस ऑर्डो' का ध्येय सामने रखते हों वे एक आंतरिक-क्रिया के द्वारा सामाजिक जीवन में व्यवस्था के सौंदर्य और स्पष्टता के आकर्षण को खोजने के लिए प्रेरित होते हैं। रस्किन और कार्लाइल ने उस सौंदर्य और आकर्षण को एक प्रकार से खोजने का प्रयास किया; हमारे समकालीन साहित्यिकों की प्रवृत्ति उसे दूसरे प्रकार से खोजने की ओर है। परन्तु उनमें कुछ भी अन्तर क्यों न हो, साहित्यकार स्वभावतः ही राजनीतिक विषयों में प्लेटो के अनुगामी होते हैं। यहाँ तक कि हिलेर बेलॉक (Hillaire Belloc) भी, जो कि 'दास-राज्य' (Servile State) पर अपने प्रहारों के कारण एक उत्साही अराजकतावादी प्रतीत होता है, और जो अपनी विचारधारा में कैथोलिक विचारों, श्रमिक-संघवाद (Syndicalism) तथा भूमि पर कृषकों के स्वामित्व के अपने विश्वास का विचित्र सा सम्मिश्रण कर देता है, अंतस्तल में साहित्यिक परंपरा का ही अनुगमन करता है। वह पूँजीवादी अराजकता के स्थान पर अपने कुछ साथी साहित्यकारों की भाँति राज्य के पतित स्वरूप को प्रतिष्ठित करना नहीं चाहता, वरन् एक

'व्यवस्था को—एक सु-विभाजित सम्पत्ति एवं क्रमागत सहकारी संघों की व्यवस्था तथा सर्वोपरि रूप में प्राचीन 'विश्वास' को योरोप के हृद्स्थल में अपने आत्मीय तथा उच्च स्थान पर पुनर्स्थापित करना चाहता है।

अध्याय ८

अर्थशास्त्र और राजनीति

मुख्यतः बेन्थम की विचारधारा पर आधारित, परन्तु 'यद्भाव्यं' की आर्थिक विचारधारा से पुष्ट, व्यक्तिवाद, लगभग सन् १८८० तक इंग्लैंड के अधिकांश लेखकों तथा विचारकों का मान्य राजनीतिक सिद्धान्त बना रहा। निस्सन्देह, इसके पूर्व ही अन्य प्रवृत्तियाँ भी दृष्टिगोचर हुईं। डाइसी के अनुसार सन् १८-७० के लगभग, जब डब्लू-ई० फ़ार्स्टर ने प्रथम शिक्षा अधिनियम पारित किया, विधेयन द्रष्टव्य रूप में 'समष्टिवादी' हो गया था। लोकमत, जो कि विधि-निर्माण की पृष्टभूमि में रहता है, इसके भी पहले से समाजवादी विचारों की ओर अग्रसर हो रहा था। यह सत्य है कि सन् १८४८ में 'चार्टिज्म' की परिसमाप्ति के पश्चात् समाज के पुनर्गठन के लिए श्रमजीवी वर्गों का कोई विशद आन्दोलन नहीं रहा था। सातवें दशक में अनेक हड़तालें हुईं और आठवें दशक में श्रमिक संघों ने पार्लमेंट से एक नवीन स्वतंत्रता का दावा किया और सन् १८७१ और १८७६ के अधिनियमों से उसे प्राप्त कर लिया; परन्तु पूर्ण रूप में देखने पर यही प्रतीत होता है कि श्रमजीवी वर्गों ने राजनीति में पृथक अभिरुचि नहीं रखी और वे लिबरल दल के वाम पक्ष में मिल गए। फिर भी सन् १८४८ और १८-८० के बीच अनेक क्षेत्रों से व्यक्तिवाद और 'यद्भाव्यं' का अनवरत विरोध होता रहा। कार्लाइल ने इस विचारधारा का खंडन करना अथवा समाज का बुद्धिमत्तापूर्वक निदेशन करने वाले तथा 'पारिश्रमिक को अधिकाधिक श्रम के अनुपात में निश्चित करनेवाले' 'प्रतिभाशील व्यक्तियां के आभिजात्यतंत्र' के पक्ष में प्रचार करना बंद नहीं किया। इसके अतिरिक्त 'क्रिश्चियन सोशलिस्ट' भी थे, जिनके बारे में यह कहा जाता है कि उन्होंने 'चार्टिज्म' की अन्त्येष्टि क्रिया की। सन १८५० में 'ट्रैक्ट्स ऑन क्रिश्चियन सोशलिज्म' तथा किंग्सले की पुस्तक 'एल्टन लॉक, प्रकाशित हुई; परन्तु मॉरिस और किंग्सले का 'क्रिश्चियन सोशलिज्म' केवल चार वर्ष के संक्षिप्त काल तक ही जीवित रहा। उससे कहीं

अधिक गंभीर मार्क्स की गतिविधि थी, जिसने, सन् १८६४ में, 'पाजिटिविस्ट' एडवर्ड बीज्ली की सहायता से, प्रथम इंटरनेशनल की स्थापना की और जिसने अपने उद्घाटन-भाषण में श्रमजीवी वर्ग की स्वतंत्र कार्यवाही तथा समाज के समाजवादी पुनर्निर्माण के लिए उनके अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को उसका उद्देश्य बताया। परंतु, इंग्लैंड पर 'इंटरनेश्नल' का उसके व्यथित जीवनकाल में बहुत कम प्रभाव पड़ा; और सन् १८८० तक स्वयं मार्क्स का प्रभाव भी गंभीरतापूर्वक अनुभव नहीं किया गया।

वाह्य शक्तियों की क्रिया की अपेक्षा, व्यक्तिवाद के आन्तरिक विकास में ही विचारों की क्रांति हुई है। बेन्थम ने ऐसे दो सिद्धांतों का प्रतिपादन किया था जो एक दूसरे से पूर्णतया मेल नहीं खाते थे। एक ओर उसने, मुख्यतः आर्थिक क्षेत्र से संबंधित, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना हित-साधन करने का अधिकार है, दूसरी ओर उसने राजनीतिक क्षेत्र में सर्वाधिक लोगों के सर्वाधिक सुख को सुनिश्चित करना राज्य का अधिकार और कर्तव्य बताया था। आने वाले समय ने इनमें से द्वितीय सिद्धान्त को प्रथम की कीमत पर अधिक महत्व दिया। 'यद्भाव्यं' के सिद्धान्त की न केवल कार्लाइल ने ही निंदा की, अपितु वह यथार्थ में अनेक फैक्टरी अधिनियमों की एक माला में, लार्ड शेफ्ट्सबरी जैसे लोगों के निदेशन में, राज्य के द्वारा परित्यजित कर दिया गया। यह परिवर्तन उस समय और भी अधिक चित्ताकर्षक हो गया जब स्वयं जॉन स्टुअर्ट मिल ने साउथे की जगह 'आधुनिक समष्टिवाद के अग्रदूत' का स्थान ग्रहण किया। सन् १८४८ में ही मिल ने अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपिल्स ऑव पॉलिटिकल इकॉनॉमी' में यह स्वीकार किया था कि वितरण एक कृत्रिम प्रबंध का विषय है जिसे राज्य द्वारा नियमित किया जा सकता है, और भूमि के अनर्जित लाभ (unearned increment) पर कर लगाने का प्रतिपादन किया था। यहाँ उसने वह आधारशिलाएँ रखीं जिन पर आगे चल कर फ़ेबियन दल को निर्माण-कार्य करना था। यह सत्य है कि 'एसे ऑन लिबर्टी' (१८५९) में आध्यात्मिक स्वतंत्रता तथा मौलिकता का विधियों अथवा सामाजिक विचारों के निर्बन्धों के विरुद्ध सुन्दर रीति से समर्थन किया गया था; परन्तु उसमें भी राज्य-समाजवाद (State Socialism) जैसी विचारधारा की ओर प्रवृत्ति

वर्तमान रही; और अपनी आत्मकथा में मिल यह बतलाता है कि वह भविष्य के ऐसे काल के बारे में सोचना था जब 'श्रम के द्वारा उपार्जित द्रव्य का वितरण............एक प्रस्वीकृत न्याय-सिद्धान्त के आधार पर सहमति से होगा।' 'यूटिलिटेरियनिज्म' पर अपने निबन्ध (१८६३) में वह आत्म-हित (self-interest) के सिद्धान्त का इस सीमा तक परित्याग कर देता है कि वह आत्म-त्याग के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेता है। उसने यह अनुभव किया कि विश्व-व्यवस्था की वर्तमान अत्यंत अपूर्ण स्थिति में 'अपने सुख के पूर्ण त्याग के द्वारा दूसरों के सुख की साधना करना' ही 'मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ सद्गुण' है।

मिल ने, जो संक्रमणकाल की असंगतियों से युक्त होते हुए भी अत्यंत निष्कपट और उदार था, अन्य सब विचारकों से अधिक इंग्लैंड की चिन्तन-धारा के उस विकास का मार्ग प्रशस्त किया जो सन् १८८० के पश्चात् हमारे सामने आती है। जेवन्स की सन् १८८२ में प्रकाशित पुस्तक 'दि स्टेट इन रिलेशन टु लेबर' ने भी उस विकास में योग दिया। जेवन्स समस्त स्थिर सिद्धांतों को, चाहे वह प्राकृतिक अधिकारों के हो या यद्भाव्यं के, दूर फेंक देता है। किसी भी ऐसे विशिष्ट प्रश्न को जिस पर इन सामान्य सिद्धांतों के प्रकाश में राज्य के हस्तक्षेप की माँग अथवा भर्त्सना की जाती है, कभी नहीं सुलझाया जा सकता। हम केवल अनुभूतिमूलक पद्धति से (empirically) आगे बढ़ सकते हैं और प्रत्येक प्रश्न पर उसके गुणों के आधार पर विचार कर सकते हैं। 'प्रत्येक अधिनियम (Act) पर, इस बात को जानने के लिए कि वह अच्छाई अथवा बुराई की किस सीमा तक सृष्टि करता है, पृथक् रूप में निर्णय किया जाना चाहिए।' इस प्रकार का अनुभूतिमूलक निर्णय आवश्यक रूप में परिमाणात्मक (quantitative) होना चाहिए; उसे उन समस्त तथ्यों का उल्लेख करना चाहिए जिन्हे किसी भी पक्ष में संतुलित किया जाना है और तत्पश्चात् उन्हीं के अनुसार अनुमान लगाना चाहिए। राजनयज्ञ (statesmen) को प्रथम सिद्धांतों पर आधारित विधियों का त्याग कर अनुभव के आधार पर निर्मित विधियो को अपनाना चाहिए; और उस अनुभव को समझने के लिए उसे उसके द्वारा प्रकट किए गए तत्वों की एक गणित-प्रक्रिया

से माप करनी चाहिए। इस प्रकार जेवन्स ने 'सांख्यिकी के द्वारा विधि-निर्माण' की उस पद्धति के मार्ग की ओर निर्देश किया जो कि पिछले तीस वर्षों में सामान्य नियम बन गया है। उसने कोई नवीन अटल-सिद्धान्त (dogma) हमारे सामने नहीं रखा; उसने केवल बेन्थम के उसी पुराने सिद्धान्त को कि विधि-निर्माण का एक मात्र सिद्धान्त समुदाय का सामान्य कल्याण है, स्वीकार कर लिया। वस्तुतः उसने किसी नवीन पद्धति को भी सामने नहीं रखा; उसने एक ऐसी पद्धति को अपनाया जो बेकन के काल जितनी पुरानी थी। परन्तु उसका उसका प्रभाव पर्याप्त रहा है। सन् १८३४ के राजनयज्ञों ने निर्धन-सहायक-विधि (Poor Law) की समस्या का सामना व्यक्तिवाद के मूल सिद्धान्तों से किया। अस्सी वर्ष पश्चात् राजनयज्ञों ने उसी समस्या का सामना आँकड़ों के सैकड़ों पृष्ठों की सहायता से किया। परन्तु यद्भाव्यं के अटल सिद्धान्त (dogma) का स्थान लेने के लिए एक नए अटल सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए भी जेवन्स अपने को इस प्राचीन अर्थशास्त्रीय विश्वास से स्वतंत्र करने में समर्थ हुआ कि निष्कर्ष सदैव राज्य के हस्तक्षेप के विरोध में रहता है; और उसने इस बात की शिक्षा दी तथा दूसरों को यह विश्वास करने में सहायता दी कि राज्य के हस्तक्षेप के पक्ष अथवा विरोध में कोई पूर्व कल्पना (pre-supposition) नहीं है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता स्वयं में ही एक साध्य नहीं है, वरन् वह सामान्य कल्याण की एक साधन है; और यदि उन तत्वों के द्वारा, जिनके आधार पर किसी नीति के सामान्य कल्याण पर प्रभाव के बारे में भविष्यवाणी की जा सकती है, अनुमान करने पर निष्कर्ष व्यक्ति की स्वतन्त्रता के विरोध में आता है, तो उस स्वतन्त्रता को राज्य के हस्तक्षेप के पक्ष में तिरोहित किया जाना चाहिए।

सन् १८८० के पश्चात् परम्परागत बेन्थमवादी उदारतावादी (Benthamite Liberalism) का दिवालियापन स्पष्ट होने लग गया था। उन नवीन वर्गों के लिए जो मताधिकार प्राप्त करने में सफल हो गए थे, नवीन आदर्शों की आवश्यकता थी। यदि सन् १८३२ में मताधिकार-प्राप्त मध्यम वर्ग बेन्थमवाद से संतुष्ट रहता तो शिल्पियों (artisans) के लिए, जिन्हें सन् १८६७ में मताधिकार प्राप्त हुआ, तथा श्रमिकों के लिए, जिन्हें १८८५ में मताधिकार

प्राप्त हुआ, दूसरी ही व्यवस्था की आवश्यकता होती। सचमुच, यह बात विचित्र सी लगती है कि सन् १८८४ के तृतीय सुधार विधेयक ने तथा दोनों सदनों के बीच इसके कारण उत्पन्न हुई सांविधानिक कठिनाइयों ने किस प्रकार विचारो को स्पष्ट करने मे योग दिया। एक ओर, जैसा कि हम देख ही चुके हैं, स्पेन्सर आंतकित होकर 'यद्भाव्यं' (laissez faire) तथा 'मनुष्य बनाम राज्य' की धारणाओ का उत्साहपूर्ण रक्षण करने को खड़ा हुआ, और मेन ने अपने को लोकप्रिय शासन की निराशावादी आलोचना करने तथा प्रतिरोधो और सुरक्षा के साधनो की आवश्यकता पर बल देने के लिए बाध्य अनुभव किया। दूसरी ओर अधिक साहसी विचारकों के एक सम्प्रदाय को इससे आतंकित होने के स्थान पर उत्साह प्राप्त हुआ; और यहीं समाजवाद इंग्लैंड के चिन्तन की एक केन्द्रीय शक्ति के रूप में न कि एक पथभ्रष्ट विचार के रूप में हमारे सामने आता है। यह संभव है कि आर्थिक तत्वो ने इसके सामने आने में सहायता पहुँचाई हो : सन् १८७५ में सम्पन्नता की एक लहर समाप्त हो चुकी थी और उसके बाद सामने आने वाले गत्यविरोध में नवीन आर्थिक विचार-धाराओं ने अपने लिए अनुकूल वातावरण पाया।

समाजवाद, उस रूप में जैसा कि वह सर्वप्रथम प्रतिपादित किया गया, बहुत कुछ एक यांत्रिक मत था जिसका उद्देश्य अतीत के ध्वंसावशेषो पर यकायक एक स्वप्नलोकीय राज्य (utopia) का निर्माण कर देना था। परन्तु सन् १८८० में इस प्रकार का समाजवाद लुप्त हो चुका था। कार्ल मार्क्स के प्रभावान्तर्गत उसका स्थान एक नवीन विकासवादी समाजवाद ने ले लिया था जो—कर्मशालाओं (workshops), सहयोग अथवा अन्य किसी उपाय से—तुरंत ही किसी आदर्श व्यवस्था के स्थापित हो जाने की आशा नहीं करता था। कार्ल मार्क्स के आर्थिक उपदेशों की पृष्ठभूमि में समाज का एक विशद् दृष्टिकोण है। वह समाज को कृत्रिम नहीं, वरन् विकास और पतन की संभावनाओं से युक्त सजीव संरचना (living structure) मानता था। यह संभव है कि मानवीय अन्तर्दृष्टि विकास की प्रवृत्ति को समझने में और मानवीय प्रयत्न उसमें योग देने में सफल हो जाय; परन्तु वे समाज के टुकड़े-टुकड़े कर उसको पुनः गठित नहीं कर सकते। इस प्रकार मार्क्स यह अनुभव करने लगा

कि प्रगति का पथ यकायक होने वाले परिवर्तनों में नहीं पाया जा सकता, वरन् उन सुधारों में ही उसकी उपलब्धि हो सकती है जो समाज के क्रमिक सामाजिक रूपांतरण की दिशा में स्वाभाविक विकास में सहायता पहुँचाएँ—ऐसे सुधार जिनमें से प्रत्येक सामाजिक-गठन के स्वरूप में उस समय तक परिवर्तन करता रहे जब तक कि उनका सम्पूर्ण प्रभाव उसके स्वरूप को पूर्णतः बदल दे और इस प्रकार क्रांति को पूर्ण कर दे। इस प्रकार मार्क्स के प्रभावान्तर्गत समाजवाद जीवशास्त्र से संबंधित हो गया; और यह मैत्री-संबंध रैम्ज़े मैक्डॉनाल्ड की, जिसे हम निश्चित रूप से जैविक समाजवाद (biological socialism) का प्रतिपादक मान सकते हैं, कृतियों में सर्वाधिक स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

साथ ही साथ यह बात भी है कि समाज की प्रकृति के संबंध में मार्क्स की धारणा को किसी भी प्रकार पूर्णतः सावयवी नहीं कहा जा सकता। आज समाज एक सावयवी प्रक्रिया के द्वारा भले ही विकसित हो रहा हो; भावी समाज का चरम रूप भले ही विशुद्ध सावयवी एकता से पूर्ण हो; परन्तु वर्तमान अवस्था में जब पूँजीपतियों के द्वारा श्रमिकों का शोषण हो रहा है और उन्हें उनके उचित फल से वंचित रखा जा रहा है, प्रत्येक समाज में स्वामियों और सामान्य मनुष्यों के बीच बहुत बड़ी खाई है, और सामान्य मनुष्यों की 'वर्ग-चेतना' स्वामियो की वर्ग-चेतना की पूर्णतः विरोधी होने के अतिरिक्त कुछ हो ही नहीं सकती। विजयी समाजवाद का स्वरूप चाहे कुछ भी हो, संघर्षरत समाजवाद का अर्थ अनवरत युद्ध ही है; और प्रत्येक समाज ऐसे युद्ध में संलग्न दो सेनाओ में बटा हुआ है, जिनमें से एक पक्ष का उद्देश्य उस क्रांति को द्रुत गति से लाना है जो अंतिम अवस्था का उद्घाटन करेगी, और दूसरे पक्ष का उद्देश्य है उसे रोकना। इस युद्ध के उपायो के बारे में समाजवादियो के बीच मतभेद उत्पन्न हुए। उनमें से कुछ अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही के पक्षपाती थे और जैसा कि हमने देखा है, स्वयं मार्क्स ने 'इन्टरनेशनल' की स्थापना की; कुछ समाजवादी राष्ट्रीय कार्यवाही के समर्थक थे। कुछ समाजवादी ऐसी शांतिपूर्ण क्रांति चाहते थे जो कानूनी परिधि के अन्तर्गत रह कर ही लाई जा सके; कुछ यह भी कहते थे कि 'डाइनामाइट' से पूँजीवाद का अंत होना उसी प्रकार निश्चित है जैसे 'गनपाउडर' ने सामंतवाद की समाप्ति की थी। सर्वोपरि, जहाँ उनमें से कुछ राजनीतिक कार्य-

वाही, अर्थात् जनसाधरण के द्वारा सत्ता की प्राप्ति और क्रांति को क्रमिक रूप में लाने के लिए राजनीतिक सत्ता के उपयोग करने में—विश्वास रखते थे, दूसरे लोग मात्र। आर्थिक कार्यवाही में विश्वास रखते थे और हड़तालों की तथा अंतिम रूप में पूँजी को हस्तगत करने की वकालत करते थे तथा राजनीतिक उपायों से घृणा करते अथवा उन्हें प्रयोग न करना ही पसंद करते थे।[1] समाजवादियों में यह मतभेद सतत और मौलिक रूप में वर्तमान रहा है; और यह स्वयं मार्क्स का एक दोष था कि वह अपने राजनीतिक उपदेशों में अस्पष्ट रहा है—उसकी प्रवृत्ति वर्गयुद्ध की नकारात्मक धारणा पर जोर देने को तो रही है, परन्तु उतनी ही तत्परता से उसने कोई रचनात्मक राजनीतिक कार्यक्रम सामने नहीं रखा है और वह 'शासन की आवश्यकता के बारे में' कुछ-कुछ 'असावधान' सा रहा है। इस प्रकार मार्क्सवादी परंपरा पर कार्य करने वाले संगठनों, यथा सोशल डेमोक्रेटिक फ्रेडरेशन तथा उसके अनुवर्ती ब्रिटिश सोशलिस्ट दल का अस्थिरता एवं अनिश्चयता एक प्रधान लक्षण रहा है। निस्संदेह, वे अपने उद्देश्य को निश्चित रूप से पहचान सकते हैं। यह है उत्पादन, विनिमय और वितरण के साधनों का समाजीकरण तथा इन सब का सम्पूर्ण समुदाय के हित में जनतांत्रिक रीति से संगठित राज्य के द्वारा नियंत्रण इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साधनों के बारे में वे सदैव अस्पष्ट रहे हैं। कभी उन्होंने क्रमिक सुधार और उन्नति की नीति का प्रतिपादन किया है; कभी उन्होंने 'उपशमनकारी औषधियों' (palliatives) और 'सुधारवाद' की नीति की भर्त्सना की है, क्योंकि वह वर्गचेतना को निद्रावस्था की ओर ले जाती है और क्रांति को स्थगित अथवा समाप्त कर देती है। वे कभी राजनीतिक प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के लिए दूसरे संगठनों से

---

१ योरोपीय समाजवाद में अभी भी क्रांतिवादी और सुधारवादी दलों के बीच अंतर है। इनमें से एक समाजवाद के समस्त उद्देश्यों को एक ही साथ एक व्यवस्था के रूप में प्राप्त करने में विश्वास करता है : दूसरा दल उन उद्देश्यों को क्रमशः टुकड़ों में प्राप्त करने में विश्वास रखता है। इनमें से एक वर्ग-युद्ध की पदावली में सोचता है : दूसरा वर्गों की एकता की पदावली में। Cf. R. C. K. Ensor, Modern Socialism pp. xxxiii sqq.

सहयोग करने को तत्पर रहे हैं और कभी उसके विरोधी : वे कभी अपने स्वयं के विचारों के पृथक राजनीतिक प्रतिनिधित्व के लिए उत्सुक रहे हैं और कभी उदासीन। 'ट्रेड यूनियनों' को सुधारवाद के पोषक और आधार मान कर वे उनसे भयभीत रहे हैं; और दूसरी ओर, सन् १६१२ तक ब्रिटिश सोशलिस्ट पार्टी श्रमिक संघवादी (Cyndicalist) रिवाज़ के अनुरूप ट्रेड यूनियनों के माध्यम से एक पूर्ण औद्योगिक संगठन प्राप्त करने का उद्देश्य लिए थी और प्रत्येक उपाय से यूनियनों को शक्तिशाली बनाने की नीति का प्रतिपादन कर रही थी जिससे वे अंततः समाजवादी राज्य में उत्पादन का नियंत्रण अपने हाथ में लेने मे समर्थ हो सकें।

इंग्लैड में निश्चित रूप से मार्क्सवादी प्रभाव हिण्डमन की रचनाओं और सोशल डेमोक्रेटिक फ़ेडरेशन के प्रचार में, जिसका अनेक वर्ष तक सर्वाधिक प्रमुख कार्यकर्ता विलियम मॉरिस रहा था, देखा गया है। इस काल का आरंभ सन् १८८१ से होता है—जब हिण्डमन नें 'इंग्लैंड फ़ॉर आल' नामक पुस्तक प्रकाशित की और सोशल डेमोक्रेटिक फ़ेडरेशन की स्थापना की। फ़ेडरेशन का एक कार्यक्रम था जिस में भूमि के राष्ट्रीयकरण को भी सम्मिलित किया गया था, परन्तु वह राजनीतिक उद्देश्यों, यथा, सर्व-मताधिकार, संसद सदस्यों को वेतन, आइरलैंड के लिए स्वशासन तथा समस्त उपनिवेशो और आश्रित राज्यो के लिए स्वतंत्र विधान मंडल, से भी विशद् रूप में सम्बन्धित था। मॉरिस उसके प्रारम्भिक काल के सदस्यों में था और उसने फ़ेडरेशन के मुखपत्र 'जस्टिस' के संपादन में सहायता दी। मॉरिस के मुख्य प्रयोजनो में उसकी यह इच्छा भी थी कि ऐसे समाज की स्थापना हो जिसमें अनुरागपूर्ण हस्तकौशल तथा रचनात्मक कला उन्नति कर सके; और समाजवाद के प्रति उसका अनुराग इस विश्वास पर आधारित था कि पूँजीवाद का अर्थ होता है शिल्पकौशल का विनाश। वह पार्लमेंट के हस्तक्षेप का विरोधी था; वह यह अनुभव करता था कि पार्लमेंट सदैव उस सामाजिक संरचना को ठीक-ठाक बनाने में व्यस्त रहती है जिसे नष्ट करना ही समाजवाद का उद्देश्य है। वह ट्रेड यूनियनों का भी विरोधी था, क्योंकि वे उदारतावाद, जिससे वह घृणा करता था और सामाजिक क्रांति, जिसे वह लाना चाहता था, के बीच समायोजक

का कार्य करती थीं। हिण्डमन और अन्य लोगों के साथ उसके मतभेदों ने उसे फ़ेडरेशन छोड़ने के लिए (१८८४) विवश किया; और उसने सोशलिस्ट लीग नामक एक नवीन संगठन के संस्थापन और उसके मुखपत्र 'दि कामनवील' के संपादन में योग दिया। तथापि सन् १८६० में सोशलिस्ट लीग पर अराजकतावादियों का अधिकार हो गया और मॉरिस ने उसकी सदस्यता का परित्याग कर दिया; परन्तु लीग छोड़ने के पूर्व उसने अपनी समाजवादी रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ—'न्यूज़ फ्रॉम नोव्हेअर' लिखी। यहाँ एक स्वच्छन्द लेख के रूप में वह भावी राज्य का चित्रण करता है जिसके साथ वह उस हिंसापूर्ण क्रांति का भी वर्णन करता है जिससे उसकी सृष्टि होती है और नवीन जीवन के उस सुख और सौन्दर्य को भी अंकित करता है जो उसके परिणामस्वरूप आती है।[1]

मॉरिस कुछ-कुछ एक क्रांतिकारी स्वप्नलोकीय विचारक (Utopian) था। उसने यकायक प्रयत्न के द्वारा एक पूर्णतः नवीन समाज की रचना की कल्पना की थी; और उसके मतानुसार अंतरिम काल में सुधार का, चाहे वह पार्लमेंट की कार्यवाही से हो अथवा ट्रेड यूनियनों के द्वारा, प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिए। कुछ वैसी ही प्रवृत्ति ब्रिटिश सोशलिस्ट पार्टी में वर्तमान रही है, यद्यपि उसका दृष्टिकोण बदलता रहा है—कभी उसने "उपशमनकारी उपायों" (palliatives) को स्वीकार किया है और कभी उनकी भर्त्सना की है; कभी उसने ट्रेड यूनियनों से साँठ-गाँठ करने का प्रयास किया है और कभी उनसे अपने को बचाया है; यदि एक समय उसने राजनीति में भाग लेने का

---

१ इस पुस्तक की परिधि के अन्तर्गत मॉरिस और वैल्स, बेलामी और ब्लैचफ़ोर्ड के समाजवादी स्वप्नलोकों (socialistic utopias) का वर्णन प्रस्तुत करना असंभव है। उनका क्षेत्र आर्थिक भविष्यवाणी है न कि राजनीतिक चिन्तन। राजदर्शन के विषय में यह भी सम्मिलित है कि राज्य कैसा होना चाहिए और इस अर्थ में वह आदर्शों से भी सम्बन्धित है। परंतु औपन्यासिक पद्धति पर एक स्वप्नलोकीय राज्य की संरचना सम्बन्धी विवरण राज्य क्रिया के आधारभूत आदर्शों का विश्लेषण होने के स्थान पर कल्पना की उड़ान ही कहा जाएगा।

प्रयत्न किया है तो दूसरे समय वह राजनीति से विलग रही है। जब हम फ़ेबियनों (Fabians) पर विचार करते हैं—जिन्होंने अपनी सोसाइटी की स्थापना सन् १८८४ में की और सन् १८८६ में अपने 'एसेज़' प्रकाशित किए, तो एक भिन्न दृष्टिकोण हमारे सामने आता है। फ़ेबियन विचारक, जिनमें सिडनी वैब और बर्नार्ड शॉ सर्वप्रमुख थे, मार्क्स से प्रभावित हुए थे; परन्तु, जैसा कि हम देखेंगे, उन्होंने उसके उपदेश के विकासवादी तत्व से ही मार्गदर्शन ग्रहण किया था न कि क्रांतिवादी विचार से जिसने मॉरिस को आकर्षित किया था। परन्तु, पूर्ण रूप में देखने पर मार्क्स की अपेक्षा मिल ही उनका आरंभ-बिंदु था। वे मार्क्स की भाँति पूँजी को श्रम के चुराए हुए फल, जिन्हें पूँजीवादी श्रमजीवी से हस्तगत कर लेता है, मानकर उस पर प्रहार करके अपनी विचार-धारा आरंभ नहीं करते : वे मिल द्वारा सुझाए हुए मार्ग पर चलते हैं और लगान को भूमि का ऐसा 'अनर्जित लाभ' मान कर जो कि भूस्वामी ने समाज से, जो कि उसका सृष्टा और उसका उचित अधिकारी है, चुरा लिया है (अथवा कम से कम उससे प्राप्त कर लिया है), उस पर प्रहार से आरंभ करते हैं।

संक्षेप में, पूँजी की अपेक्षा भूमि ही इंग्लैंड के समाजवाद का, अपने विशिष्ट और देशीय रूप में, ध्येय रहा है; और यह तथ्य कुछ चिन्तन की सामग्री प्रस्तुत करता है। भू-स्वामित्व सम्बन्धी इंग्लैंड की व्यवस्था अनोखी है; उसका विशिष्ट लक्षण कुछ थोड़े से लोगों के हाथों में बड़ी-बड़ी नगर तथा ग्राम दोनों की—जागीरों का केन्द्रण है। इंग्लैंड की अर्थ-व्यवस्था का यह एक आवश्यक लक्षण है जो इंग्लैंड के लोगों के जीवन को शेष महाद्वीप के, जहाँ भूमि अधिक व्यापक रूप में वितरित है, लोगों के जीवन से भिन्न बना देता है। इस प्रकार हमारे समाज-सुधारकों ने अपने प्रहारों को भू-स्वामियों पर ही केन्द्रित किया है, जिनके बारे में यह कहा जाता है कि उन्होंने पिछले डेढ़ सौ वर्षों में इंग्लैंड में सम्पत्ति की महान् वृद्धि में बहुत विशद् भाग प्राप्त किया है। हम यह देख ही चुके हैं कि टी० एच० ग्रीन पूँजी के प्रति अपेक्षाकृत उदार भाव रखते हुए भी इंग्लैंड की भू-सम्पत्ति व्यवस्था का, जिसे वह 'सम्पत्तिहीन सर्वहारावर्ग' की सृष्टि के लिए उत्तरदायी मानता था, विरोधी था। ग्रीन के

इस उपदेश देने के पहले भी यह बात कही गई थी, और उसके बाद भी। सन् १७७५ में ही स्पेन्स ने न्यूकैसिल की 'फ़िल्साफ़िकल सोसाइटी' को भूमि के राष्ट्रीयकरण का उपदेश दिया था; और स्पेन्सवादियों ने उसकी परंपरा को बनाए रखा था। सन् १८५० में डोव (Dove) ने 'साइंस ऑव पालिटिक्स' नामक कृति में उसी नीति का प्रतिपादन किया था; और उसी समय हर्बर्ट स्पेन्सर ने अपनी पुस्तक 'सोशल स्टेटिक्स' में भूमि की वैयक्तिक संपत्ति के विरुद्ध तर्क दिये थे। मिल ने, विशेषतः अपनी पुस्तक 'पॉलिटिकल इकॉनॉमी' के बाद के संस्करणों में, रिकार्डो के लगान सम्बन्धी इस विचार से प्रगत की थी कि वह धरती की मौलिक और अविनाशमान शक्तियों के उपयोग के लिए भूस्वामी को दी गई धनराशि है और अपने 'अनर्जित लाभ' के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था, जो एक ऐसा सिद्धान्त है जो किसी भी समय 'समाज द्वारा निर्मित मूल्यों' (socially created values) के सिद्धान्त में परिवर्तित हो सकता है। और समाज द्वारा निर्मित मूल्यों के सिद्धान्त से फ़ेबियन विचारकों द्वारा प्रतिपादित समाजवाद तक बढ़ जाना एक सरल पग है। अमेरिकावासी हेनरी जार्ज ने किन्हीं नए विचारों को सामने न रखते हुए भी अपनी पुस्तक 'प्रॉग्रेस एंड प्रॉपर्टी' में पुराने मत को एक नवीन उत्साह और 'उत्तेजना' से युक्त कर दिया है; और रसेल वालेस ने भी भू राष्ट्रीयकरण के विचार को अंगीकृत किया है।

फ़ेबियनवाद ने इसी विचार-रेखा को जारी रखा है, यद्यपि उसके संस्थापकों ने फ्रांस में प्रूधो (Proudhon) और जर्मनी में मार्क्स से तथा साथ ही अपने देश से प्रेरणा ग्रहण की। परन्तु मिल का प्रभाव प्रधान था। मिल से ही उन्हें आर्थिक विचारधारा उपलब्ध हुई; मिल ही ने सन् १८४८ और सन् १८८० के बीच के वर्षों में 'यद्भाव्यं' से राज्य के द्वारा सामाजिक पुनर्समायोजन के विचार तथा राजनीतिक उग्रतावाद (Radicalism) से आर्थिक समाजवाद तक एक सेतु का काम किया। इन स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए फ़ेबियनवाद ने सन् १८८४ के बाद से बेन्थमवादी व्यक्तिवाद के स्थान पर एक नवीन दर्शन प्रस्तुत करना आरंभ किया। एक जर्मन लेखक का कथन है कि समष्टिवाद (Collectivism) की नवीन विचारधारा का बेन्थम, वेब था और मिल

शॉ । इस प्रकार स्थान का निर्णय किए बिना भी हम यह औचित्यपूर्वक कह सकते हैं कि सन् १८३० के पश्चात् विधि-निर्माण पर बेन्थमवाद के प्रभाव और कम से कम १९०६ के पश्चात् विधि-निर्माण पर फेबियनवाद के प्रभाव में कुछ सादृश्य है । दोनों ही ओर हम विचारकों और अन्वेषकों के एक छोटे से गुट को राजनीतिज्ञों से भली प्रकार सम्बन्धित पाते हैं; दोनों ही ओर हम इन विचारकों और अन्वेषकों के विचारों को सामान्य मत में 'प्रविष्ट होता' देखते हैं । जिस प्रकार बेन्थम ने प्राकृतिक अधिकारों की प्राचीन धारणा को उपयोगिता की धारणा को अपनाने के लिए तिरस्कृत कर दिया, उसी प्रकार चाहे कम उग्र रूप में ही क्यों न हो, फेबियनों ने मूल्य (value) को पूर्णतः श्रम पर आधारित करने के अपेक्षाकृत अधिक पुराने सिद्धान्त और वर्ग-युद्ध की अपेक्षाकृत अधिक पुरानी नीति को उपयोगिता पर आधारित सीमान्त मूल्यों के सिद्धान्त और लगान के क्रमिक समाजीकरण की नीति की तुलना में तिरस्कृत कर दिया । जिस प्रकार बेन्थम ने अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख को अपना सिद्धान्त बनाया, उसी प्रकार फ़ेबियनों ने समाज द्वारा निर्मित मूल्यों के समाज द्वारा नियन्त्रण को अपना सिद्धान्त बनाया । निस्संदेह इसमें अंतर हैं । बेन्थमवाद बेन्थम के विचारों पर आधारित विधियों से पूर्व सामने आया; समष्टिवादी प्रकृति की विधियाँ फ़ेबियनवाद से लगभग बीस वर्ष पूर्व से बनीं । बेन्थमवाद एक सामान्यतया स्वीकृत विचारधारा बन गया; फ़ेबियनवाद अति अल्पमत के द्वारा ही खुले रूप में अपनाया गया है । फिर भी यह बहुत संभव है कि भविष्य का इतिहासवेत्ता फ़ेबियनवाद पर उसी प्रकार जोर देगा, जिस प्रकार आज का इतिहासवेत्ता बेन्थमवाद पर जोर देता है ।

बेन्थम की प्रधानतः वैधानिक और सांविधानिक सुधारों में ही रुचि थी : फ़ेबियनवाद मुख्यतः सामाजिक और आर्थिक सुधार से सम्बन्धित है । परन्तु फ़ेबियनवाद की भी अपनी राजनीतिक विचारधारा है, यद्यपि वह एक आर्थिक सिद्धान्त पर आधारित है । यह आर्थिक सिद्धान्त लगान के समाजीकरण का प्रतिपादन करता है । परन्तु जिन लगानों का फेबियनवादी समाजीकरण करना चाहते थे, वे केवल भूमि से प्राप्त होने वाले लगान ही नहीं थे । अनर्जित लाभ के अर्थ में लगान अन्य स्रोतों से भी प्राप्त किया जा सकता है; और

किया भी जाता है। उदाहरणार्थ, सफल साहसी-व्यापारी अपनी श्रेष्ठतर शिक्षा और उपयुक्तता से योग्यता का लगान प्राप्त करता है। प्रत्येक प्रकार के लगान का समाजीकरण राज्य को बहुत बड़ी धनराशि उपलब्ध कर देगा जिसका उसके द्वारा उपयोग होना आवश्यक है। इस धनराशि का उपयोग करने में किस प्रकार का राज्य सर्वाधिक योग्य होगा? पुराना राज्य जो कि, उसका स्वरूप चाहे कुछ भी हो, यथार्थ में धनिकों का अभिजात्यतंत्र (oligarchy) ही रहा है, जिसने राज्य की शक्तियों का उपयोग एक वर्ग के हितों की पूर्ति के लिए किया है—एक ऐसा राज्य जिससे बचने के लिए लोगों ने 'यद्भाव्यं' का उपदेश देने और उसकी हस्तक्षेप करने की शक्तियों को अधिकाधिक सीमित करने का प्रयत्न किया। वैसा राज्य नवीन शक्ति दिए जाने के लिए अत्यधिक स्वार्थी और अत्यधिक अयोग्य है; और समष्टिवाद एक ऐसे राज्य का अपेक्षा करता है जो न तो स्वार्थी हो और न अयोग्य। समष्टिवाद, सर्वप्रथम, एक विशुद्ध जनतांत्रिक राज्य की अपेक्षा करता है। सम्पत्ति, जिसका निर्माण पूर्ण समाज ने किया है पूर्ण समाज के ही स्वामित्व में रहनी चाहिए और उसी के द्वारा प्रशासित होनी चाहिए। लगान का वैयक्तिक स्वामी, चाहे वह भूमि से प्राप्त लगान हो या उद्योग से, अपने 'आदमियों' के जीवन की दशाएँ निर्धारित करने में समर्थ रहा है; स्वामी के रूप में राज्य भी ऐसी दशाएँ निर्धारित करने में समर्थ होगा। केवल तभी जब श्रमिकों की दशाएँ निर्धारित करने वाला राज्य स्वयं श्रमजीवियों का राज्य हो, स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है। तभी और केवल तभी उत्पादन के साधनों के स्वामी उन साधनों के उपभोक्ता भी होंगे; तभी और केवल तभी, जनता स्वयं अपने आप के लिए इस प्रकार के उपयोग की शर्तें निर्धारित कर सकेगी। इस प्रकार एक नवीन अर्थ में रूसो का यह आदर्श कि शासक और शासित लोग एक ही हों, और 'प्रत्येक अपने निर्देशन की शक्ति सब को देते हुए स्वयं अपना किसी के प्रति समर्पण न करे', प्राप्त हो सकेगा। और इस प्रकार शॉ ने फ़ेबियनवाद के दो पारस्परिक सम्बन्धित उद्देश्यों को 'मताधिकार का क्रमिक विस्तार और लगान व ब्याज का राज्य को हस्तांतरण' बताया है।

परन्तु समष्टिवाद विशेषज्ञ-शासन (expert government) की भी

अपेक्षा करता है। यह 'प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों के उस अभिजात्यतंत्र' की अपेक्षा करता हैं जिसका उल्लेख कार्लाइल ने किया था। यह स्पष्ट ही है कि इतनी विशाल शक्तियों से सम्पन्न राज्य का नियंत्रण करने के लिए एक असामान्य और असाधारण रूप से विशद् अभिजात्यवर्ग की आवश्यकता होगी। फ़ेबियनवाद के वे विरोधी जो उसकी 'सुधारवाद' और 'उपशमनकारी युक्तियों' से अधिक क्रांतिकारी नीति के पक्ष में हैं, उस पर नौकरशाही से अभिसंधि करने का आरोप लगाते हैं। वे यह कहते हैं कि यह नौकरशाही पर सामाजिक सुधारों के शीर्ष से प्रशासन के लिए निर्भर करता है; और वे इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि चूँकि कोई भी शासन करने वाला वर्ग जनतंत्र का विरोधी होता है, फ़ेबियनवादी भी, जो ऐसे वर्ग में विश्वास रखते हैं, यथार्थ में जनतंत्र-विरोधी है। वस्तुस्थिति यह है कि इस आरोप को निभाना कठिन प्रतीत होता है। प्रारंभ से ही फेबियनों ने यह अनुभव किया और कहा कि उनके उद्देश्य की पर्ति के लिए राज्य का विकेन्द्रीकरण एक आवश्यक दशा है। नगरपालिकाएँ और अन्य स्थानीय संस्थाएँ उन नई शक्तियों का प्रयोग करने और उन नए कर्तव्यो का पालन करने के लिए आवश्यक हैं जो उस उद्देश्य की पूर्ति के द्वारा उत्पन्न होंगी। शॉ ने लिखा था कि 'एक जनतांत्रिक राज्य तब तक सामाजिक-जनतांत्रिक राज्य नहीं बन सकता जब तक कि जनसंख्या के प्रत्येक केन्द्र में एक ऐसी शासन-संस्था न हो जो उतने ही पूर्ण रूप में जनतांत्रिक हो जितनी कि केन्द्रीय संसद्'। उन्होंने यह महसूस किया कि कामस सभा (House of Commons) को 'केन्द्रीय शासन' का रूप ले लेना चाहिए जो कि नगरपालिकाओं को संघबद्ध करने का उपकरण होगा। इस प्रकार फेबियन विचारधारा में किसी प्रकार की केन्द्रीय नौकरशाही अन्तर्निहित नहीं है; वस्तुतः, वह जिस बात की अपेक्षा करता है वह है अंशतः एक अपेक्षाकृत अधिक कार्यकुशल और निपुण केन्द्रीय शासन (जिसके लिए पर्याप्त स्थान है), परंतु मुख्यतः एक निपुण स्थानीय जन पदाधिकारी वर्ग जो कि यथार्थ में जनतांत्रिक नगर-शासन से घनिष्ठ रूप में संबंधित और उसी के नियंत्रण में हो। यह कहना कठिन है कि यह नौकरशाही (bureaucracy) है, अथवा यह अवांछनीय है। बहुत से लोग जो फेबियन अथवा किसी प्रकार भी समाजवादी नहीं हैं यह बात सशक्त रूप में अनुभव करते हैं कि

स्थानीय राजनीति में अधिक उत्साह और रुचि उत्पन्न करना तथा कुशल स्थानीय जनपदाधिकारीवर्ग का निर्माण भविष्य की महान् समस्याएँ हैं।

इस प्रकार फेबियनवाद की नीति कुछ-कुछ निम्नलिखित प्रकार की रही है। कुछ बुद्धिजीवियों के एक गुट ने ऊपर से नीचे तक समस्त वर्गों में समाज द्वारा निर्मित मूल्यों के सामाजिक नियंत्रण के पक्ष में एक समान मत प्रसारित करने का प्रयास किया है। सभी वर्गों में प्रवेश करने का उद्देश्य रखने के कारण उन्होंने वर्ग-चेतना का उपदेश नहीं दिया है : उन्होंने लिबरल 'पूँजीपतियों' के साथ और उनके द्वारा उतना ही कार्य किया है जितना लेबर प्रतिनिधियों के साथ और उनके द्वारा। उन्होंने क्रमिक प्रसार का निश्चय करने के कारण क्रांतिकारी पद्धति को नहीं अपनाया है; वे विचारों के धीमे विकास पर ही आश्रित रहे हैं। क्रांतिकारी होने की अपेक्षा सुधारवादी होने के कारण उन्होंने पूँजीपतियों के विरुद्ध श्रमजीवी वर्गों की यकायक क्रांति की असंभाव्यता को समझाया है : उन्होंने अनर्जित लाभ पर सामाजिक नियंत्रण के क्रमिक स्थापन के द्वारा सामाजिक दशाओं के क्रमिक सुधार की आवश्यकता को सामने रखा है। इसलिए फेबियनवाद ने विशुद्ध सोशलिस्ट दल के ट्रेड यूनियनों के प्रति अमैत्रीपूर्ण दृष्टिकोण नहीं अपनाया है, वरन् उनकी श्रमजीवियों के लिए श्रेष्ठतर पारिश्रमिक और श्रेष्ठतर दशाओं की क्रमिक विजयों को अपने सिद्धांतों के अनुकूल सामाजिक प्रगति की रेखा माना है। इसने इस बात की भी शिक्षा दी है कि नियंत्रण रखने वाले समाज को, यदि नियंत्रण को आत्म-नियंत्रण का रूप देना अपेक्षित है, जैसा कि होना भी चाहिए—जनतांत्रिक ही होना चाहिए। इसने यह सिखाया है कि इस प्रकार का जनतांत्रिक आत्म-नियंत्रण प्रथमतः जनतांत्रिक स्थानीय स्वशासन में ही प्रयुक्त होना चाहिए। इसने जनतांत्रिक नियंत्रण का निपुण निर्देशन से समाधान करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया है। यद्यपि इसने कभी 'सीधी कार्यवाही' का अथवा राजनीतिक कार्यवाही के परित्याग का प्रतिपादन नहीं किया है और यद्यपि इसने इसके प्रतिकूल पार्लमेंट और नागरिक शासन के क्षेत्रों में सामाजिक सुधारों का प्रतिपादन किया है, इसने कभी राज्य के वर्तमान रूप का समर्थन नहीं किया है, वरन् एक ऐसे राज्य की आवश्यकता को सामने रखा है जो 'विशेषज्ञ' के प्रति सम्मान की भावना से युक्त जनतंत्र

पर आधारित हो। इस प्रकार फेबियन समाजवाद ने प्रातिनिधिक जनतंत्र को अपनी विचारधारा बना लिया है। उसने यह दृढ़ स्थिति अपनाई है कि जनतंत्र राज्य के उसी रूप में पनपता है जिसमें शिक्षा प्राप्त करने के अवसर की समानता के कारण योग्यतम व्यक्ति उत्पन्न होते हैं और जहाँ व्यापक और सक्रिय मताधिकार के कारण जनता सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों को अपने मार्गदर्शन के लिए चुनती है, और चूँकि वे जनता के द्वारा स्वतंत्र रूप से चुने हुए व्यक्ति होते हैं जनता उन्हें स्वतंत्रतापूर्वक और पूर्ण रूप में अपने विश्वास का सम्मान प्रदान करती है। और इस प्रकार सिडनी वैब और राम्ज़े मैक्डोनाल्ड ने प्रारंभिक जनतंत्र (primary democracy) को, जिसने सदैव ही समाजवादियों को अपनी ओर आकर्षित किया था, प्रश्रय नहीं दिया। यह सिद्धान्त कि जनता अपने आप अपने आज्ञाकारी अभिकर्ताओं के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शासन करती है—अर्थात् जनादेश (mandate), जनमत-संग्रह (plebiscite), लोक-निर्णय (referendum) अथवा उपक्रम (initiative) का सिद्धान्त—इंग्लैंड के सर्वश्रेष्ट समाजवाद का सिद्धान्त नहीं है। वैब की पुस्तक 'इन्डस्ट्रियल डेमोक्रेसी' यह दिखाती है कि ट्रेड यूनियन किस प्रकार अपने लिए शासन के श्रेष्ठ रूप की खोज करते हुए प्रारंभिक स्व-शासन के प्रयत्नों से, जो कि असफल रहे, निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा शासन की नीति की ओर जो कि सफल रही, आगे बढ़े हैं। राम्ज़े मैक्डोनाल्ड की पुस्तक 'सोशलिज्म एंड गवर्नमेंट' (१९०९) में जनादेश और लोकनिर्णय के दावों के विरुद्ध, और जिस सीमा तक अनुपाती प्रतिनिधित्व इस दृष्टिकोण की वकालत पर आधारित रहा है कि पार्लमेंट का कार्य केवल राष्ट्रीय-मत के दर्पण के रूप में कार्य करते रहना है, अनुपाती प्रतिनिधित्व के भी विरुद्ध, प्रातिनिधिक प्रजातंत्र के पक्ष में एक सशक्त और प्रभावशाली तर्क दिया गया है।

जिस प्रकार के समाजवाद पर हम अब तक विचार करते रहे हैं उसकी राजनीति और अर्थनीति की पृष्टभूमि में समाज का सावयवी सिद्धान्त है। आर्थिक रूप में, समाज को एक सजीव निकाय माना गया है जो व्यक्ति से धनोत्पत्ति में सहयोग करता है। हम, जैसा कि प्रतीत होता है, स्वयं अपने भाग्य के विधाता नहीं है। हमारा एक सहायक भी है; और वह सहायक समाज है जिसमें हम

रहते हैं, जो कि अपने विकास मात्र से ही अंशतः सामाजिक मूल्यों का निर्माण कर रहा है, यथा एक नगर का विस्तार नागरिक भूमि का मूल्य बढ़ा देता है; और इससे भी अधिक वह अपने शिक्षा और प्रशासन संबंधी कार्यों से, सामाजिक मूल्यों का निर्माण करता है। राजनीतिक दृष्टि से भी समाज एक सावयवी एकक है, जो कि जैसी रूसो की धारणा थी वैसी ही एक 'सामान्य इच्छा' से युक्त है— एक ऐसी सामान्य इच्छा जिसे अपने को प्रतिनिधित्व की शोधित व्यवस्था के माध्यम से, न कि रूसो की धारणा के अनुसार नागरिकों की एक प्रत्यक्ष और प्रारंभिक सभा के द्वारा, अभिव्यक्त करना होता है। सामाजिक सावयव की धारणा का प्रतिपादन करते समय राम्ज़े मैक्डानाल्ड, जिसे हम जैविक समाजवाद (Biological Socialism) का प्रतिनिधि कह सकते हैं, स्वाभाविक रीति से जीवशास्त्र की भाषा का प्रयोग करता है। और वस्तुतः यह स्पष्ट है कि सजीव सावयव की धारणा, जहाँ तक उसका कुछ महत्व है, समाजवाद के ही लिए, न कि स्पेंसर के द्वारा प्रतिपादित व्यक्तिवाद के लिए, महत्वपूर्ण है। 'प्रत्येक दूसरों के लिए' यह एक शारीरिक सावयव का भी आदर्श-वाक्य है और समाजवादी सिद्धान्त का भी। जैसा कि एक फ्रांसीसी आलोचक ने कहा है, यह बात युक्तियुक्त है कि समाजवाद की दीक्षा लेने के पूर्व हर्बर्ट स्पेंसर के राजदर्शन की शिष्या श्रीमती सिडनी वैब ने खुले रूप में सामाजिक सावयव की उपमा का अपने पुराने गुरु के विरोध में और उस विचारधारा का समर्थन करने के लिए जिसका उसने खंडन किया था, प्रयोग किया।

पिछले कुछ वर्षों में उदारतावाद (Liberalism) के विकास में फेबियनों के प्रभाव के पर्याप्त लक्षण मिलते हैं। एल० टी० हाब्हाउस (L. T. Hobhouse) और जे० ए० हॉब्सन (J. A. Hobson)[1] जैसे उदारतावादी लेखकों ने समाज के द्वारा निर्मित मूल्यों के क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप के पक्ष में तर्क दिए हैं। विशेष रूप से हाब्सन ने यह कहा है कि व्यक्ति ही आर्थिक उत्पादन का एकमात्र एकक नहीं है; समुदाय स्वयं भी मूल्यों का स्रष्टा है; और

---

१ देखिए 'डेमोक्रेसी एंड रिएक्शन' (१८६४) तथा 'दि क्राइसिस ऑव् लिबरलिज्म।'

राज्य, जो कि समुदाय का अवयव है, इस प्रकार के मूल्यों पर विशेष कर आरोपित करने के विशेष अधिकार का दावा कर सकता है। इस प्रकार आधुनिक उदारतावाद (Liberalism) के द्वारा राज्य संबंधी परंपरागत व्यक्तिवादी दृष्टिकोण निश्चयात्मक रूप में तिरस्कृत कर दिया गया प्रतीत होता है; और हॉब्सन उदारतावादी दृष्टिकोण का पुनर्लेखन करते समय उसकी ध्वजा के नीचे सामाजिक सावयव की धारणा को भी ला खड़ा करता है। यह धारणा समाज द्वारा निर्मित मूल्यों पर, जिन्हें सावयव के विकास का परिणाम बताया जाता है, कर आरोपित करने का औचित्य सिद्ध करने में सहायक होती है; और यह कथन कि राज्य एक ऐसा सावयव है जो अनुभव करता है और सोचता है, और अपनी अनुभूतियो और विचारों की अभिव्यक्ति करने की माँग कर सकता है, हॉब्सन के द्वारा न केवल मताधिकार और प्रतिनिधित्व की समानता के समर्थन के लिए, जिसके द्वारा ही सब की वास्तविक इच्छा प्रकट हो सकती है, प्रयुक्त किया गया है; वरन् लोक-निर्णय (referendum) की वकालत को प्रभावी बनाने के लिए भी।

× × ×

फेबियन विचारधारा पर आधारित समष्टिवाद ही पिछले तीन-चार वर्ष पहले तक इंग्लैंड में मुख्यतः प्रचलित समाजवाद का रूप था। समय बदलने पर परिपाटी भी बदल जाती है। एक तरुण शताब्दी, जो यह अनुभव करती है (जैसा कि हम सभी ने अनुभव किया होगा) कि पिछले कुछ वर्षों में वह अत्यधिक क्रियाशील रही है, इस बात के बारे में आश्वस्त रहती है कि उसे नवीन होने के लिए समसामयिक भी होना चाहिए। इसके अतिरिक्त, यह समस्त पुरातन 'परंपराओं' की आलोचना का काल है—विवाह और विवाह-विच्छेद की आलोचना, वेषभूषा और व्यवहार की आलोचना का। यहाँ तक कि पुराने उग्र-सुधारवादी विचार भी अब स्वयं 'परंपरा' बन गए हैं जिन्हें नए विचारों को स्थान देने के लिए स्थानच्युत करना आवश्यक हो गया है। और इसलिए हमें हिलेर बेलॉक के वितरणवाद (Distributism) की बात सुनाई पड़ती है, हमें श्रमिक-संघवाद (Syndicalism) के बारे में बताया जाता है, हमारे समक्ष गिल्ड समाजवाद (Guild Socialism) प्रस्तुत किया जाता है।

इन नवीनताओं की पृष्ठभूमि में संभवतः एक समान आधार है—'राज्य' के विरुद्ध एक सामान्य प्रतिक्रिया। इस प्रतिक्रिया के एक पक्ष पर छठवें अध्याय के अंत में विचार किया गया था; और इस अध्याय में यह पहले ही देखा जा चुका है कि समाजवादी विचार के लोगों का एक गुट सदैव ही राजनीतिक कार्यवाही का विरोधी रहा है।[1] यह गुट अब फेबियन सम्प्रदाय के द्वारा प्रतिपादित 'प्रशासकीय' समाजवाद के साथ संघर्ष में संलग्न है और उसके द्वारा राज्य को समाजवाद के उपकरण के रूप में स्वीकार कर लिए जाने के प्रति विद्रोह कर रहा है। यह कहा जाता है कि समाजवाद के रूप में राज्य के दो महान् अवगुण हैं। राज्य-समाजवाद में दो बातें अन्तर्निहित हैं—एक शासकीय वर्ग, और, जनतांत्रिक राज्य में, उस शासकीय वर्ग को निर्वाचित करने के लिए एक निर्वाचन-यंत्र। राज्य-समाजवाद में शासक-वर्ग 'ब्यूरोक्रेसी' का रूप ले लेता है, जो कि नागरिकों के जीवन को सैनिक रीति से अनुशासित तथा नियंत्रित करता है। इससे 'दास' (Servile) राज्य का समारंभ होता है; इससे जनतंत्र का नाश होता है क्योंकि 'शासक वर्ग का अस्तित्व जनतंत्र का निषेध है।' पुनः, निर्वाचन-यंत्र के अपने अवगुण होते हैं। बहुत बड़े निर्वाचक-समूह का प्रचार तथा दलीय सत्ता-केन्द्रों के प्रभावान्तर्गत रहना अवश्यंभावी है; और किसी भी दशा में कुछ राज्य-कर्मचारी अपने मतों का राज्य पर प्रभाव डालने और अपने वेतनादि को बढ़वाने और नौकरी की श्रेष्ठतर दशाएँ प्राप्त करने के लिए संगठित हो सकते हैं। इस प्रकार राज्य-समाजवाद का अर्थ होता है एक ऐसा स्व-हिताकांक्षी निर्वाचक समुदाय जो अंशतः शासन-कर्मचारी वर्ग के द्वारा सैनिक रीति से अनुशासित हो और अंशतः इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप—शासन-कर्मचारी वर्ग को अपने आदेश के अनुसार चलाए।

ये वे तर्क हैं जिनके द्वारा पुराने ढंग के व्यक्तिवादी तथा नव-समाजवादी (neo-socialist) समष्टिवादी समाजवाद के विरुद्ध संयुक्त और परस्पर

---

१ सन् १८७० के पश्चात् बाकुनिन सरीखे मार्क्स के प्रतिद्वंदियों के द्वारा नगर-समूहों (commune groups) की नीति के सम्बन्ध में अराजकतावादी मत प्रतिपादित किए गए थे।

आबद्ध हो जाते हैं। और उनमें मेल कराने वाले अन्य कारण भी हैं। जिस प्रकार कि व्यक्तिवादी भूमि तथा लगान के विरुद्ध भेदभाव पर आक्षेप करता है और यह कहता है कि लाभ और लगान का आधार एक ही है क्योंकि दोनों ही समान मात्रा में 'अनर्जित' और समान मात्रा में 'समाज द्वारा निर्मित' है, उसी प्रकार का आक्षेप उच्चतर समाजवादी (advanced socialist) भी करता है। इनमें से एक लगान और लाभ को एक ही आधार पर उनकी वित्त-मंत्री से रक्षा करने के लिए रखता है; दूसरा उन्हें 'राष्ट्रीय गिल्डों' के लिए प्राप्त करने के वास्ते समान आधार पर रखता है। परन्तु दोनों ही फेबियनों के द्वारा प्रतिपादित भेदभाव के विरुद्ध आवाज़ उठाने के संबंध में एकमत हैं। पुनः, व्यक्तिवादियों और उच्चतर समाजवादियों, दोनों में एक प्रकार का बुद्धिवाद-विरोध सामने आता है। समष्टिवाद का उद्देश्य है समाज के एक आत्म-चेतन विवेकपूर्ण संगठन के विचार की विजय; इसका लक्ष्य है प्रत्येक बात में समुदाय की गतिविधि का समुदाय के विवेक के द्वारा निर्देशन। परंपरागत व्यक्तिवादी काल-विरोध निर्णय की अनुभूतिमूलक प्रवृत्ति (empirical instinct) में विश्वास रखता है; वह समुदाय के प्रत्येक सदस्य को अपना नेतृत्व स्वयं करने के लिए मुक्त छोड़ देता है और यह विश्वास करता है कि अंत में किसी न किसी प्रकार, यह बात रहस्यमय ही क्यों न लगे, एकरूपता आ जाएगी। संक्षेप में, वह व्यक्ति के लिए पूर्ण विवेक का दावा करता है जो कि विवेक के द्वारा अपना हित जानता है। वह समुदाय के लिए जिसके पास कोई निर्देशक-विवेक नहीं है, कुछ नहीं छोड़ता; उसे अपने समस्त कार्य, यदि वस्तुतः उसके कुछ कार्य हों, तो उन्हें अपने आप पूरा होने के लिए छोड़ देना चाहिए। उच्चतर समाजवादी की प्रकृति एक भिन्न प्रकार के बुद्धिवाद-विरोध की ओर होती है। व्यक्तिवादी के विपरीत, वह व्यक्ति की अपेक्षा समूहों में रुचि रखता है; परन्तु व्यक्तिवादी की भाँति ही उसे राज्य-समूह से कोई अनुराग नहीं होता और व्यक्तिवादी की ही भाँति वह समूहों को अधिक मात्रा में विवेक से युक्त नहीं मानता। वह उनकी सहज-प्रवृत्ति (instinct) में विश्वास करता है जो कि समय आने पर उसकी आवश्यकता के लिए पर्याप्त होगी परन्तु उसके आने तक अपने आप को अनुचित रीति से चिन्तनग्रस्त नहीं रखेगी। यह बुद्धिवाद-

विरोध कुछ फ्रांसीसी श्रमिक-संघवादी विचारधाराओं में विशेष रूप से सामने आता है (इनके बारे में यह बात सत्य है कि उन्हें वास्तविक फ्रांसीसी श्रमिक-संघवाद से एकरूप मानना गलत होगा)। परन्तु यह इस विश्वास में भी कि विश्वास (Faith) किसी रहस्यमय रीति से योरोप को एक दास-राज्य में परिवर्तित होने से—अथवा, दूसरे शब्दों में, मात्र विवेक के द्वारा निर्देशित होने से बचा लेगा, सामने आता है। उदाहरणार्थ, यह विश्वास बेलॉक में हमारे सामने आता है।

उच्चतर समाजवाद चाहे परंपरागत व्यक्तिवाद से किसी भी रीति से समतुल्य प्रतीत हो; वस्तुत: वह एक अत्यधिक भिन्न मत है। समष्टिवाद को दोनों भले ही अस्वीकार कर दें; परन्तु उसे अस्वीकृत करने में एक का उद्देश्य अपने स्थान से रंच मात्र भी आगे न जाना रहता है और दूसरे का उससे काफ़ी आगे तक जाना। सामान्य प्रगति की दिशा व्यवसायवाद (Occupationalism) से समाजवाद की ओर है। स्वामियों के निकाय के रूप में समाज के द्वारा अपने ऊपर श्रमिकों के समूह के रूप में नियंत्रण के स्थान पर प्रत्येक व्यवसाय या पेशे के द्वारा अपने सदस्यों के ऊपर नियंत्रण रखा जाएगा। इसे श्रमिक-संघवाद कहा जाए, गिल्ड समाजवाद अथवा किसी अन्य नाम से पुकारा जाए, इस नए मत का सामान्य आधार व्यवसाय अथवा पेशे के आर्थिक-स्वशासन में विश्वास ही प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, बेलॉक अपनी पुस्तक 'सरवाइल स्टेट' (१६-२२) में वितरणवाद (Distributism) का प्रतिपादन करता है, जिसका आशय हमें प्रत्येक मनुष्य को, जहाँ तक ऐसा करना संभव हो, वैयक्तिक सम्पत्ति का सौंपा जाना समझना चाहिए। परन्तु उसके तर्क का मूलकेन्द्र यह है कि इस अत्यधिक बढ़ी हुई व्यक्तिगत सम्पत्ति के संरक्षण की आवश्यकता होगी, जिस प्रकार कि उसके विचारानुसार मध्य युग में वह सहकारी गिल्डों और 'महान् व्यावसायिक निगमों की स्वायत्तता' के द्वारा संरक्षित की जाती थी। क्योंकि जब तक इस प्रकार के निकाय नहीं होते, आर्थिक अयोग्य-कुलीनतंत्र के उदय को रोकने के लिए सम्पत्ति के हस्तांतरण पर आरोपित स्वेच्छित निर्बन्धों के द्वारा तथा कुछेक लोगों के द्वारा सम्पत्ति की ख़रीद को रोकने के लिए अधिकांश लोगों के द्वारा उसके विक्रय पर रोक लगा कर, इतिहास अपनी पुनरावृत्ति करेगा और

जमींदारी और पूँजीवादी प्रथाएँ पुनः सामने आएँगी। बेलॉक मुख्यतः व्यक्तिगत सम्पत्ति पर विशेष बल देता है और सहकारी संवासों (Co-operative association) की आवश्यकता पर विशेष जोर नहीं देता—यद्यपि वह उसे स्वीकार करता है। 'गिल्ड सोशलिज्म' (१९१४) के रचयिताओं को केवल सहकारी संवास का ही ध्यान था। बेलॉक की भाँति उनके विचारों में भी मध्ययुगीन आदर्श के लक्षण मिलते हैं; और वे नवीन समाजवाद के सृजन के लिए मध्ययुगीन 'क्राफ्ट' (Craft) को फ्रांसीसी 'सिंडीकेट' से संयुक्त कर देते हैं। उनकी योजना के अन्तर्गत वस्तुतः उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व होगा; परन्तु प्रन्यासी (trustee) के रूप में गिल्ड का उनके उपयोग पर नियंत्रण रहेगा। गिल्ड स्वयं अपने कर्मचारी रखता है; वह स्वयं पारिश्रमिक, कार्य के घंटे, काम की दशाएँ, तथा उत्पादित वस्तुओं की कीमतें निर्धारित करता है। यह कहा जाता है कि ऐसे गिल्ड की स्थापना का अर्थ होगा उद्योग में जनतंत्र का यथार्थ अनुप्रयोग और उद्योग स्वतः इस रीति से स्वेच्छित पद्धति पर संगठित और स्वतंत्रतापूर्वक निदेशित होगा; जब कि राज्य-समाजवाद के द्वारा उद्योग में 'नौकरशाही' (ब्यूरोक्रेसी) का ही अनुप्रयोग होगा जिसका इस संदर्भ में अर्थ होता है जनतंत्र का निषेध।

हमें प्रायः बताया जाता है कि मध्ययुगीन राज्य 'समुदायों का समुदाय', नैगम निकायों (Corporate bodies)—गिल्डों, धर्मसंघों, नगरों (boroughs) और उपनगरों—का समूह था। गिल्ड-समाजवाद के अधीन आधुनिक राज्य व्यावसायिक गिल्डों का समुदाय होगा। परन्तु राज्य ऐसे गिल्डों के समूह से अधिक भी कुछ होगा। वह केवल कोष्ठक अथवा 'हाइफ़न' न होकर, एक यथार्थ वस्तु होगा। यहीं पर गिल्ड-समाजवाद का श्रमिक-संघवाद से, जो कि अपने पूर्ण रूप में एक फ्रांसीसी, न कि अंग्रेज़ी, विचारधारा है, मार्ग पृथक् होता है। श्रमिक-संघवादी व्यावसायिक समूह की पूर्ण स्वायत्तता पर अधिक दृढ़ होने के कारण राज्य के ही विरोधी बन गए हैं। वे 'पेट्री' (patrie) और 'प्रोप्राइटी' (propriete) को समानार्थक मानते रहे हैं। उनका कथन है कि राज्य संपत्ति की रक्षा करता है और संपत्ति का नाश करने के लिए राज्य का नाश करना आवश्यक है। 'ले क्लास, सेस्ट ले पेट्री' (la classe, c'est

la patrie) उनका आदर्श-वाक्य रहा है; उन्होने व्यवसायवाद (Occupationalism) को देशभक्ति का स्थान देने का प्रयत्न किया है। इसके विपरीत "गिल्ड सोशलिज्म' के रचयिताओं के द्वारा राज्य और गिल्ड दोनों को स्थान दिया गया है; और ऐसा उन्होंने एक प्रकार के 'शक्ति-पृथक्करण' के द्वारा किया है जो कि प्रथम दृष्टि में सरल प्रतीत होता है परन्तु व्यवहार में पर्याप्त कठिन प्रतीत होगा। राज्य को वे ऐसे समस्त विषय सौंप देने के पक्ष में हैं जो राष्ट्र की आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं—यथा, ललित कला, शिक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, न्याय, सार्वजनिक व्यवहार; गिल्ड को वे ऐसे समस्त विषय दिए जाने का समर्थन करेंगे जो राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित हैं। उदाहरणार्थ, उनके द्वारा राज्य के लिए समस्त उच्च शिक्षा सुरक्षित की गई है; गिल्डों के लिए प्राविधिक शिक्षा (technical education) का पूर्ण क्षेत्र छोड़ दिया गया है। इस प्रकार राज्य में दो जनतंत्र व्यवस्थाओं की स्थापना होगी—एक आर्थिक जनतंत्र व्यवस्था और दूसरी राजनीतिक; और ये दोनों जनतंत्र व्यवस्थाएँ किसी भी जनतंत्र की आवश्यक और अति-महत्वपूर्ण दशाएँ हैं। क्योंकि जब तक आर्थिक जनतंत्र व्यवस्था नहीं होती—अर्थात् श्रमिकों के द्वारा अपने कार्य का स्वतः नियन्त्रण नहीं होता—राजनीतिक जनतंत्र-व्यवस्था का होना व्यर्थ है। यह एक व्यर्थ बात है कि मनुष्य को राज्य के मामलों में मताधिकार प्राप्त होना चाहिए जब कि उसका गिल्ड की कार्यवाही में कोई स्वर न हो। "आर्थिक सत्ता राजनीतिक सत्ता की पूर्ववर्ती होती है और उसका नियन्त्रण करती है।" एक बार जनतांत्रिक गिल्ड की स्थापना कर देने पर अन्य सब बातें पूरी हो जावेंगी। एक ऐसे राज्य का उदय होगा जो उत्पादन के समस्त साधनों का स्वामी होगा, परन्तु उन साधनों को इस शर्त पर गिल्डों के लिए उपलब्ध कर देगा कि वे उसे इसके बदले में एक वार्षिक प्रतिकर दें; और इस प्रतिकर से राज्य को आवश्यक धन की उपलब्धि होगी। ऐसा राज्य, जिसे अपने वित्त तथा आर्थिक मामलों के बारे में कोई चिंता न होगी, क्योंकि वे या तो प्रत्येक गिल्ड के पृथक् नियन्त्रण में रहेंगे, अथवा अधिक व्यापक कार्यों के लिए गिल्डों के एक सम्मेलन के अधीन रहेंगे, अपने आपको आत्मिक बातों में स्वतंत्रता पूर्वक लगाएगा और अपना जीवन 'निश्चयात्मक रीति से

स्वतन्त्रतापूर्वक तथा संभवतः सर्वोच्च रूप में' व्यतीत करेगा। और यदि हम यह प्रश्न करें कि 'तब क्या होगा यदि एक गिल्ड और दूसरे गिल्ड में विवाद उत्पन्न हो और उनमें से प्रत्येक अपने सदस्यों के लिए सर्वोत्तम दशाएँ प्राप्त करने का प्रयत्न करे ? तब क्या होगा यदि गिल्डों का सम्मेलन, जिसकी अपनी नीति और अपनी भावना होगी, राज्य की संसद् से विवाद करे ?' तो हमें अपने को इस विचार से संतुष्ट रखना चाहिए कि 'चूँकि वस्तुओं की प्राकृतिक गतिशीलता के कारण वे गतिशील होने के लिए बाध्य हैं, वे साथ-साथ चलेंगी'—उसी प्रकार जैसे मांटेस्क्यू ने अपने को शक्ति-पृथक्करण से उत्पन्न होने वाले संभाव्य संघर्षों के बारे में सोचने पर संतुष्ठ कर लिया था।

यथार्थ में, गिल्ड समाजवाद के द्वारा प्रतिपादित कोई भी सिद्धान्त आज के 'महा-समाज' की समस्त गतिविधियों की अतिमहत्वपूर्ण अन्योन्याश्रयता के सरल तथ्य के सामने नहीं ठहर सकता। राज्य एक ही निकाय है : विभाजन करने का कोई भी चातुर्यपूर्ण प्रयत्न इस तथ्य को ओझल नहीं कर सकता। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध राज्य को तथा आर्थिक उत्पादन का नियन्त्रण गिल्ड को सौंपना बेकार है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में आर्थिक उत्पादन के प्रश्न अन्तर्निहित रहते हैं और आर्थिक उत्पादन के प्रश्नों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध। या तो राज्य का अंत ही हो जाना चाहिए, जैसा कि श्रमिक-संघवादी (Syndicalists) कहते प्रतीत होते हैं, और इसका अर्थ होगा अराजकता, अथवा राज्य को बने रहना चाहिए—और तब, यदि समाजवाद अपेक्षित है, तो वह राज्य-समाजवाद ही होगा। यदि राज्य को रहना ही है तो उसे अपने नागरिकों के जीवन का पूर्ण उत्तरदायित्व प्राप्त होना चाहिए। तथापि, राज्य-समाजवाद गिल्ड-समाजवाद से कुछ ग्रहण कर सकता है। यह बात देखना रुचिकर है कि किस प्रकार ग्राहम वालाज़, जो सन् १८८६ के 'फेबियन एसेज़' के लेखकों में से एक था, अपने नवीनतम कृति, 'दि ग्रेट सोसाइटी' (१६१४) में नवीन सुझावों के प्रति स्वस्थ और ग्रहणशील मस्तिष्क प्रयुक्त करता है।

पच्चीस वर्ष पूर्व फेबियनों ने राज्य को उसी रूप में स्वीकार करते हुए जैसा वह उस समय था, यद्यपि वे उसकी केन्द्रीय संसद् और उसकी स्थानीय प्रातिनिधिक संस्थाओं का एक अधिक पूर्ण जनतांत्रिक ढाँचा चाहते थे, यह कहा कि

इस राज्य को क्रमशः आर्थिक जीवन का नियंत्रण अपने हाथ में लेना चाहिए। प्रातिनिधिक जनतंत्र और उत्पादन पर राज्य का नियंत्रण ये दोनों उनकी विचार-धारा के सह-संबंधित सिद्धान्त थे; परन्तु यह मानते हुए कि प्रातिनिधिक जनतंत्र अपने आप ही स्थापित होगा और द्रुत गति से स्थापित होगा, फेबियनों ने उत्पादन पर राज्यिक-नियंत्रण स्थापित करने के साधनों पर अपने ध्यान को केन्द्रित किया। 'न्यू वर्ल्ड फ़ार ओल्ड' (१६०८) में एच० जी० वैल्स ने शासन की समस्यों पर पुनः ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया और यह सुझाव दिया कि शासन का ढाँचा ऐसी समस्या है जो उद्योग के समाजीकरण की अपेक्षा प्राथमिक है। संपत्ति को व्यक्तिगत नियंत्रण से सामूहिक नियंत्रण में हस्तांरित करने के पूर्व हमें शासन-संस्था के रूप में ऐसी वस्तु प्राप्त करनी होगी जिसके कार्यकुशल नियंत्रक संस्था के रूप में विकसित होने की युक्तियुक्त पर्याप्त संभावना हो।' वैल्स प्रशासन के नवीन क्षेत्र और नवीन प्रकार के निर्वाचक-समूह सुझाता प्रतीत होता है; परंतु उसका मुख्य जोर सामाजिक मनोविज्ञान के अध्ययन पर है जिससे सर्वाधिक उत्साहपूर्ण 'सामूहिक मस्तिष्क' उत्पन्न करने के लिए आवश्यक क्षेत्रों और निर्वाचक-समूहों को खोजा जा सके और इस प्रकार समष्टिवादी राज्य का आवश्यक उपकरण उपलब्ध किया जा सके। ग्रांहम वालाज़ को, जो 'लन्दन काउन्टी काउन्सिल' का अनेक वर्ष तक सदस्य रहा था, स्थानीय क्षेत्रों और निर्वाचकों के व्यवहार का लंबा यथार्थ अनुभव था, जब कि सामाजिक मनोविज्ञान के अध्ययन का वह, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, सर्वाधिक मौलिक व्याख्याकार था। दोनों ही रीति से वह एच० जी० वैल्स द्वारा प्रस्तुत की गई 'हमारी प्रातिनिधिक और प्रशासकीय व्यवस्था के इस प्रकार वैज्ञानिक पुनर्गठन, कि सत्ता और वास्तविक अभिव्यक्ति समुदाय के विकासशील सामूहिक मस्तिष्क को दी जा सके', की समस्या का सामना करने की ओर अग्रसर हुआ।

ग्राहम वालाज़ की 'ग्रेट सोसाइटी', 'गिल्ड सोशलिज्म' की भाँति 'क्षेत्रीय मानस' (Communal mind) के लिए नवीन ढाँचे खोजने का वृहत् प्रयत्न नहीं है। प्रत्युत् वह सामाजिक चिकित्सा शास्त्र (social therapeutics) पर अथवा, यदि एक अधिक बेढंगा शब्द प्रयुक्त किया जाय तो सामाजिक

मनोचिकित्सा-शास्त्र (psycho-therapeutics) पर लिखा गया ग्रन्थ है। इसके लेखक ने सामाजिक मनोविज्ञान के—जो कि 'वह ज्ञान है जो हमें समाजों में संगठित मनुष्यों के व्यवहार के बारे में भविष्यवाणी करने तथा इस कारण उसे प्रभावित करने की क्षमता प्रदान करेगा'—प्रकाश में हमारे प्रातिनिधिक शासन की वर्तमान प्रणाली के रोगों की प्रकृति के बारे में निर्णय करने और उनके उपचार सुझाने का प्रयत्न किया है। वह यह स्वीकार करता है कि ऐसे रोग हैं जिनके लक्षण सन् १८८६ के फेबियन विचारक नहीं देख सके, वरन् जिन्हें १८८६ के बाद राजनीतिक जीवन के अनुभव तथा सामाजिक मनोविज्ञान के नवीन अध्ययन के कारण पहचाना जा सका है; निर्वाचक समूह को हर प्रकार के सुझाव (suggestion) के द्वारा सम्मोहित करने की पूर्ण प्रक्रिया हमारे सम्मुख है; बड़े-बड़े स्वार्थ वालों के द्वारा अपने हित के लिए निर्वाचक समूह के कुशलतापूर्वक उपयोग किये जाने के उदाहरण हमारे सम्मुख हैं; हमारे सम्मुख निर्वाचकों के कुछेक वर्गों की शासन अथवा नगरपालिका पर जिसके अधीन वे मजूरी या काम करते हैं, अपने मत-शक्ति के द्वारा प्रभाव डालने की प्रवृत्ति है। श्रमिक संघवाद, अपने विभिन्न पक्षों में, इन बुराइयों को दूर करने का एक प्रयत्न है। भौगोलिक क्षेत्रों का—यानी, नगरपालिकाओं, प्रान्तों. निर्वाचन क्षेत्रों का—परित्यजन कर, यह व्यवसायिक संगठन के अस्थानीय संवास में उस पुनर्निर्माण की संभावना देखता है जिसकी एच० जी० वैल्स ने इच्छा की थी। परन्तु गिल्डों में भी बुराइयाँ हो सकती हैं; मध्य युगों के गिल्डों में वे निश्चयपूर्वक थीं; और आज भी गिल्डों पर आधारित समाजवादी विचारधारा का परिणाम अनन्य एकाधिकार की भावना, एक गिल्ड और दूसरे गिल्ड के बीच ईर्ष्या, तथा एक ऐसा ओछा भाव जो महान् समाज की तुलना में गिल्ड रूपी छोटे संवास को प्रश्रय दे, हो सकता है। इस प्रकार भौगोलिक प्रतिनिधित्व पर आधारित राज्य-समाजवाद तथा व्यवसाय के सिद्धान्त पर आधारित गिल्ड समाजवाद के बीच एक मध्य मार्ग निकालना आवश्यक है; और ग्राहम वालाज़ ने वह मध्य-मार्ग समष्टिवाद तथा प्रतिनिधित्व को उसे समूहों (groups) को मान्यता प्रदान कर संशोधित करके बनाये रखने में, तथा दबाव की संभावना से मुक्त प्राधिकारियों की स्थापना कर, पाने का प्रयत्न किया है। [उदाहरणार्थ, द्वितीय सदन (Second

Chamber) के गठन में वह समूह को मान्यता प्रदान करने को प्रस्तुत है, परन्तु साथ ही निम्न सदन (Lower Chamber) के लिए वह भौगोलिक प्रतिनिधित्व ही बनाये रखना चाहता है। वह उन कार्यों के नियंत्रण के लिये—वे शैक्षिक हों अथवा आर्थिक—जिनमें केवल निर्वाचित प्रतिनिधित्व का प्रयोग चालबाजियों और अनुचित प्रभावों में परिणत हो सकता है जब कि दूसरी ओर केवल व्यावसायिक व्यवस्था होने से अनन्यता और एकाधिकार की अवस्था आ जाने का संकट रहता है, ऐसे निकायों के निर्माण की वकालत करता है जिनमें बहुसंख्या निर्वाचित प्रतिनिधियों की हो परन्तु अल्पसंख्या में सदस्य व्यावसायिक संगठनों द्वारा नियुक्त किये जायँ। संक्षेप में वह फेबियन विचारधारा का व्यवसायवाद (Occupationalism) से बहुत कुछ उसी प्रकार समाधान करने का प्रयत्न करता है, यद्यपि उसके प्रयत्न में स्पष्टता और युक्तियुक्तता की मात्रा अधिक है, जिस प्रकार सन् १९१२ में ब्रिटिश सोशलिस्ट पार्टी ने मार्क्सवाद का ट्रेड-यूनियन-वाद से समाधान करने का प्रयत्न किया था।

इस प्रकार आज समाजवाद की अनेक धाराएँ हमारे सामने आती हैं। इनमें से कुछ यद्यपि स्पष्ट हैं तो भी उन्हें दूसरों से पृथक् रूप में देखना कठिन है, और कुछ को एक दूसरे के साथ समझौते और समाधान के प्रयत्नों के द्वारा एकाकार किया जा रहा है। हमारे सामने मार्क्सवादी परम्परा है, जो सोशलिस्ट दल के द्वारा जीवित रखी गई है; साथ ही वैब्स की परम्परा भी हमारे सामने है जो फेबियन विचारधारा के रूप में जीवित है। दोनों ही राज्य-समाजवाद (State Socialism) के रूप हैं जिनके भेदों को हम देख चुके हैं परन्तु जिनमें यह बहुत बड़ा समान तत्व है कि वे 'महा समाज' को समाजवाद के उपकरण के रूप में स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर श्रमिक-संघवाद तथा गिल्ड समाजवाद के नवीन मत हैं जो पुरानी परम्परा से इस कारण मूलतः भिन्न हैं कि उन्होंने समूहों को समाजवाद का उपकरण माना है और इस दृष्टि से एक दूसरे से समरूप हैं परन्तु जो एक दूसरे से राज्य के प्रति दृष्टिकोण में भिन्न हैं। यहाँ चार धाराएँ हमारे सामने आती हैं; और इनमें से मार्क्सवादी धारा, यदि ब्रिटिश सोशलिस्ट पार्टी के सन् १९१२ के स्वर से निर्णय किया जाय, तो श्रमिक-संघवाद (Syndicalism) से संबंध स्थापित करने का प्रयास कर रही है,

जब कि फेबियन धारा यदि ग्राहम वालाज़ की रचनाओं के आधार पर कोई निश्चय किया जाय, तो गिल्ड-समाजवाद की धारा से पूर्णतः पराङ्मुख नहीं है। निस्संदेह, एक जटिल स्थिति का इस प्रकार का चित्रण कृत्रिमता की मात्रा तक सरल है। जो बात स्पष्ट है वह यह है कि गिल्ड की धारणा—चाहे, जैसा कि हिलेर बेलॉक का विचार था, वह कृषक स्वामित्व (peasant proprietor-ship) का रक्षक और आवरण मात्र हो, अथवा, जैसा कि 'गिल्ड सोशलिज्म' के लेखकों का विचार था, वह ऐसे जीवन का आवश्यक संगठन हो जिसमे गिल्ड पूर्ण मानस को पूरित किए रहता है—वर्तमान काल की प्रधान धारणा है। इस धारणा से प्रवाहित होनेवाली राज्य-समाजवाद की आलोचना की समाजवादी विचारधारा के एक नवीन समायोजन मे परिणत होने की ही अधिक संभावना है। जब यह कहा जाता है कि परम्परागत समाजवाद केवल पूँजीवाद का विशुद्ध रूप ही है, जिसमें पूँजीवादी व्यवस्था के प्रबंधकों का स्थान राज्य के कर्मचारी ले लेते हैं परन्तु जिसमे सामान्य नागरिक की जीवन-दशा के रूप मे 'वेजरी' बनी रहती है, तो यह आक्षेप गलत नहीं होता। अंततः, महा-समाज के द्वारा कार्यान्वित होनेवाला समाजवाद अपने गड्ढों और चट्टानों से छुटकारा नहीं पा सकता। या तो उसे एक ऐसा महान् और स्वतंत्र प्रशासन विकसित करना होगा जो नागरिकों के जीवन को नियंत्रित करे—और इस मार्ग से, यह कहा जा सकता है, हम स्थितिबद्धता और 'दास-राज्य' की ओर आगे बढ़ेंगे; अथवा उसे एक विशाल और संप्रभु निर्वाचक-समूह विकसित करना होगा जो प्रशासन की कार्यवाहियों को नियंत्रित रखे—और इस मार्ग से राज-कर्मचारियों के मध्य, इस बात के निर्णय के लिए प्रशासन पर किस का अधिक प्रभाव रहेगा, भयंकर संघर्ष और प्रतिद्वंदिता की उत्पत्ति होगी, और इसका परिणाम होगा अराजकतापूर्ण राज्य। यह सत्य है कि इस बात की कोई प्रति-भूति नहीं है कि गिल्ड अपने संकटों से छुटकारा पा सकेगा, अथवा एक गिल्ड और दूसरे गिल्ड के बीच संघर्ष प्रतिद्वंदिता और अराजकता का रूप नहीं ले लेगा। परन्तु, गिल्ड के पक्ष में चिन्तन की वह संघवादी प्रवृत्ति है जो कि, जैसा कि हम देख चुके हैं, आधुनिक चिन्तन में अत्यधिक सशक्त है। धार्मिक-समूह के स्वतन्त्र जीवन के बारे में चिन्तित, 'हाई चर्चमैन' को गिल्ड-समाज-

वादियों की शिक्षा अपने उद्देश्य के अनुरूप ही लगती है; वह समय पड़ने पर अपने को श्रमिक-संघवादी (Syndicalist) भी घोषित कर सकता है। हमारे देश की आधुनिक राजनीति तथा संघर्षरत योरोप की समकालीन राजनीति में समान रूप से प्रधान, राष्ट्रीय समूहों के अधिकारों की प्रस्वीकृति के लिए आंदोलन भी यही मार्ग दिखाता है। और, अंततः, संभवतः यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात है कि, 'चर्चमैन' और राजनीतिज्ञों की संघवादी प्रवृत्तियों के अतिरिक्त, हमें पिछले कुछ वर्षों में हुए स्वेच्छित सहकारिता के विकास पर भी, जो आयरलैंड में विशेष रूप से सामने आता है, विचार करना होगा। निस्संदेह कृषि-उद्योग ने एक गिल्ड का रूप नहीं लिया है; परन्तु उसने स्वेच्छित और स्व-व्यवस्थित सहकार्य का क्षेत्र बनने की दिशा में प्रगति निश्चय ही की है। और इस प्रकार इससे यह परिणाम निकलता प्रतीत होगा कि यदि हम आर्थिक जीवन पर राज्य के नियंत्रण को समाप्त नहीं कर सकते, जिसे करने का गिल्ड-समाजवादी सोचते प्रतीत होते हैं, तो हम आर्थिक जीवन में गिल्ड के द्वारा किए जाने वाले प्रबन्ध-कार्य को भी समाप्त नहीं कर सकते—जिसे राज्य-समाजवादी करना चाहते थे। हमारी समस्या राज्य-नियन्त्रण का स्वेच्छित सहकार्य से समाधान स्थापित करना है। इस समस्या का हल कृत्यों के विभाजन से, जिसके परिणाम-स्वरूप आर्थिक जीवन पर राज्य का कोई नियन्त्रण नहीं रहेगा, नहीं हो सकता; परन्तु इसे शक्तियों के केन्द्रीकरण के द्वारा, जिसके परिणामस्वरूप, कम से कम बड़े-बड़े प्रधान उद्योगों में तो निश्चय ही, स्वेच्छित सहकारिता के लिए कोई स्थान नहीं बचेगा, भी हल नहीं किया जा सकता।

× × ×

यहाँ हम उस साहित्य को जिसमें समाजवाद की आलोचना की गई है, हाथ नहीं लगा सकते। सन् १९०८ में डब्लू० एच० मैलॉक ने 'क्रिटिकल एक्ज़ामिनेशन ऑव सोशलिज़्म' प्रकाशित की और आर्नाल्ड फ़ोस्टर ने 'दि केस अगेंस्ट सोशलिज्म'। लगभग बीस वर्ष पूर्व 'लिबर्टी एंड प्रॉपर्टी डिफेंस लीग' के लिए लिखी गई अनेक पुस्तिकाओं में डॉनिस्थोप ने 'अहस्तक्षेप' की विचारधारा का प्रतिपादन किया था। उसके, तथा आबेरन हर्बर्ट के हाथों में

ऐसे दृढ़ व्यक्तिवाद को जो राज्य का कार्य केवल न्याय-प्रशासन तक ही सीमित रखने तथा उसके क्षेत्र से व्यक्ति और सम्पत्ति की रक्षा के अतिरिक्त अन्य समस्त कार्य अलग करने का प्रयत्न करता है, जो कि प्रत्येक प्रकार के पैतृक-शासनवाद की प्रतिक्रिया था, रोचक अराजकतावाद की सीमा तक, चाहे वह विद्वत्मंडली की ही वस्तु क्यों न हो, जाते देखते हैं।

तथापि एक कृति ऐसी है, जो समाजवादी मत की आलोचना कहलाने के स्थान पर यथार्थ जीवन में समाजवादी प्रवृत्तियों का प्रभावी विश्लेषण ही कही जानी चाहिए, जिसका सौन्दर्य हमारा ध्यान आकर्षित करता है। यह है पियर्सन की पुस्तक 'नेशनल लाइफ़ एंड करैक्टर' (१८६४)। अंशतः निम्नतर जातियों के उच्चतर जातियों पर प्रभाव के कारण, और अंशतः समाजवादी प्रवृत्तियों के, जिन्हें यह प्रभाव दृढ़ करेगा, कारण, समस्त प्रगति के अंत तथा एक गतिहीन राज्य के आगमन की दुःख और उदासीनता के साथ आशा करता हुआ, पियर्सन शांतिपूर्वक गतिहीन राज्य (Stationary State) के स्वरूप का विश्लेषण करता है। वह यह अनुभव करता है कि मूलतः इसका अर्थ होगा राज्य पर अत्यधिक आश्रयता, जिससे मौलिकता की समस्त अभिव्यक्तियों में बाधा पड़ेगी। राज्य अपने सदस्यों को शिक्षा, स्वास्थ्य, नौकरी और हर प्रकार की शांतिपूर्ण सुरक्षा प्रदान करेगा। राज्य उनके हृदयों पर अधिकार कर लेगा; चर्चों का अपने सदस्यों पर प्रभाव कम हो जाएगा, और परिवारों का अपने सदस्यों पर प्रभाव पहले की अपेक्षा बहुत कम रह जाएगा। 'परिवार का पतन' उसके सर्वाधिक चित्ताकर्षक अध्यायों में से एक का विषय है। परन्तु पियर्सन ने राज्य के अन्तर्गत रहनेवाले संवासों—चर्च, यूनियन, गिल्ड तथा परिवार—के मौलिक महत्त्व पर नगण्य सा ही ध्यान दिया था। ये संवास आज पुनः अपने अस्तित्व के अधिकार का दृढ़तापूर्वक दावा कर रहे हैं। सन् १८३२ में लोगों को यह भय था कि अतिक्रमणकारी राज्य चर्च को आत्मसात कर लेगा; और ऐसा होने पर भी न्यूमैन के माध्यम से चर्च अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के दावे को दृढ़तापूर्वक उपस्थित कर रहा था, और तब से निरन्तर ऐसा दावा करता रहा है। और इसी रीति से, सन् १८६४ में चाहे पियर्सन ने यह समझा हो कि सतत् रूप में अपना क्षेत्र बढ़ाने वाला राज्य सम्पूर्ण मानवीय जीवन को अपने

घेरे में ले लेगा, पर सन् १६१४ में चिन्तन-धारा दूसरी ही दिशा में प्रवाहित होती प्रतीत होती है।

परन्तु पियर्सन की एक भविष्यवाणी, जबकि वह समकालीन इंग्लैंड के आंतरिक विकास के विपरीत है, योरोप की सामान्य प्रवृत्ति से पुष्ट होती है। उसने यह भविष्यवाणी की थी कि समाजवाद अपने संघर्ष काल में अन्तर्राष्ट्रीय और यहाँ तक कि राष्ट्र-विरोधी भले ही हो, और चाहे वह सैन्यवाद-विरोधी क्यों न हो, तो भी एक बार विजयी होने पर समाजवाद अपनी और अपनी विजय की रक्षा के लिए अत्यधिक राष्ट्रवादी बन सकता है और उसकी वैसा बनने की प्रवृत्ति होगी—और सैन्यवादी (militarist) तो वह प्रायः निश्चय-पूर्वक ही बन जाएगा। उसका विचार था कि एक समाजवादी राज्य अन्य हीन राज्यों के साथ प्रतिद्वंद्विता के द्वारा अपने 'जीवन-स्तर को नीचे नहीं गिरने दे सकता और स्वरक्षा के लिए वह अपवर्जन (exclusion) के हर संभव कवच को धारण करेगा।* ब्रिटिश साम्राज्य के कुछ सर्वाधिक उच्च जनतंत्रों की प्रवृत्तियाँ इस मत को गलत ठहराने की अपेक्षा उसकी पुष्टि ही करती हैं। और योरोपीय समाजवादियों का अपने राष्ट्र-राज्यों की रक्षा के लिए, अपने उद्देश्य की पूर्ति के पूर्व ही, शस्त्र सँभाल कर खड़े हो जाना, यही बतलाता है कि समाजवाद की विजय का अर्थ आवश्यक रूप से अन्तर्राष्ट्रवाद की विजय नहीं होगा।

हमने आर्थिक विचारधारा के राज्य के आन्तरिक संगठन और कार्य की सामान्य धारणा के साथ सह-सम्बन्ध पर विचार कर लिया है; अभी उसके अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धान्त और व्यवहार पर प्रभाव पर विचार करना शेष है। परंपरागत राजनीतिक अवस्था के प्रधान सिद्धान्त, मुक्त व्यापार (Free Trade) की परिणति न केवल आभ्यन्तरिक मामलों में 'यद्भाव्यं' की राजनीतिक विचारधारा में हुई; इसकी परिणति वैदेशिक नीति के क्षेत्र में अहस्तक्षेप के सहसंबंधित सिद्धान्त में भी हुई। कॉब्डन का यह तर्क था कि मुक्त व्यापार वस्तुओं के उस शांतिपूर्ण आदान-प्रदान की आवश्यक दशा के रूप में जिसके द्वारा ही सर्वाधिक धन की प्राप्ति हो सकती हैं, विश्वबन्धुत्व के आदर्श से अनुप्राणित राष्ट्र-संगठन (comity of nations) की माँग करता है।

वह ईश्वर के प्रति इस बात के लिए अनुग्रहीत था कि 'अंग्रेज लोग ऐसे काल में जीवन-यापन कर रहे हैं जब युद्ध को लाभकारी बनाना* असंभव है।' उसके दृष्टिकोण को निर्धारित करने में आध्यात्मिक प्रेरणाओं का काफ़ी अनुदाय था। ब्राइट की भाँति कॉब्डन को भी युद्ध से सच्ची घृणा थी; शांतिवाद और विश्वबन्धुत्व के वे आदर्श जो उसे प्रिय थे, अंतःकरण के प्रति एक नैतिक अपील और आर्थिक साधनों की ओर लक्षित एक आर्थिक अपील पर आधारित थे। इस नैतिक अपील का विशुद्ध रूप हम ग्रीन की इस धारणा में कि युद्ध अपनी प्रकृति से ही नैतिक दृष्टि से गलत है और उसकी मानवता की 'सार्वभौमिक बन्धुत्व' की संबंधित धारणा में देख सकते हैं। ग्रीन ब्राइट से प्रभावित हो चुका था और उसमें यह प्रभाव अपने सर्वोत्तम रूप में सामने आता है। परन्तु फिर भी यह बात सही है कि कॉब्डन द्वारा की गई जीवन की व्याख्या नैतिक होने की अपेक्षा आर्थिक ही है। प्रत्येक बात व्यक्ति की आर्थिक भावना पर आश्रित रखी गई है। और संगठित राज्य के राष्ट्रीय भाव का नगण्य सा ही ध्यान रखा गया है। अर्थव्यवस्था ही राजनीति का मापदंड मानी गई है; सर्वाधिक उत्पादन में सहायक या बाधक होने के आधार पर ही किसी नीति को अच्छा या बुरा बताया गया है। यहाँ आभ्यंतरिक क्षेत्र में दलित वर्गों की सहायता के लिए अथवा बाह्य क्षेत्र में संघर्षरत आदर्शों की सहायता के लिए हस्तक्षेप करने के राष्ट्रीय कर्त्तव्य की धारणा के लिए नगण्य सा ही स्थान है।

ग्लैड्सटन के साथ कुछ परिवर्तन हमारे सामने आता है। सामाजिक सुधार के समर्थन के लिए उसमें चाहे रंच मात्र ही उत्साह हो और आन्तरिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता का उसे नगण्य सा ही ज्ञान क्यों न हो, परन्तु इंग्लैंड की विदेश नीति पर वह निश्चयात्मक प्रभाव छोड़ गया। उसने मेजिनी के इस महान् विश्वास को ग्रहण कर लिया था कि 'राष्ट्र का एक मिशन होता है'; उसका यह विचार था कि प्रत्येक राष्ट्र का यह कर्त्तव्य है कि वह योरोपीय राजनीति के जगत में संघर्षरत उद्देश्यों और उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं के साथ खड़ा हो और यदि उनकी सहायता न करे तो उनके प्रति सहानुभूति तो रखे ही। उसकी सफलता बहुत अधिक महान् अथवा आक-

र्षक चाहे न हो, वह एक परंपरा तो छोड़ ही गया। विदेशों में उसने इंग्लैंड के नाम को लिबरल और राष्ट्रीय उद्देश्यों के पक्ष में सहानुभूतिपूर्ण हस्तक्षेप की नीति के साथ अनन्य रूप में संबंधित कर दिया और उसने अपने देश में अपने दल को पूर्णतः आर्थिक प्रेरणाओं से उद्भूत होने वाली तथा मात्र अहस्तक्षेप में परिणत होने वाली विदेश नीति अपनाने की विचारधारा से विमुख कर दिया। जहाँ इंग्लैंड में इस प्रकार का परिवर्तन खोजा जा सकता है, जर्मनी में एक अन्य और इस से कहीं अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन लाया जा रहा था। जर्मनी राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता की विचारधारा का प्रतिपादक बन गया। कॉब्डन के विश्वबन्धुत्व के आदर्श के विरुद्ध उसने लिस्ट (List) का राष्ट्रवादी आदर्श खड़ा किया। आत्म-परिपूर्ण जर्मन राष्ट्र ने जो अपने आर्थिक जीवन के प्रत्येक पक्ष को वैज्ञानिक संरक्षण के द्वारा बढ़ावा दे रहा था, और अपने राष्ट्रीय आदर्श की पूर्णता के लिए अपने समस्त नागरिकों से पूर्ण तथा अविचल भक्ति की माँग कर रहा था, राष्ट्र-रहित विश्व के स्वप्न देखने वालों को मुकाबले के लिए चुनौती दी। मेजिनी की ही भाँति ट्रीट्श्के (Trietsche) के लिए भी 'राष्ट्र का एक मिशन होता है' परन्तु ट्रीट्श्के के विचारानुसार राष्ट्र का मिशन राष्ट्रीय संस्कृति का और—चूँकि शक्ति ही संस्कृति की वाहक है—राष्ट्रीय शक्ति का विस्तार है।

ऐसे काल में नार्मन ऐंजिल (Norman Angell) पुनः कॉब्डन की विचारधारा सामने लाता है। यदि कॉब्डन ईश्वर के प्रति इस कारण अनुग्रहीत था कि इंग्लैंड के लिए कोई युद्ध लाभकर नहीं हो सकता था, तो 'दि ग्रेट इल्यूजन' (१९०९) का रचयिता इस अनुग्रह के क्षेत्र को और अधिक विस्तृत करने का और यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि युद्ध किसी राष्ट्र के लिए लाभकारक नहीं हो सकता। वह इस तर्क का समर्थन न केवल अर्थशास्त्र से करता है वरन् जीवशास्त्र और मनोविज्ञान को भी इसके समर्थन के लिए ला उपस्थित करता है। जीवशास्त्र की सहायता से वह प्राकृतिक चयन (natural selection) के सिद्धान्त के सैन्यवादी तर्क का प्रतिवाद करने का प्रयत्न करता है। यह सत्य है कि युद्ध से उपयुक्ततम राष्ट्रों का चुनाव होता है, परन्तु यह चुनाव उनके विनाश के लिए होता है। मनोविज्ञान की सहायता

से वह सैन्यवादियों की इस दलील का कि मानवीय स्वभाव अपरिवर्तनीय रूप में कलहप्रिय है, खंडन करता है। यह सत्य है कि मानवीय स्वभाव में परिवर्तन नहीं होता; परन्तु वह नये वातावरणों के प्रति नवीन प्रकार की प्रतिक्रिया करता है और आधुनिक विश्व के वातावरण के प्रति उसकी प्रतिक्रिया शांति के लाभकारी होने का सजीव भाव है। परन्तु नार्मन एंजिल के तर्क का मूलाधार आर्थिक है। वह परंपरागत अर्थशास्त्र के व्यक्तिवाद को अंगीकार कर लेता है और राष्ट्रवाद के तथ्य के प्रति बेन्थमवादियों की भाँति ही तनिक भी ध्यान नहीं देता। वह आर्थिक प्रेरक-शक्ति के एकलन और अतिशयोक्ति कारण को स्वीकार कर लेता है और कॉब्डन की भाँति शांतिवाद का आर्थिक लाभ के तर्क से समर्थन करता है। परन्तु वह परंपरागत अर्थशास्त्रियों से भिन्न है क्योंकि वह विशेष जोर देने के लिए उनके द्वारा चुने गये आर्थिक तत्वों के समूह से भिन्न तत्व चुनता है। उन्होंने विश्व के बाजारों की पारस्परिक अन्योन्याश्रय पर बल दिया था। वह विश्व के बैंकों और स्टाक एक्सचेंजों की पारस्परिक अन्योन्याश्रयता पर जोर देता है।

'समस्त विश्व भर में एक संकालित बैंक-दर (synchronised bank-rate) तथा प्रतिक्रिया करने वाले 'बूर्स' (bourse) का अस्तित्व ही वह तथ्य है जिससे नार्मन एंजिल ने आरम्भ किया है। संचार की श्रेष्ठतर सुविधाओं और विशेषकर तार-प्रणाली ने समस्त विश्व भर के लिए एक ही साख-व्यवस्था स्थापित कर दी है। और इस व्यवस्था का ताना-बाना इस कोमलता से पूरा हुआ है, वह इतनी बारीकी से एक दूसरे से आबद्ध है कि कोई भी राष्ट्र इसके प्रति विद्रोह कर, चाहे सफलता भले ही प्राप्त कर ले परन्तु लाभ कभी प्राप्त नहीं कर सकता। इसके प्रति विद्रोह करने का एक निश्चित परिणाम साख (credit) का ह्रास होगा—न केवल उस राष्ट्र की साख का जो विद्रोह करेगा, वरन् अन्य समस्त राष्ट्रों की साख का भी। 'तार-व्यवस्था और बैंक ने सैनिक शक्ति को आर्थिक दृष्टि से निरर्थक कर दिया है।' परम्परागत कूटनीतिक तर्क की धारा कुछ इस प्रकार थी: 'उद्योगों के विकास से नए बाज़ारों की आवश्यकता होती है, नए बाज़ारों को प्राप्त करने के लिए परिवहन पर नियंत्रण आवश्यक होता है; समुद्र-पार के बाज़ारों के लिए परिवहन पर नियंत्रण समुद्री बेड़े के

द्वारा ही रखा जा सकता है; और समुद्री बेड़े के कारण, अंततः, युद्ध आवश्यक हो जाता है।' नार्मन ऐंजिल इसका प्रतिवाद एक नवीन तर्क से करता है। 'तार-व्यवस्था के कारण समस्त सभ्य जगत में एक ही साख-व्यवस्था (System of Credit) होना आवश्यक है; उस साख-व्यवस्था के लिए राज्यों की पारस्परिक अन्योन्याश्रयता आवश्यक है; इस वित्तीय-अन्योन्याश्रयता के लिए शांति का होना आवश्यक है।' शांति का समर्थन केवल बैंक-व्यवस्था के आधार पर करना, हमें संकटपूर्ण प्रतीत हो सकता है। बैंकिंग अनेक आर्थिक क्रियाओं में से एक क्रिया है; और यह अनेक दृष्टि से विशिष्ट प्रकार की है। शताब्दियों से इसका स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय रहा है; चौदहवीं शताब्दी में फ्रांस के साथ उनके युद्धों में अंग्रेज़ राजाओं को इटली के बैंकरों ने रुपया दिया था; परन्तु यह सब होने पर भी युद्धों और युद्धों की अफ़वाहों का कभी अंत नहीं हुआ है। तथापि, नार्मन ऐंजिल अपने तर्क का आधार बैंकिंग को ही बनाता है; और केवल एक पूरक-विचार के रूप में, प्रायः एक बाद में सोचे गए विचार की भाँति, वह शांति के समर्थन के लिए कुछ नवीन तर्क उस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन से प्रस्तुत करता है जिसकी ओर पूँजीवादियों और श्रमिकों दोनों की ही प्रवृत्ति है। उसके तर्क की धारा कुछ इस प्रकार प्रतीत होती है—'बैंकिंग में, और इस दृष्टि से अन्य आर्थिक बातों में भी, विश्व एक समाज है। राजनीतिक दृष्टि से, वह अनेक भिन्न समाजों में विभक्त है, जिनकी प्रवृत्ति एक दूसरे से प्रतिद्वंदिता करने की ओर है। इन दो तथ्यों में से प्रथम तथ्य अधिक महत्त्वपूर्ण है, और वह अधिकांशतः क्रिया का स्वरूप निर्धारित करता है। मनुष्यों का यह सोचने और अनुभव करने की अपेक्षा कि वे ऐसे सीमित राजनीतिक समाजों के सदस्य हैं, जिसका आवश्यक लक्षण युद्ध है, यह सोचने और अनुभव करने में अधिक हित है कि वे एक सार्वभौमिक आर्थिक समाज के सदस्य हैं जिसका आवश्यक लक्षण शांति है। आर्थिक-साधन ही मानवीय स्वभाव का नियंत्रण करते हैं; और इस बात को महसूस करते ही वे युद्ध करना बंद कर देंगे।'

नार्मल ऐंजिल की आर्थिक विचारधारा पर कोई विवाद आरम्भ करने का यह उचित स्थान नहीं है। हमारा सम्बन्ध उसमें अंतर्भूत राजनीतिक विचारधारा से है। जो कुछ अब तक कहा जा चुका है उससे यह स्पष्ट ही है कि यह

विचारधारा राज्य के प्रति एक दुर्भाव से पूर्ण है। नार्मन ऐंजिल उन समकालीन शक्तियों में से एक है जो राज्य को अप्रतिष्ठित करने के लिए कार्य कर रही हैं। वह 'शासन के विरुद्ध' है। वह 'भीड़ के मानस की विवेकहीनता की—अर्थात् इस तथ्य का कि एक मनुष्य राजनीति के क्षेत्र में, किसी ऐसे मामले में जो देशप्रेम से सम्बन्धित हो, इस प्रकार की विवेकहीनता और उत्तरदायित्व के भाव के पूर्ण अभाव से कार्य करता है, जैसा कि वह अपने व्यक्तिगत व्यापार में कभी नहीं करेगा'—उल्लेख करता है। यहाँ हम राज्य तथा उसके समस्त कार्यों के विरुद्ध होने वाली बुद्धिवाद-विरोधी प्रतिक्रिया (anti-intellectualist reaction) की, जिसका आधुनिक विचारधारा में इतना अधिक प्राधान्य है, एक नवीन धारा पाते हैं। ऐसा लगता है जैसे हम किसी अर्थ-विनियोक्ता (financier) को राज्य की अपने सुव्यवस्थित कार्यालय से तुलना करते समय शोकपूर्ण उद्गार व्यक्त करते सुन रहे हों। परन्तु वह सुशासित हो या कुशासित, राज्य नार्मन ऐंजिल के लिए राजनीतिक यंत्र व्यवस्था का एक भाग मात्र ही है। राज्य की धारणा में एकमात्र बात जिसे वह सामने रखता है वह है विशिष्ट प्रशासनीय दशाओं का एक समूह, क्योंकि राज्य के विभाग केवल प्रशासनीय सुविधा के ही लिए निर्माण किए गए हैं। ऐसे राज्य को जो नीचे गिरकर प्रशासनिक क्षेत्र की स्थिति को पहुँच गया है, पहचानना कठिन ही है, और नार्मन ऐंजिल के लिए, एक बार राज्य पर ग़लत दृष्टि से विचारारंभ करने के पश्चात्, इस बात से इन्कार करना कि उसका कोई यथार्थ व्यक्तित्व होता है, कठिन नहीं रहता। वह कहता है कि राज्य एक एकल निकाय अथवा 'सजातीय व्यक्तित्व' (homogeneous personality) नहीं है। राज्य को व्यक्तित्व, इच्छा अथवा उत्तरदायित्व से युक्त बताना भ्रम है जिसका कारण अंशतः उन विचारों का अभी तक जीवित बने रहना है, जिनका संभव है अरस्तू के समय में कोई स्थान रहा हो पर जो अब आर्थिक विकास के फलस्वरूप निरर्थक हो गए हैं; और अंशतः राज्य और व्यक्ति के बीच एक झूठा सादृश्य इसका कारण है। एक आधुनिक राज्य अकेला जीव अथवा जीवन की अकेली धारणा नहीं होता; उसके अन्तर्गत जीवन की अनेक धारणाएँ स्थान पाती हैं जिनमें से कुछ एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न होती हैं

और कुछ (उदाहरणार्थ, कैथोलिक धारणा) 'विदेशी राज्यों की धारणाओं से पूर्णतः मेल खाती हैं।' राज्य को समूहों के एक ढीले-ढाले संघ का रूप देकर नार्मन ऐंजिल स्वाभाविक रीति से न केवल इस बात से इन्कार करता है कि वह एक व्यक्तित्व है, अथवा यह कि वह उत्तरदायित्व वहन कर सकता है, वरन् इस बात से भी कि उसमें कोई यथार्थ राष्ट्रीय भावना होती है। 'राज्यों के निर्माण में राष्ट्रीय विभागों की पूरी तरह उपेक्षा की गई है।' जो उदाहरण उसने प्रस्तुत किए हैं उनसे यह प्रतीत होगा कि जब नार्मन ऐंजिल 'राष्ट्रीय' शब्द का प्रयोग करता है तो वस्तुतः उसका आशय 'जातीय' से होता है; और यद्यपि उसके पक्ष में यह स्वीकार किया जा सकता है कि आधुनिक राज्य जातीय दृष्टि से सजातीय नहीं हैं, यह बात उसी प्रकार स्वीकार नहीं की जा सकती कि इस प्रकार की सजातीयता का अभाव राष्ट्रीयता का अभाव प्रदर्शित करता है, अथवा यह सिद्ध करता है कि राष्ट्रीयता राज्यों के बीच आर्थिक सहयोग के मार्ग में रोड़ा बन कर नहीं खड़ी हो सकती।

अब तक हमने केवल नार्मन ऐंजिल की राजनीतिक विचारधारा के नकारात्मक पक्ष पर ही विचार किया है। उसका एक सकारात्मक पक्ष भी है। वह यह स्वीकार करता है कि मनुष्य भावना की समता के कारण एक दूसरे से बंधे हुए हैं; परन्तु वह यह कहता है इस समता की भौगोलिक सीमाओं अथवा प्रशासनिक क्षेत्रों के द्वारा व्याख्या नहीं की जा सकती। मनुष्य आर्थिक हित की समान भावना से आबद्ध हैं, जो ऐसे क्षेत्रों अथवा सीमाओं का कोई ध्यान नहीं करती; पुनः, वे अपने व्यवसाय अथवा वर्ग की समान भावना से आबद्ध हैं, जो कि समान रूप से अभौगोलिक तथा अराजनीतिक है। मनुष्यों को मिलाने वाली वस्तु है, जीवन की एक धारणा; और यथार्थ 'मानसिक' विभाग राष्ट्रों के बीच नहीं हैं, वरन् जीवन की विरोधी धारणाओं के बीच—राजनीतिक सीमाओं के बीच नहीं वरन् राजनीतिक दर्शनों के बीच। एक स्थान पर जहाँ वह यह स्वीकार करता है कि वह 'विधि, सामाजिक स्वभाव, तथा राजदर्शन संबंधी इंग्लैंड की कुछ धारणाओं को जर्मनी की धारणाओं से असीम रूप में 'श्रेष्ठतर' समझता है', नार्मन ऐंजिल अपने शेष

विचार से बहुत कुछ बेमेल रूप में यह स्वीकार करता प्रतीत होता है कि प्रत्येक राज्य जीवन की एक धारणा है, अथवा प्रत्येक राज्य की जीवन की एक धारणा होती है। एक अन्य स्थान पर, तथा अधिक संगति के साथ, वह जीवन की धारणाओं को राजनीतिक दलों के साथ एक रूपकर देता है। जर्मनी इंग्लैंड के विरुद्ध नहीं है; परन्तु जर्मनी और इंग्लैंड में जनतंत्र निरंकुशतंत्र (autocracy) का विरोधी है, और समाजवाद व्यक्तिवाद का। संक्षेप में, राजनीतिक दल, जिन्हें नार्मन ऐंजिल समस्त देशों में एक सरीखा मानता था परन्तु जो यथार्थ में ऐसे कभी नहीं होते, ही मौलिक समूह अथवा जीवन की धारणाएँ हैं जो मानसिक समभाव का निर्माण करते हैं। इसके अतिरिक्त, इन दलों को प्रधानतः जीवन की विभिन्न धारणाओं का एक विशिष्ट क्षेत्र में प्रतिनिधित्व करते हुए माना गया है—वह क्षेत्र है आर्थिक संघर्ष का क्षेत्र। इस संघर्ष की समस्याएँ 'राज्य के विभागों से मेल खाने वाली अथवा उससे एकरूप हो सकने वाली किसी धारणा से अधिक गहन और अधिक मौलिक है।' नार्मन ऐंजिल के मत का चरम परिणाम सीधा है। वह सामाजिक संघर्ष में भिन्न पक्षों का समर्थन करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय दलों के बीच संघर्ष को स्थान देने के लिए राज्यों के बीच संघर्ष का अंत करना चाहता है। अथवा यों कहा जाय कि वह एक प्रकार के युद्ध का अंत उस से भी बुरे युद्ध को उसका स्थान देने के लिए करना चाहता है। सामाजिक संघर्ष सदैव ही सर्वाधिक तीक्ष्ण संघर्ष होते हैं; और अन्तर्राष्ट्रीय दलों द्वारा चलाए जाने वाले सामाजिक संघर्ष सर्वाधिक तीक्ष्ण सामाजिक संघर्ष होंगे। नार्मन ऐंजिल का यह विचार प्रतीत होता है कि सामाजिक संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय होने से न्याय्य हो जाता है। वस्तुतः यदि किसी सामाजिक संघर्ष की निंदा की जाय तो उसके अन्तर्राष्ट्रीय होने पर उसकी सर्वाधिक निंदा की जानी चाहिए।

यह वर्गों का संघर्ष ही है जिसे राज्य यदि रोकता नहीं, तो कम से कम सीमाओं के अन्दर तो रखता ही है। राज्य का महत्व इसी तथ्य में निहित है कि वह मनुष्य की रुचि और भक्ति के लिए एक ऐसा तत्व प्रस्तुत कर देता है जिसमें वर्गों और दलों के परस्पर-विरोधी दावों का समाधान हो सकता है।

राज्य की सरकार विभिन्न वर्गों के दावों का समायोजन करती है और इस प्रक्रिया में सामाजिक अधिकारों की सृष्टि करती है; कम से कम वह एक निष्पक्ष निर्णायक की भाँति घेरा बनाए रखती है और प्रतिद्वंदी दलों को खेल के नियमों का पालन करने के लिए प्रेरित करती है। परन्तु राज्य स्वयं सरकार से ऊपर है, और वह 'विशिष्ट प्रशासनिक दशाओं' से अधिक है। यह वह सामान्य वस्तु है जिसमें अत्यधिक भिन्न तत्व एक दूसरे के साथ इतनी मजबूती से जुड़े हुए हैं कि वे एक दूसरे के साथ आनन्दपूर्वक निर्वाह कर सकते हैं। 'देश-भक्ति के अंध-सिद्धान्त' की बात करना अथवा राष्ट्रवाद का उन्मूलन करने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। अंततः, राज्य एक जीवन की एकल धारणा है, जैसा कि नार्मन ऐंजिल स्वयं प्रसंगवश स्वीकार करता है। यह एक एकल धारणा है जो अन्य अनेक धारणाओं और अन्य अनेक प्रकार के समूहों को परस्पर मिश्रित कर सकती है और अपने अन्दर बनाए रख सकती है। राज्य की एक जीवन-विधि (way of life) के रूप में धारणा ही देशप्रेम की जननी है; यही राष्ट्रवाद की भी आधार है। कमजोर होने की तो बात ही क्या, यह आज अत्यधिक सशक्त है। इसका विशिष्ट गेह जर्मनी और ट्रीट्श्के की शिक्षा हैं। परन्तु ट्रिपॉली के अभियान के समय से इटली में भी इसका काफ़ी प्रचलन हुआ है; और साम्राज्यवाद के रूप में, एवं एक राष्ट्रीय प्ररूप का विस्तार करने के राष्ट्रीय 'कर्त्तव्य' की कल्पना के साथ संयुक्त रूप में, इंग्लैंड में भी यह पूर्णतः अज्ञात नहीं है। इसने समाजवाद के निकट-पूर्वकालीन विकास को महत्वपूर्ण रीति से प्रभावित किया है। समाजवादी, जो लंबे समय से अन्तर्राष्ट्रीयता की कल्पना के प्रति आकर्षित रहे हैं, आजकल, फ्रांस और जर्मनी में समान रूप से, राष्ट्रवाद के चढ़ते हुए सूर्य की ओर आकर्षित हो गए प्रतीत होते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का वह तथ्य जिस पर नार्मन ऐंजिल ने इतना बल दिया है, कई पक्षों में, चाहे वह उतने पूर्ण रूप में न हो जितनी उसने कल्पना की है, एक अत्यंत महत्वपूर्ण तथ्य है। राष्ट्रीय राजनीति का वह तथ्य जिसका उसने उन्मूलन करने का प्रयास किया है, समान रूप से, अथवा उससे भी अधिक, यथार्थ एवं महत्वपूर्ण तथ्य है। आर्थिक प्रगति राजनीतिक ढाँचे की

सीमाओं को लाँघ गई है। हम इनमें से एक तत्व को दबा कर दोनों में एकरूपता नहीं ला सकते। हम सबको अन्तर्राष्ट्रीयतावादी बनने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि हमारे लिए वही उच्चतम आदर्श है। परंतु संभवतः यथार्थ अन्तर्राष्ट्रीयता को नार्मन ऐंजिल की अन्तर्राष्ट्रीयता से दो पक्षों में भिन्न होना चाहिए। प्रथम् इसे राज्य के अस्तित्व को उसकी समस्त पूर्णता में स्वीकार करना चाहिए, तथा इसे राज्यों को बिना उनकी पूर्णता में कोई कमी किए अपनी विचारधारा में स्थान देना चाहिए। द्वितीय, इसे अपने को व्यक्ति के प्रति आर्थिक अपील पर आधारित नहीं करना चाहिए, और न इस तर्क पर कि यह लाभकर है, वरन् राष्ट्रीय अंतःकरण के प्रति नैतिक अपील पर तथा इस तर्क पर कि राज्यों के संबंधों की उसी प्रकार धारणा बनाना उचित है जैसी धारणा राष्ट्रों की सामान्य और सार्वजनिक विधि के क्षेत्र में है। जैसा कि हमने पिछले अध्यायों में देखा है, सभ्य राष्ट्रों में औचित्य के बारे में एक समान भाव है। इस भाव के निर्वचन तथा इसके एक मूर्त वैधानिक रूप में रूपांतरण में ही अन्तर्राष्ट्रीयता के जीवन की आशा निहित है। अन्तर्राष्ट्रीयता को एक ऐसे वैधानिक विकास का अनुसरण करना चाहिए, जो आर्थिक तथ्यों पर आधारित न हो (चाहे वह उनसे सहायता भले ही प्राप्त करे) परंतु उसे (जैसा कि प्रत्येक वैधानिक विकास होता है) समान अंतःकरण में निहित औचित्य के भाव पर आधारित होना चाहिए। प्रत्यर्पण संधियों (extradition treaties) का विस्तार; हेग न्यायालय का विस्तार और राज्यों के बीच उठने वाले विवादों का उस न्यायालय को सौंपा जाना; अन्तर्राष्ट्रीय संधियों का इस प्रकार विस्तार कि उनमें शस्त्रास्त्रों तथा सैनिकों के परिसीमन की भी व्यवस्था हो—ये वे मार्ग हैं जिनकी अन्तर्राष्ट्रीय विकास के द्वारा अपनाए जाने की आशा की जा सकती है। इस प्रकार के आधार पर आधारित ऐसे विकास की चर्चा सन् १९१३ में लार्ड हल्डेन ने 'अमेरिकन बार असासियेशन' के सम्मुख अपने भाषण में की थी। और ऐसे ही विकास पर, जिसका स्वरूप वैधानिक हो और जो अंतिम रूप में, जैसा कि लॉर्ड हल्डेन का कथन है, मित्रता के बंधन में बँधे राष्ट्रों के समूह की 'सिट्लिचकीट' अथवा एक समान नैतिकता के भाव पर आधारित हो, न कि किसी आर्थिक तत्व से प्रवाहित होने वाले विकास पर, हमें

अपनी आशाएँ लगानी चाहिए। राष्ट्रीय राजनीतिक संरचना का उन्मूलन नहीं, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक संरचना के स्वरूपों का विकास ही हमारी कामना और हमारे प्रयत्न का उद्देश्य होना चाहिए।

सारी आलोचना समाप्त कर देने पर, नार्मन ऐंजिल के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना शेष रह जाता है। वह अन्तर्राष्ट्रीयता के समर्थकों में से था—उस उद्देश्य के समर्थकों में जो आजकल मनुष्य द्वारा हाथ में लिए जा सकने वाले समस्त उद्देश्यों में महानतम है। यह उद्देश्य अर्थशास्त्र से पूरा नहीं होगा। परन्तु इसके किसी भी सहायक को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। और यद्यपि आर्थिक अपील ही अंतिम नहीं है, तो भी इसका अपना महत्व है। यह कहा गया है कि 'हत्या करने में सफल होने के लिए हमें भूख से अपना अस्तित्व मिटा देना होगा।' जिन लोगों पर इस बात का प्रभाव पड़े उनके सामने इस बात को कितनी ही बार कहा जाय, अधिक नहीं होगा।

परिशिष्ट

सन् १६१४ का राजदर्शन

सन् १६१४ में इंग्लैंड के राजदर्शन की अवस्था पर्याप्त रोचक है। चिन्तन के नवीन स्रोत विचारधारा की मुख्य धारा में नई सहायक धाराएँ सम्मिलित कर रहे हैं; उसके प्रवाह की दिशा को निदेशित अथवा परिवर्तित करने के लिए नवीन व्यावहारिक शक्तियाँ काम कर रही हैं।

चिन्तन के नवीन स्रोतों में हमें सामाजिक-मनोविज्ञान, नवीन अर्थशास्त्र तथा विधि-सम्बन्धी विचारधारा के नवीन पक्ष जिस पर मेटलैंड ने विशेष बल दिया है, पर विचार करना है। सामाजिक मनोविज्ञान की प्रवृत्ति प्रातिनिधिक शासन के यंत्र और पद्धति की आलोचना के रूप में सामने आने की है। इच्छित, अथवा अनिच्छित रूप में यह बुद्धिवाद-विरोध की, जो कि आधुनिक का एक मुख्य लक्षण है, एक धारा के सहायक का कार्य कर रही है। आधुनिक काल के अनेक विचारक उपयोगितावाद के "झूठे बुद्धिवाद", तथा आदर्शवाद के समान रूप से झूठे यद्यपि अत्यधिक भिन्न बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में, सहज-प्रवृत्ति, अथवा उप-चेतन चिन्तन को महत्त्व देने वाली विचार-धारा की ओर अप्रत्याशित सहायक मिल रहे हैं। अपने कुछ पक्षों में, नवीन अर्थशास्त्र भी अंतःकरण तथा बुद्धि-विरोधवाद को अधिक महत्त्व देता है। यदि सामाजिक मनोविज्ञान की प्रवृत्ति यथार्थ राज्य का आधार बुद्धिवादी आधारों से भिन्न मानने को है, तो श्रमिक-संघवाद (Syndicalism) की प्रवृत्ति यह आशा करने की ओर है कि अ-बुद्धिवादी शक्तियाँ राज्य को आदर्श रूप देने में समर्थ होंगी। यह भविष्यवाणी कितनी ही विलक्षण क्यों न प्रतीत हो, ये दोनों ही विचारधाराएँ समय आने पर रूढ़िवाद (Conservation) भावना को अपील करनेवाला और उग्रसुधारवाद (Radicalism) का विरोधी रूढ़िवाद समस्त बुद्धिवाद-विरोधी आंदोलनों का अवशिष्ट-उत्तराधिकारी (residuary legatee) है।

तथापि इस समय जो प्रवाह 'बुद्धिवाद' (intellectualism) का विरोध कर रहा है, राज्य का भी विरोधी है। राज्य को दोष देने की एक प्रवृत्ति आज हमारे सामने आती है। वे शक्तियाँ जो इस प्रवृत्ति को व्यापक बनाने में मिल कर कार्य कर रही हैं, अत्यधिक भिन्न हैं। इनमें मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों का परंपरागत मत है, जो राज्य के प्राधिकार के विरोध का प्रतिपादन करने वाले अधिकांश आंदोलनों की पृष्ठभूमि में रहता है। परंतु इनमें समूहों के अधिकारों का नवीन मत भी है, जो आज राज्य के प्रति विरोध को जन्म देने वाले कारणों में उससे भी अधिक सशक्त है। आर्थिक क्षेत्र में यह मत गिल्ड-समाजवाद (Guild Socialism) का रूप लेता है। विधि-संबंधी विचारधारा के क्षेत्र में यह स्थायी संवासों के यथार्थ व्यक्तित्व, उनकी सहज उत्पत्ति, तथा (इसके कुछ प्रतिपादकों के मतानुसार) उनके 'निहित अधिकारों' के सशक्त प्रतिपादन का रूप लेता है। इस रूप में इस मत को ट्रेड यूनियनों के अधिकारों के प्रतिपादकों ने तथा दूसरी ओर चर्चों और धार्मिक निकायों के अधिकारों के समर्थकों ने सामने रखा है। अपने दोनों रूपों में इसकी प्रवृत्ति राज्य की एक संघवादी विचारधारा को सामने रखने की रही है—चाहे राज्य को गिल्डों का संघ माना गया है अथवा 'समुदायों का एक समुदाय' जो कि न केवल आर्थिक समूहों को वरन् धर्म-संबंधी तथा राष्ट्रीय समूहों को भी अपने क्षेत्रान्तर्गत ले लेता है। परिणामतः दोनों रूपों में इसकी प्रवृत्ति समूह के अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित करने की ओर रही है। एक भिन्न रूप में, तथा एक भिन्न दृष्टिकोण से, नार्मन ऐंजिल की विचारधारा में, जहाँ तक वह राज्य से संबंधित है, एक प्रकार का बुद्धिवाद-विरोध तथा आर्थिक और सामाजिक समूहों की तुलना में राज्य का महत्व कम करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

हमें राज्य की और उससे भी अधिक विशेषकर संप्रभुता की एक ऐसी नवीन धारणा की आवश्यकता हो सकती है, और यह संभव है कि हम उसकी ओर बढ़ रहे हों, जो इन नवीन विचारों को अपने अन्तर्गत स्थान दे सके। हमें प्रत्येक राज्य को—न केवल संघात्मक राज्य को, वरन् उस राज्य को भी जो अपने को एकात्मक घोषित करता है—अपनी प्रकृति से ही संघात्मक मानना आवश्यक हो सकता है। हमें यह बात स्वीकार करनी पड़ सकती है कि संप्रभुता

एकल और अविभाज्य नहीं है, वरन् बहुल है और अनेक भागो से मिलकर बनती है। यदि हम ऐसा करते हैं, तो हमें दो बातों के विषय में ध्यान रखना आवश्यक है। प्रथम, हमें इस नवीन विचारधारा के बौद्धिक आधारों के बारे में स्पष्ट रहना आवश्यक है। हमें इस बात के बारे में पूर्णतः स्पष्ट ज्ञान रखना होगा कि समूहों का हम क्या अर्थ समझते हैं; और हमें इस अस्पष्ट अन्तर्प्रेरणा से संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए कि उनका 'वास्तविक व्यक्तित्व होता है अथवा उनके किसी प्रकार के कुछ निहित अधिकार होते हैं। संभवतः इस प्रकार की विचारधारा का उचित बौद्धिक समर्थन खोज निकालना संभव है; परंतु जब तक यह कर नहीं लिया जाता, यह विचारधारा राज्य के विरुद्ध उन सहज प्रतिक्रियाओं में घुल-मिल जाएगी जिन्होने इसे जनप्रिय बनाने में सहायता दी है, परंतु जिनसे इसका इसे एक स्थायी मनो-विश्वास बनाने के लिए, पृथक् किया जाना आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि सम-सामायिक होने की इच्छा स्वाभाविक है; जीवन के स्पष्ट और मान्य तथ्यों से इन्कार करने की सरल पद्धति के उपयोग से सम-सामयिक बनने का प्रयत्न करना भी समान रूप से स्वाभाविक है। दास-राज्य की निंदा करना अथवा दलीय प्रणाली पर आक्षेप करना ज्यादा कठिन नहीं है। संभवतः, एक ऐसे युग में जब परंपरागत वस्तुओं से घृणा तथा विलक्षण वस्तुओं की प्रशंसा की जाती हो, ऐसा करना सरल ही है। परंतु राज्य सदैव हमारे साथ है; और ऐसे राज्य में जैसे में कि हम रहते हैं, दल-प्रणाली, जो कि प्रातिनिधिक शासन पर आधारित है, समान रूप से अपरिहार्य है। जहाँ प्रतिनिधि हैं, वहाँ प्रतिनिधियों के संगठन का रहना आवश्यक है; और दल के अतिरिक्त अन्य कौन सा संगठन हो सकता है यह आज तक खोजा नहीं जा सका है। हमारे भाग्य में स्पार्टा जैसा राज्य आया है, और हमें उसे संवारना-सुधारना चाहिए। राज्य और उसकी संस्थाएँ हमारे साथ हैं, और हमें उनका सर्वोत्तम उपयोग करना चाहिए।

इन उपबंधों के साथ विचारधारा के क्षेत्र में संघवाद के नवीन प्रयोग किए जा सकते हैं। ऐसा इस कारण और भी अधिक आश्वस्त रूप में किया जा सकता है कि वर्तमान- काल में काम करने वाली व्यावहारिक शक्तियां स्वयं संघवादी प्रतीत होती हैं। इंग्लैंड में राज्य 'होम रूल' और 'वैल्श डिसैस्टेब्ल-

शमेंट बिल्स' के द्वारा राष्ट्रीय समूहों की मांगों की पूर्ति का प्रयत्न कर रहा है। समस्त योरोप एक ऐसे संघर्ष से उद्वेलित है जिसका कम से कम एक उद्देश्य मनुष्यों का इस प्रकार पुनर्समूहीकरण है जिससे राष्ट्रीय आदर्शों की पूर्ति हो सके और जो राष्ट्रीय आकांक्षाओं के अनुरूप हो। ट्रेड यूनियनों ने न्यायालयों में जो कुछ खोया था उससे अधिक पार्लमेंट से पुनः प्राप्त कर लिया है। शिक्षा के क्षेत्र में धार्मिक समूहों के दावों को अधिकाधिक स्वीकार किया जा रहा है; और आज 'लौकिक' राज्य की निरंकुशता की संभावना अधिकाधिक कम होती जा रही है। ये समय के लक्षण हैं; और एक ऐसा मार्ग है जिससे चिन्तन को इन लक्षणों के अनुरूप बनाया जा सकता है। हम यह आशा कर सकते हैं कि उचित समय आने पर विचारधारा तथ्यों के अधिक अनुरूप हो जाएगी। तब वह तथ्यों के द्वारा झूठी सिद्ध नहीं हो सकेगी; साथ ही वह वर्तमान तथ्यों से इन्कार भी नहीं करेगी। परंतु यदि यह पूर्णतः सत्य हुआ, और बिल्कुल स्पष्टतः सत्य हुआ तो राजदर्शन की अन्त्येष्टि हो जाएगी। मानवीय मामलों की अनिश्चितता में ही उसका विकास होता है; उनकी व्याख्या करने के अपने अनवरत प्रयत्नों की अपूर्णता ही उसे समृद्ध बनाती है।

पुस्तक-सूची

निम्न सूची सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों की सूची नहीं है। वस्तुतः इनमें से कुछ पुस्तकों के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे अच्छी पुस्तकें नहीं हैं। लेखक का उद्देश्य उन पुस्तकों को चुनना रहा हैं जिन्होंने अपने समय में राजदर्शन की प्रगति को प्रभावित किया है, अथवा जो आज उसकी प्रगति को स्पष्ट करने में सहायक हो सकती हैं।

अध्याय दो और तीन

T. H. Green: *Principles of Political Obligation*, and the lectures on *Liberal Legislation and Freedom of Contract* and on *The English Commonwealth* in his collected works, Vol. III. F. H. Bradley: *Ethical Studies* (especially the chapter entitled 'My Station and Its Duties'). B. Bosanquet : *Philosophical Theory of the State* (second edition). W. Wallage : *Lectures and Essays* (especially Part II, Essays i, vii, viii, ix). J. MacCunn : *Ethics of Citizenship* and *Six Radical Thinkers*. J. S. Mackenzie : *An Introduction to Social Philosophy*. J. H. Muirhead : *The Service of the State* (four lectures on the political teaching of T. H. Green). Sir Henry Jones : *The Working Faith of the Social Reformer*.

अध्याय चार

Herbert Spencer : *Social Statics* (the original edition of 1851, or the American reprints of that edition, should be used the edition of 1892 is 'edited and abridged'); *Essays* (on the *Social Organism, Specialized Administration*, etc.); *The Study of Sociology*; *The Principles of Sociology* (see also *Descriptive Sociology*, a great collection of sociological data started by Spencer); *The Man versus the State*; and *The Principles of Ethics*, Part IV (also printed separately under the title of *Justice*), in which Spencer treats again the subject-matter of *Social Statics*.

D. Duncan's *Life and Letters of H. Spencer* contains a valuable essay by Spencer on *The Filiation of Ideas*, in which he traces the growth of his own thought. F. W. Maitland: *Collected Papers*, I, pp. 247—303, discusses Spencer's theory of

society, which is also criticized in D. G. Ritchie's *Principles of State Interference.*

Somewhat analogous in their point of view to Spencer's anarchic individualism are the following: *A Plea for Liberty*. a volume of essays (including essays by Spencer, Donisthorpe, and Herbert) edited by T. Mackay; Auberon Herbert's *The Right and Wrong of Compulsion by the State;* and Words Worth Donisthorpe's *Individualism: a System of Politics*

अध्याय पाँच

1. The application of biology to politics may be seen in different ways in the following: T. H. Huxley: *Methods and Results and Ethics and Evolution.* B. Kidd: *Social Evolution* (which may be compared with H. T. Buckle's *History of Civilization*). W. K. Clifford: *Lectures and Essays*, II, pp. 106-76. Leslie Stephen: *Science of Ethics.* S. Alexander: *Moral Order and Progress.* L. T. Hobhouse: *Democracy and Reaction.* D. G. Ritchie: *Darwinism and Politics*, and *Principles of State Interference* (see also *Darwin and Hegel* and *Natural Rights*).

2. The application of psychology to politics appears in W. Bagehot: *Physics and Politics.* Graham Wallas: *Human Nature in Politics.* W. McDougall: *Social Psychology.*

3. For Sociology see F. H. Giddings: *The Principles of Sociology*. Sociology is almost an American subject, and there are numerous works upon it by other American writers, such as Lester F. Ward and E. A. Ross.

अध्याय छः

Sir Henry Maine: *Ancient Law, Early Law and Custom, Early History of Institutions,* and *Popular Government.* Sir James Stephen: *Liberty, Equality, Fraternity.* Sir R. K. Wilson: *The Province of the State.* Jethro Brown: *The Austinian Theory of Law* and *Underlying Principles of Modern Legislation.* A. V. Dicey: *The Law of the Constitution* (eighth edition, 1915), and *Law and Opinion in England* (second edition, 1914). [With the former of Dicey's works of W. Bagehot: *The English Constitution* (with which in turn of. S. Low: *The Governance of England*) These works are not written form a legal point of view, but just for that reason they serve to bring out the distinctiveness of that point of view.] Lord Bryce: *Studies in History and Jurisprudence.*

F. W. Maitland: *Political Theories of the Middle Age* (introduction) and *Collected Papers*, III, pp. 210-404. J. N. Figgis: *Churches in the Modern State* (of also his *Divine Right of Kings* (second edition) and *From Gerson to Grotius*). Lord Acton: *History of Freedom*.

On what may be called Comparative Politics see Sir J. Seeley: *Introduction to Political Science*. E. A. Freeman: *Comparative Politics* and *History of Federal Government*. H. Sidgwick: *Development of European Policy*.

अध्याय सात

T. Carlyle: *Past and Present, Chartism, Latter-Day Pamphlets, Shooting Niagara*. J. Ruskin: *A Joy for Ever, Unto This Last, Munera Pulveris, Time and Tide, Fors Clavigera* (see also Sir E. T. Cook: *Life of Ruskin*). M. Arnold: *Culture and Anarchy*. W.E.H. Lecky: *Democracy and Liberty*. F. Harrison: *Order and Progress* (of also R. Congreve: *Essays Political, Social and Religious*). Lord Morley: *Compromise, Notes on Politics, Miscellanies* (especially the lecture on Machiavelli), and the life of *Rousseau*.

अध्याय आठ

On the conflict between Individualism and Socialism see an essay by B. Bosanquet, in *The Civilization of Christendom*; W. S. MacKechnie: *The State and the Individual*; and F. C. Montague: *The Limits of Individual Liberty*. On the Individualist side may be mentioned—besides J. S. Mill, H. Sidgwick, and several of the writers mentioned above under Chapter IV—the following: W. S. Jevons: *The State in Relation to Labour*; H. Levy: *Economic Liberalism*; F.W. Hirst: *The Manchester School*.

On the Socialist side the literature is large. (1) On the history of Socialism and its theory, see M. Beer: *Geschichte des Sozialismus in England*, and R. C. K. Ensor: *Modern Socialism*. (2) Various aspects of socialist theory are presented in H. M. Hyndman: *Historical Basis of Socialism in England*. B. Shaw, S. Webb, and others: *Fabian Essays*. S. Webb: *History of Trade Unionism* and *Industrial Democracy*. H. G. Wells: *New Worlds for Old*. G. Wallas: *The Great Society*. J. R. Macdonald: *Socialism and Government*, and *Syndicalism*. P. Snowden: *Socialism and Syndicalism*. (3) The approxima-

tion of Liberalism to Collectivist ideas may be seen in the various writings of J. A. Hobson (e. g. *The Crisis of Modern Liberalism*), and in L. T. Hobhouse's *Labour Movement* and *Democracy and Reaction*. (4) The 'last novelties' may be found in H. Belloc: *The Servile State* and *The Party System*. A. Orage: *Guild Socialism*. G. D. H. Cole: *The World of Labour*. (5) Criticisms of socialist politics are to be found in the various writings of W. H. Mallock (a stern believer in authority, inequality and deference) such as *Social Equality*, *Aristocracy and Evolution*, and *The Critical Examination of Socialism*. Mention should also be made of G. Lowes Dickinson's *Justice and Liberty*.

The economic case for internationalism is presented in Norman Angell's *Great Illusion*. The case is presented from the ethical point of view in T. H. Green's *Principles of Political Obligation*, pp. 154-79, in L. T. Hobhouse's *Democracy and Reaction*, Chapter VIII, and in Lord Haldane's address entitled *Higher Nationality*.

On the general history of political thought in the nineteenth century, see J. T. Merz, *History of European Thought in the Nineteenth Century*, Vol. IV.

अनुक्रमणिका